सूर्यकुमारी पुस्तकमाला–१६

हिंदी रसगंगाधर

द्वितीय भाग

लेखक
पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी



संपादक
महादेव शास्त्री

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महतावराय नागरी मुद्रण, काशी
द्वितीय संस्करण, २५०० प्रतियाँ, सं० २०१३
मूल्य ७॥)

वक्तव्य

प्रथम भाग के प्रकाशन के समय यद्यपि यही विचार था कि द्वितीय भाग में शेष रसगंगाधर का संपूर्ण भाग प्रकाशित कर दिया जाय और इसी दृष्टि से टाइप भी छोटा लिया गया था, किन्तु उस दिन श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी तथा साहित्यमंत्री जी से बात हुई तो यही तय हुआ कि यह भाग बहुत बड़ा हुआ जा रहा है, अत; इसे दो भागो में विभक्त कर दिया जाय। सोलहपेजी-साइजवाला अत्यन्त मोटा पुस्तक बेडौल हो जाता है। तदनुसार अब यह भाग 'विनोक्ति' अलंकार पर्यन्त प्रकाशित किया जा रहा है।

रस गंगाधर में यद्यपि अलंकारों का वर्गीकरण स्पष्टरूप से सुनिर्दिष्ट नहीं है तथापि उनने यथासंभव अलंकारों का क्रम अलंकारसर्वस्व के अनुसार ही रखा है और जहाँ वर्गीकरण का निर्देश किया है वहाँ भी वही पद्धति स्वीकार की है। तदनुसार 'विनोक्ति' अलंकार पर सादृश्य-गर्भ अलंकारों की समाप्ति हो जाती है। शेष अलकार भिन्न वर्गों के हैं, अतः वर्गीकरण[1] की दृष्टि से भी यह विभाग उचित है।

प्रथम संस्करण के दोनों भागों में जो विस्तृत भूमिका दी गई थी, उसमें हम अलंकारों पर कुछ भी न लिख पाये थे। यद्यपि उस समय ही हमने अलंकारों पर भी लिखना आरम्भ कर दिया था और उस समय के लिखे कुछ पृष्ठ अब भी हमारे पास रखे हैं, किन्तु अलंकारों पर हम विस्तृत विजार करना चाहते थे, अतः उस समय वह भाग न देना ही

१—अर्थालंकारो पर विस्तृत विचार के लिए तृतीय भाग की भूमिका की प्रतीक्षा कीजिए।

उचित समझा गया और अब भी भूमिका संपूर्ण नहीं हो सकी है, अतः वह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले तृतीय भाग में ही दी जा सकेगी।

इस संस्करण का संपादन या संशोधन यद्यपि हम ही कर रहे हैं, अतः आशा यह थी कि यह संस्करण सर्वथा विशुद्ध निकले, किन्तु ग्रामान्तरनिवास के कारण (क्योंकि रामनगर वाराणसी से ७ मील है) हम अन्तिम प्रूफ ही देख पाते हैं। यदि करेक्शन करनेवाले ने उसमें से कुछ छोड़ दिया अथवा भ्रमवश अन्यथा कर दिया तो वह छपाई में ज्यों-का-त्यों रह जाता है। दूसरा कारण तो हम प्रथम भाग में ही बता चुके हैं कि नेत्रों में मोतियाबिंद हो जाने के कारण सूक्ष्माक्षरों के यथार्थ संशोधन में बाधा होती है। अतः शुद्धिपत्र में स्थूल रूप से आवश्यक अशुद्धियों का निर्देश कर दिये जाने पर भी जो अशुद्धियाँ रह गई हों उनके विषय में विद्वानों से—

'अहो महत्सु विधिना भारोऽयमारोपितः'

इन काव्यप्रदीपकार के शब्दों में निवेदन करते हुए परम कृपालु भगवान् श्रीकृष्ण से इस भाग के भी विद्वानों के अनुग्रहभाजन और विद्यार्थियों के उपकारक होने की प्रार्थना करते हैं। शेष सब तृतीय भाग में।

रामनगर (काशी)
विजया दशमी २०१३ विक्रम संवत्

विनीत
पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

दृष्टान्तालंकार

निदर्शनालंकार

व्यतिरेक अलंकार

रस-गंगाधर

द्वितीय भाग

उपक्रम

अब जिसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है और जो काव्य का आत्मा है उस व्यंग्य को रमणीय बनानेवाले अलंकारों का निरूपण किया जाता है।

उपमालंकार

उनमें से भी सबसे पहले उपमा का विचार किया जा रहा है; क्योंकि वह बहुत से अलंकारों के अंदर वर्तमान है—अर्थात् अधिकांश अलंकार ऐसे हैं कि जिनमें उपमा किसी-न-किसी रूप में प्रविष्ट रहती है।

लक्षण

वाक्यार्थ के सुशोभित करनेवाले सुंदर सादृश्य का नाम 'उपमालंकार' है।

लक्षण की व्याख्या

लक्षण में 'सुंदरता' का अर्थ है 'चमत्कार उत्पन्न करनेवाला होना' और 'चमत्कार' का अर्थ है वह विशेष प्रकार का आनंद, जिसे सहृदयों का हृदय प्रमाणित करता है। सो इस लक्षण का तात्पर्य यह हुआ कि "जिस सादृश्य से सहृदय का हृदय आनंदित हो उठे ऐसा सादृश्य यदि किसी वाक्यार्थ को सुशोभित करनेवाला हो तो उसे उपमालंकार कहा जाता है।"

लक्षण का विवेचन

"गगनं गगनाकारम्—अर्थात् आकाश आकाश के से आकार-वाला है" इत्यादिक अनन्वयालंकार में जो सादृश्य आता है उसका ग्रहण दूसरी सदृश वस्तु के हटाने मात्र के लिये—अर्थात् केवल इसलिये कि इस वस्तु के समान और कोई वस्तु नहीं है, होता है; अतः उस सादृश्य की स्वयं कोई स्थिति न होने से वह चमत्कारी नहीं होता। अतएव—अर्थात् अन्य सादृश पदार्थ की निवृत्ति के लिये ही सादृश्य का ग्रहण होने के कारण, सादृश्य का अन्वय न होने से—अर्थात् उस पदार्थ से उसी पदार्थ की तुलना न बन सकने से, उस अलंकार को अनन्वय कहा जाता है। अतः अनन्वयालंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्—अर्थात् कमल तुम्हारे मुख की तुलना को कैसे धारण करे?" इत्यादि व्यतिरेकालंकार में (सादृश्य का) निषेध चमत्कारी होता है; अतः उस निषेध के प्रति-योगी (अर्थात् जिसका निषेध किया जा रहा है उस) सादृश्य का निरूपण चमत्कार-रहित ही होता है। सा व्यतिरेकालंकार में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी तरह जिनमें अभेद प्रधान है उन रूपक, अपह्नुति, परिमाण, भ्रांतिमान् और उल्लेख आदि अलंकारों में, और जिनमें भेद प्रधान है उन दृष्टांत, प्रतिवस्तूपमा, दीपक और तुल्ययोगिता आदि चम-त्कारी अलंकारों में, यद्यपि अभेद, अपह्नव आदि को सिद्ध करने के लिये सादृश्य रहता है, तथापि सादृश्य के चमत्कारी न होने के कारण उन्हें उपमालंकार नहीं कहा जा सकता।

रहे "मुख के समान चंद्रमा है" यह प्रतीपालंकार और "चंद्रमा के समान मुख है और मुख के समान चंद्रमा है" यह उपमेयोपमालंकार; सो उनमें साद्दश्य के चमत्कारी होने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति की शंका न करिए; क्योंकि उन दोनों का हमें इसी अलंकार में संग्रह करना है—अर्थात् हम मानते हैं कि वे दोनों अलंकार उपमा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, किंतु उपमा के ही भेद हैं। अतः यह लक्षण निर्दोष है।

जहाँ उपमान कल्पित हो वहाँ कौन अलंकार होता है ?

आप कहेंगे—"त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः—अर्थात् तुम्हारे अंदर कोप मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे चंद्रमा में आग" इत्यादिक में जो उपमान है 'चंद्रमा में आग' आदि, उसकी बिलकुल संभावना नहीं—वह वस्तु अत्यन्त असंभव है। ऐसी दशा में उस वस्तु के साथ साद्दश्य ही नहीं स्वीकार किया जा सकता; क्योंकि जब कोई वस्तु हो तब तो उससे साद्दश्य हो सके—जब वैसी कोई वस्तु ही नहीं है तो उसके साथ साद्दश्य कैसा ? और जब साद्दश्य ही नहीं तो चमत्कार होगा किससे ? अतः ऐसी जगह पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार उपमा मानी जाय या नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि—कवि को खंडशः पदार्थों की उपस्थिति होती है—अर्थात् उसे 'चंद्रमा में आग' इस संमिलित पदार्थ की उपस्थिति नहीं होती, किंतु 'चंद्रमा' की और 'आग' की अलग-अलग उपस्थिति होती है। इस तरह पदार्थों के खंडशः उपस्थित होने के अनंतर, कवि अपने इच्छानुसार असंभावितत्व आकार से—न कि सच्चे रूप से, चंद्रमा के अंदर आग की कल्पना करेगा और जब ऐसे पदार्थ की कल्पना हो चुकेगी तब उसके साथ साद्दश्य की भी कल्पना में कोई बाधक नहीं।

आप कहेंगे—कल्पित सादृश्य तो असत् (मिथ्या) हुआ, फिर वह चमत्कारोत्पादक कैसे होगा—झूठी बात को सुनकर क्या आनंद मिलेगा ? तो इसका उत्तर यह है कि—आनंद कुछ सच्ची वस्तुओं से ही मिलता हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि यदि हम, जिसके अंग अत्यंत कोमल सोने से बने हों और जिसने मणिमय दाँतों की कांति से अंधकार को हटा दिया हो ऐसी कामिनी को, भावना द्वारा, अपने सामने खड़ी कर लें और उसका आलिंगन करें तो उस आलिंगन से आह्लाद का उत्पन्न होना देखा जाता है। रही लक्षण की बात; सो उसमें उपमान उपमेय के सत्य होने का निवेश है नहीं, अतः उपमान के कल्पित होने पर उपमा मानने में दोष का लेश भी नहीं है। अतएव

"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः ॥

अर्थात् स्तनों की परिपूर्णता पर—भरे-पूरे स्तनों पर कपोल से गिरता हुआ कुटिल केश, चंद्र-मंडल से सुमेरु पर्वत पर लटकटते हुए साँप-सा प्रतीत होता है।" इत्यादिक में भी उपमालंकार मानने में कोई गड़बड़ नहीं।

अन्य विद्वानों का कहना है कि—"इस कल्पितोपमा का फल है 'अन्य किसी उपमान का न होना'—अर्थात् कवि ऐसी उपमा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि जगत् में ऐसा कोई पदार्थ विद्यमान नहीं कि जिसके साथ प्रकृत उपमेय की तुलना की जा सके; अतः इसे (उपमा न मानकर) अन्य कोई अलंकार मानना चाहिए।" सो ठीक नहीं। कारण यह है कि—ऐसे स्थलों में सादृश्य के चमत्कारी होने के कारण इसका उपमा में अंतर्भाव ही उचित है ; क्योंकि उपमा के लक्षण में सादृश्य का "सत् पदार्थ से निरूपित होना" नहीं लिखा

गया है—अर्थात् उपमान सत्य ही होना चाहिए यह नियम नहीं है। रहा यह कि "उपमान की कल्पना का फल अन्य किसी उपमान का न होना है"; सो यह बात तो इसे एक विशेष प्रकार की उपमा सिद्ध करती है; इससे इसका उपमा से बाहर होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'अन्य उपमान का न होना' इसका फल होने पर भी चमत्कार तो सादृश्य का ही है, वह कवि द्वारा कल्पित है तो क्या हो गया? अतः ऐसी जगह उपमा मानना ही उचित है।

बिंबप्रतिबिंबभाव वाली उपमा

अच्छा, अब यह विचार करिए कि—

"विलसत्याननं तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम्।
आलक्षितबुधाश्लेषं राकेन्दोरिव मण्डलम्॥

अर्थात् जिसकी नासिका के अग्रभाग में मोती स्थित है वह उस (कामिनी) का मुख, जिसमें बुध-तारा का संयोग दिखाई देता हो ऐसे पूर्णिमा के चंद्र-मंडल सा सुशोभित हो रहा है।"

इत्यादिक में समान धर्म के न होने के कारण उपमा किस तरह बन सकती है? क्योंकि साधारण धर्म की उपस्थिति बिना उपमा हो नहीं सकती। इसके उत्तर में यदि आप 'बुध' और 'मोती' को समानधर्म-रूप मानें तब भी बात बनती नहीं, क्योंकि बुध और मोती एक ही एक में रहनेवाले हैं—अर्थात् बुध चंद्रमंडल में रहता है तो मुख में नहीं और मोती मुख में रहता है तो चंद्रमंडल में नहीं और जो वस्तु उपमान और उपमेय दोनों में न रहे वह समानधर्म हो नहीं सकती।

आप कहेंगे—समानधर्म के विषय में यहाँ दो उत्तर हो सकते हैं—

१—"जिसकी नासिका के अग्रभाग में मोती स्थित है वह उसका मुख, जिसमें बुध का आलिंगन दिखाई दे रहा हो ऐसे पूर्णिमा के चंद्र-मंडल-सा सुशोभित हो रहा है" इसका यदि यह तात्पर्य हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मुख, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्णिमा के चंद्रमंडल द्वारा निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली शोभा का आश्रय है'; तब तो एक प्रकार की शोभा ही समानधर्म हो जाती है। और—

२—यदि यह तात्पर्य हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त चंद्रमंडल के समान पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मुख सुशोभित (शोभा का आश्रय) हो रहा है' और इस तरह पद्य में वैसे चंद्रमंडल द्वारा निरूपित सादृश्य से व्याप्त मुख को उद्देश्य मानकर 'शोभा के आश्रय होने' को विधेयरूप से कहना अभीष्ट हो, तो यह लुप्तोपमा होगी; अतः जैसे 'कमल के समान मुख' इत्यादि में 'आह्लादकता' आदि समान धर्म की तर्कना कर ली जाती है वैसे किसी समानधर्म की तर्कना कर लेनी चाहिए। अतः कोई बाधा नहीं।

सारांश यह कि यदि पूर्वोक्त पद्य में 'शोभा' को सादृश्य का प्रयोजक माना जाय तब तो 'शोभा' स्वयं ही समानधर्मरूप हो जाती है और यदि वैसा न मानकर शोभा को केवल विधेय माना जाय तो यहाँ लुप्तोपमा होने के कारण चद्रमंडल और मुख के किसी अन्य समानधर्म (सुंदरता आदि) की कल्पना कर ली जानी चाहिए।

पर आपके ये दोनों ही उत्तर उचित नहीं। कारण, पहले उत्तर में जो आपने शोभा को समानधर्म बताया है सो यह बात है नहीं, क्योंकि वस्तुतः उपमेय और उपमान की शोभा भी असाधारण होती है। अर्थात् सोचकर देखने पर उपमान और उपमेय की शोभा भी भिन्न-भिन्न होती है, अतः उसे साधारण धर्म कहना कहाँ तक ठीक है?

और दूसरे उत्तर के द्वारा यद्यपि (चंद्र, मुख आदि) प्रसिद्ध उदाहरणों में काम चल सकता है, तथापि—

"कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।
काषायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यतिः ॥

अर्थात् जिसमें कोमल धूप हो और लाल बादल हों उस सन्ध्याकाल का सगा भाई, केसर के लेप और कषायवर्ण के (भगवाँ) वस्त्रवाला संन्यासी जा रहा है।"

इत्यादिक उदाहरणों में अन्य किसी (प्रसिद्ध) समानधर्म की प्रतीति न होने के कारण—अर्थात् 'मुखचंद्र' आदि में 'आह्लादकता' आदि समान धर्मों के प्रसिद्ध होने पर भी यति और संध्याकाल आदि में किसी प्रकार के समानधर्म के प्रसिद्ध न होने के कारण—और यदि कोई समानधर्म सूझ भी पड़े तो उसके चमत्कारी न होने के कारण, तथा जो 'कोमल धूप' आदि धर्म बच रहते हैं, उनके असाधारण—अर्थात् उपमान या उपमेय में से केवल एक में रहनेवाले—होने के कारण ऐसे स्थलों में उपमा कैसे मानी जा सकती है? सो यह प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है। आपके दोनों उत्तरों से कुछ काम नहीं चलता।

ऐसी दशा में इस प्रश्न का (सिद्धांतरूप से) यह उत्तर है कि—ऐसे स्थलों में उपमान और उपमेय में रहनेवाले धर्मों के असाधारण होने पर भी उन धर्मों में जो परस्पर सादृश्य रहता है उसके कारण उन धर्मों में अभेद मानकर उनकी साधारणता की कल्पना की जाती है। अर्थात् 'बुध' और 'मोती' तथा 'कोमल धूप' और 'केसर के लेप' आदि के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें जो (क्रमशः) श्वेत और अरुण कांति द्वारा समानता रहती है, उसके द्वारा उन्हें अभिन्न मानकर

'बुध से अभिन्न मोती' और 'भगवाँ वस्त्र से अभिन्न केसर के लेप' आदि को साधारण धर्म मान लिया जाता है। सो असाधारण धर्मों के भी साधारण हो जाने से उपमा बन जाती है।

आप कहेंगे वाह! आप भी खूब मिले! सोचिए तो सही। यह जो आपका कल्पित अभेदज्ञान है वह तो भ्रमरूप है—बिलकुल झूठा है; फिर उसके द्वारा ('बुध' और 'मोती' तथा 'केसर के लेप और कोमल धूप' आदि) वास्तव में भिन्न धर्मों का, उन्हें साधारण बनाने के लिये किया जानेवाला सर्वथा अविद्यमान अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि भ्रम द्वारा किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। तो इसका उत्तर यह है कि—पूर्वोक्त "त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः" इत्यादि उदाहरणों में जैसे उपमान और उपमेय* के सर्वथा मिथ्या होने पर भी केवल कल्पना के बल पर उपमा की सिद्धि हो जाती है, उसी तरह प्रस्तुत उदाहरणों में साधारण धर्मो की भी सिद्धि की जा सकती है—इस बात को हम स्पष्टतया सिद्ध कर सकते हैं। बस, कोई झगड़ा नहीं.

इसी—अर्थात् उपमान और उपमेय के धर्मों के वस्तुतः भिन्न होने पर भी उनकी पारस्परिक समानता के कारण उनके अभिन्न मानने ही—को प्राचीन विद्वान् 'बिंबप्रतिबिंबभाव' कहते हैं।

इसी तरह—

---

*यद्यपि यहाँ उपमेय—अर्थात् 'नायिका के अंदर कोप' 'चंद्रमा के अंदर आग' की तरह वस्तुतः मिथ्या नहीं है, तथापि उसका 'उपमेय होना' मिथ्या है। कारण, जब उपमान और सादृश्य दोनों मिथ्या हैं तब उस वस्तु को उपमेय कहना कल्पित है।

"भुजो भगवतो भाति चञ्चश्चाणूरचूर्णने।
जगन्मण्डलसंहारे वेगवानिव धूर्जटिः॥

अर्थात् चाणूर के चूर्ण करने में चंचलतायुक्त भगवान्—श्रीकृष्ण—की भुजा, भुवनकोश के संहार करने में वेगयुक्त शिवजी के सदृश, प्रतीत होती है।"

यहाँ 'शिवजी' और 'भगवान् की भुजा' में आकार की समानता तो है नहीं और यदि 'प्रतीत होने (क्रिया)' को समान धर्म माना जाय तो वह बिना किसी विशेषण के सादृश्य का प्रयोजक होता नहीं—अर्थात् निरी प्रतीति मात्र से सादृश्य सिद्ध हो नहीं सकता। सो 'चाणूर का चूर्ण करना' जिसका निमित्त है उस 'चाचल्ययुक्तता' रूपी और 'भुवनकोश का संहार जिसका निमित्त है उस 'वेगयुक्तता' रूपी—'प्रतीत होने' (क्रिया) के विशेषणों*—का अभेद मान लेने से यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ 'अभिन्न धर्म जिसके विशेषण हैं उस 'प्रतीत होने (रूपी क्रिया)' का विशेष्य होना † (जो कि शिव और भुजा दोनों में रहता है)' साधारण धर्म हुआ; और तब उपमा सिद्ध हो गई।

अतः यह सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त अभिन्न धर्मों में से 'चाणूर' और 'भुवनकोश' के वास्तव में भिन्न होने पर भी 'महाकाय होने' आदि (अपने धर्मों) के कारण समानता होती है, अतः इस अंश में तो

---

* इतना याद रखिए कि—वाक्यभर में वैयाकरणों के हिसाब से क्रिया और नैयायिकों के हिसाब से कर्ता विशेष्य होते हैं, अन्य सब पदों के अर्थ उनके विशेषण माने जाते हैं; क्योंकि वे सब अप्रधान होते हैं।

† यह कथन नैयायाकों के हिसाब से है।

(पूर्वोक्तरीत्या) यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव है और 'चूर्णन' और 'संहार' तथा 'चांचल्ययुक्तता' और 'वेगयुक्तता' ये यद्यपि आश्रय का भेद होने से भिन्न हैं—अर्थात् जुदी-जुदी चीजों में रहने से जुदी-जुदी प्रतीत होती हैं, तथापि वास्तव में एकरूप ही हैं; अतः इनका वस्तुप्रतिवस्तुभाव है।

बिंबप्रतिबिंबभाव और वस्तुप्रतिवस्तुभाव का भेद

(इस कथन से यह सारांश निकला कि—जिन पदार्थों के वास्तव में भिन्न होने पर भी, उनमें रहनेवाले धर्मों के अभिन्न होने के कारण, जहाँ उन्हें अभिन्न मान लिया जाता है वहाँ 'बिंबप्रतिबिंबभाव' होता है; और जो पदार्थ वस्तुतः भिन्न न हों, पर भिन्न भिन्न आधारों में रहने के कारण और भिन्न भिन्न शब्दों से प्रतिपादित होने के कारण भिन्न-से प्रतीत होते हों, उनका जहाँ अभेद माना जाय वहाँ 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' होता है।)

इस तरह उपमा के लक्षण का निरूपण समाप्त हुआ।

उदाहरण

अब इसका उदाहरण सुनिए—

गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभावमावहन्त्याः ।
दरदलदरविन्दसुन्दरं हा ! हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि ॥

नायक अपने मित्र से कहता है—आह ! इधर बड़े-बूढ़ों का भय और उधर मेरा अवलोकन, इन दोनों के मध्य में उदय हो रही घबराहट को धारण करती मृगनयनी का किंचित् विकसित होते कमल के समान सुंदर नेत्र मुझे विस्मृत नहीं होता—आज भी वह ज्यों का त्यों मेरे सामने खड़ा है।

यहाँ उपमानवाचक 'दरदलदरविंद (किंचित विकसित होता कमल)' शब्द का साधारणधर्म के वाचक 'सुंदर' शब्द के साथ समास होने पर प्रतीत होनेवाली उपमा, (स्मृति को सुशोभित करती हुई) समग्र वाक्य (पूरे श्लोक) के अर्थरूप विप्रलंभ शृंगार को सुशोभित कर रही है। अतः अलंकाररूप है।

आप कहेंगे—यहाँ 'स्मृति-भाव' का प्रधानतया ध्वनित होना न मानकर विप्रलंभशृंगार की प्रधानता क्यों बताई जाती है? तो यह प्रश्न उचित नहीं। कारण, 'न विस्मरामि (मुझे विस्मृत नहीं होता)' इस पद से स्मृति के अभाव का निषेध किया जाने के कारण 'स्मृति' स्पष्ट रूप से सूचित हो रही है और स्पष्ट प्रतिपादित अर्थ को व्यंग्य कहा नहीं जा सकता। सारांश यह कि ऐसी दशा में इस स्मृति को व्यंग्य (भाव) भी नहीं कहा जा सकता, फिर प्रधान अप्रधान की तो बात ही क्या है?

इसी तरह पूर्वार्ध में आए और एक दूसरे को दबाने की इच्छा-वाले 'त्रास' और 'औत्सुक्य' भावों की संधि भी प्रधान नहीं हो सकती; क्योंकि प्रथम तो वह नायिका में रहनेके कारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं; और दूसरे, उत्तरार्ध में वर्णित स्मृति का अंग है।

सो यह सिद्ध हुआ कि—'भावसंधि' और 'उपमालंकार' से सुशोभित की हुई स्मृति और 'हा (आह!)' पद से अभिव्यक्त संतापरूपी अनुभाव, दोनों विप्रलंभ शृंगार को ही सुशोभित करते हैं। अतः यहाँ विप्रलंभ शृंगार की ही प्रधानता है।

प्राचीन लक्षणों की आलोचना

अप्पय दीक्षित ने तो "चित्रमीमांसा' में उपमा के—

१—"उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्साद्दश्यवर्णनमदुष्टमव्यङ्ग्यमुपमालंकारः—अर्थात् जो दोषयुक्त और व्यंग्य न हो तथा उपमितिक्रिया की सिद्धि से युक्त हो—अर्थात् जिससे उपमितिक्रिया (तुलना) सिद्ध होती हो—ऐसे साद्दश्य के वर्णन को 'उपमालंकर' कहते हैं।" और

२—"स्वनिषेधापर्यवसायिणं साद्दश्यवर्णनं वा तथाभूतं तथा—अर्थात् अपने (उपमा के) निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो—अर्थात् जिससे अंततोगत्वा उपमा का निषेध सिद्ध न होता हो—ऐसा साद्दश्य का वर्णन वैसा हो (दोषयुक्त तथा व्यंग्य न हो) तो वैसा (उपमालंकार) कहलाता है।"

इस तरह दो लक्षण बनाए हैं। पर ये दोनों ही विचारणीय हैं। देखिए, इन दोनों ही लक्षणों में 'साद्दश्य के वर्णन' को उपमालंकार कहा गया है। अब सोचिए कि—वर्णन दो प्रकार से हो सकता है; बाहर विशेष प्रकार के शब्दों के रूप में और अंतरात्मा में विशेष प्रकार के ज्ञान के रूप में। ऐसी दशा में, शब्दों के शब्दवाच्य न होने के कारण, और यदि शब्दों को शब्दवाच्य मान भी लो तो, ज्ञान के तो सर्वथा शब्दवाच्य न होने के कारण, वर्णन की अर्थालंकारता बाधित हो जाती है। सारांश यह कि जो वस्तु शब्दों द्वारा वाच्य होती है उसे अर्थ कहा जाता है और वही वस्तु जब किसी दूसरी वस्तु को सुशोभित करे तो उसे अर्थालंकार कहा जाता है। ऐसी दशा में जो वस्तु शब्दवाच्य नहीं उसे (अर्थात् वर्णन को) अर्थालंकार कहना अत्यंत असंगत है। दूसरे, शब्दरूप अथवा ज्ञानरूप वर्णन सर्वथा ही अव्यंग्य है—वह किसी प्रकार भी व्यंग्य नहीं हो सकता, अतः उसका 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण भी व्यर्थ है।

अब यदि कहो कि—हम वर्णन को उपमालंकार नहीं कहते; किंतु वर्णन के विषय—अर्थात् वर्णन में आनेवाले—पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त

सादृश्य को उपमा कहते हैं। तो आपके लक्षण के अनुसार 'जैसा बैल होता है वैसा ही गवय* (रोझ) होता है' इस वाक्य में उपमालंकार हो जायगा। इसी तरह† "कालोपसर्जने च तुल्यम् (पाणिनिसूत्र

---

* नील गाय (हिन्दी)

† यह पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का ५७ वाँ सूत्र है। इससे पूर्व ५३ वाँ सूत्र है 'तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात्' वहाँ से 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति आती है और इससे पूर्व ५६ वाँ सूत्र है 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' तदनुसार ५६ वें सूत्र का अर्थ होता है कि—'प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में से प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है यह अनुशासन न करने योग्य है, क्योंकि यह बात लोक से सिद्ध है—लोग इस बात को बिना बताए भी जानते हैं' और इस (५७ वें) सूत्र का अर्थ होता है कि 'काल और उपसर्जन के विषय में भी अनुशासन करने योग्य न होना समान है'।

कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है' इस बात का अनुशासन करना लोकप्रसिद्ध होने से अनावश्यक है वही बात काल—जैसे 'आज' का अर्थ है गत रात्रि के पश्चिम अर्ध (1 A. M.) से लेकर आगामिनी रात्रि के पूर्वार्ध (12 P. M.) सहित दिन' इस विषय में और 'विशेषण उपसर्जन (अप्रधान) होता है' इस विषय में भी है—अर्थात् इसे भी सब लोग जानते हैं, अतः यह शास्त्र में लिखने की बात नहीं है।

सो यहाँ यह कहा जा रहा है कि यहाँ 'शास्त्र में न लिखने योग्य होना' समान धर्म है और 'प्रधानप्रत्ययार्थवचन' उपमान तथा 'काल और उपसर्जन' उपमेय है, अतः यहाँ भी उपमा होने लगेगी।

१।२।५७)"* इत्यादिक में भी उपमालंकार होने लगेगा, क्योंकि यहाँ भी 'अनुशासन न करने योग्य होने' आदि समानधर्म द्वारा काल और उपसर्जन का 'प्रधानप्रत्ययार्थवचन' रूपी उपमान के साथ सादृश्य का प्रतिपादन है। आप कहेंगे—यहाँ 'कालोपसर्जने' यह द्विवचन है और 'तुल्यम्' यह एकवचन है। यद्यपि व्याकरण से समाधान हो जाने के कारण इस प्रयोग को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता, तथापि साहित्य-शास्त्र के अनुसार यहाँ वचनभेद दोष है। सो लक्षण में आए हुए 'दुष्ट न हो' इस विशेषण से यहाँ उपमालंकार होने का निवारण हो जायगा। तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इस वाक्य को तोड़कर जब हम 'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः' 'उपसर्जनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इस तरह एक एक उपमेयवाले दो वाक्य बना लेंगे तब उन वाक्यों के निर्दोष हो जाने के कारण फिर भी अतिव्याप्ति रहेगी ही।

आप कहेंगे—ऐसे स्थलों पर उपमितिक्रिया के सिद्ध हो जाने पर भी 'सादृश्य का वर्णन' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यहाँ जो बात कही गई है वह चमत्कारी नहीं है, और 'वर्णन' पद का अर्थ है "जिसका विषय (वर्णनीय वस्तु) चमत्कारी हो वह कवि की क्रिया"। सो सादृश्य के रहते हुए भी उपर्युक्त उदाहरणों के से स्थलों में सादृश्य का वर्णन नहीं कहा जा सकता। अतः लक्षण में कोई दोष नहीं। तो हम कहेंगे कि—यदि आप ऐसा मानते हैं तो आपको लक्षण में 'चमत्कारित्व' अवश्य प्रविष्ट करना पड़ेगा—बिना उसके काम नहीं चल सकता। और ऐसी दशा में आपने उपमा के पहले लक्षण में 'सादृश्य वर्णन' के साथ जो 'उपमितिक्रिया की सिद्धि से युक्त हो' यह विशेषण दिया है सो व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि बिना सिद्ध हुए, ऊपर

* 'कालोपसर्जने च प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्ये, अशिष्यत्वात्' इति संक्षिप्तः सूत्रार्थः।

ही ऊपर से प्रतीत होने वाला, सादृश्य चमत्कार को उत्पन्न ही नहीं कर सकता, और जब उसे चमत्कारोत्पादक कह दिया तब पूर्वोक्त विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

इसी तरह दूसरे लक्षण में 'अपने निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो' यह 'सादृश्य के वर्णन' का विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि 'व्यतिरेक' में 'कमल आदि के सादृश्य' के निषेध के, और 'अनन्वय' में 'सादृश्य के सर्वथा निषेध' के ही चमत्कारी होने के कारण वहाँ सादृश्य का निरूपण निषेध के लिये ही होता है—उसकी अपनी न प्रधानता होती है, न चमत्कारिता; यह हम पहले ही कह चुके हैं। अतः उसके हटाने के लिये पूर्वोक्त विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी बात सुनिए। आपके इस लक्षण की—

❀"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥

इत्यादिक में जो उपमा है, वह प्रधान वाक्यार्थरूप होने के कारण किसी अन्य अर्थ को सुशोभित करनेवाली नहीं होती; सो उस अलंकार-रूप न होनेवाली उपमा में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि यहाँ भी 'दुष्टता और व्यंग्यता से रहित उपमितिक्रिया की सिद्धि से युक्त सादृश्य का वर्णन' है, और आप यह तो कह नहीं सकते कि—हमें, इस उपमा का भी लक्षण बनाना है; क्योंकि ऐसा कहने पर आपने जो व्यंग्य उपमा के निवारण के लिये परिश्रम किया है वह व्यर्थ हो जायगा। आप कहेंगे—यहाँ उपमा है कहाँ? यहाँ तो उत्प्रेक्षा है, जिसमें सादृश्य नहीं किंतु अभेद प्रधान होता है। पर यह कहना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा

❀ इसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है (देखिए पृ० ४)

मानने से कल्पितोपमा के लिये कोई स्थान न रहेगा—वह बिलकुल उड़ जायगी (जिसे कि 'चित्र-मीमांसा' में आपने भी स्वीकार किया है)।

और अलंकाररूप न होनेवाली उपमा का भी आपने लक्षण बनाया है—यह बात तो बन नहीं सकती; क्योंकि आपके बनाए हुए—

"व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा॥

अर्थात् जब उपमाननामक क्रिया (तुलना) का क्रिया की सिद्धि पर्यंत कहना अभीष्ट हो तो वह उपमालंकार होता है" इस सूत्र में अलंकाररूप उपमा के लक्षण बनाने का कथन है। यहीं नहीं, किंतु वहीं आपने फिर (अर्थात् उपमा के पूर्वोक्त दोनों लक्षणों के बाद) यह कहा है कि—*इन दोनों लक्षणो को यदि अलकाररूप उपमा के लक्षण बनाने हों तो उनमें 'दुष्टता और व्यंग्यता से रहित' यह विशेषण और दे देना चाहिए।" सो "स्तनाभोगे पतन् भाति···" आदि पूर्वोक्त पद्य में आपके हिसाब से, 'उपमालकार' का लक्षण गए (अतिव्याप्त हुए) बिना नहीं रह सकता और वह उपमा अलंकाररूप है नहीं। कारण, यहाँ उपमान और उपमेय के सादृश्य रूपी उपमा के स्वरूप से अतिरिक्त अन्य कोई वाक्यार्थ नहीं है कि जिसे उपमा अलंकृत करे। सो आपके उपमालंकार के लक्षण की अलंकार न होनेवाली केवल (अलंकार्य) उपमा में अतिव्याप्ति हुए बिना नहीं रहती।

एक बात और लीजिए। पूर्वोक्त दोनों लक्षणों में वर्णन के साथ जो 'सादृश्य का' यह विशेषण लगाया गया है सो भी निरर्थक है। कारण, "उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त वर्णन को उपमा कहा जाता

---

* एतत् (मूले) = लक्षणद्वयम्।

है" इतना कहने से ही आपका अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है; क्योंकि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी वर्णन से 'उपमिति क्रिया की सिद्धि' होगी कैसे? सो यह सिद्ध हुआ कि आपके (अप्पयदीक्षित) के लक्षण यथेष्ट विचारपूर्वक नहीं लिखे गए।

इसी तरह **विद्यानाथ** का ('प्रतापरुद्रीय' में लिखा हुआ) यह लक्षण कि—

"स्वतः सिद्धेन भिन्नेन समंतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥

अर्थात् स्वतः सिद्ध एवं उपमेय से भिन्न और कवि-समय-प्रसिद्ध—अर्थात् जिसमें लिंग-भेद वचन-भेद आदि दोष न हों ऐसी अप्रस्तुत वस्तु से, वर्णनीय वस्तु का, समान धर्म के कारण एक बार सादृश्य, यदि वाच्य हो तो उसे उपमा कहा जाता है।"

हटा दिया गया। कारण, इसकी, व्यतिरेकालंकार के, (अंततः) निषेध किए जानेवाले, सादृश्य में अतिव्याप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार—

"उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः॥

अर्थात् उपमानता और उपमेयता के योग्य दो पदार्थों के सुंदर साधर्म्य (समान धर्मवाले होने) को काव्यज्ञ लोग उपमा कहते हैं।"

इस **प्राचीनों के** लक्षण का भी प्रत्याख्यान हो जाता है। कारण, साधर्म्य के साथ केवल **'हृद्य (सुंदर)'** विशेषण देने से ही काम चल सकने के कारण अन्य विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं।

इसी तरह **काव्यप्रकाश** में लिखा हुआ—

साधर्म्यमुपमा भेदे—अर्थात् भेद होने पर समानधर्मता को उपमा कहते हैं।"

यह लक्षण भी विशेष सुंदर नहीं, क्योंकि इसकी भी व्यतिरेकालंकार के निषेध किए जानेवाले, सादृश्य मे अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि आप कहें कि— हम 'साधर्म्य' के साथ 'पर्यवसित' विशेषण और लगा देंगे, जिससे उसका अर्थ यह हो जायगा कि 'जिस साधर्म्य का साधर्म्य में ही पर्यवसान (समाप्ति) हो जाय, निषेध आदि में नहीं, उस साधर्म्य को उपमा कहते हैं', तो यह भी ठीक नही। कारण; अनन्वयालंकार में जो सादृश्य होता है उसका, साधर्म्य में पर्यवसान न होने से (क्योंकि अनन्वयालंकार के सादृश्य का पर्यवसान निषेध में जाकर होता है) ही निवारण हो जाने के कारण 'भेद होने पर' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। एक तो उस लक्षण में यह दोष है; दूसरे यह भी दोष है कि—काव्य के अलकारो के प्रकरण मे ऐसे सामान्य लक्षण का बनाना अनुचित भी है, जा लौकिक, अलौकिक, प्रधान, वाच्य और व्यंग्य सभी प्रकार की उपमा में अतिव्याप्त हो जाय।

इसी—अर्थात् काव्यप्रकाश के लक्षण में बताए गए दोषसमूह के—कारण।

"भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा—अर्थात् भेद और अभेद के समान होने पर जो साधर्म्य हो उसे उपमा कहा जाता है।"

यह **अलंकारसर्वस्व** में लिखा हुआ लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् विशेष सुंदर नहीं है।

इसी तरह—

"प्रसिद्धगुणेनोपमानेनाऽप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य साहश्यमुपमा—अर्थात् जिसके गुण प्रसिद्ध हैं उस उपमान से, जिसके गुण प्रसिद्ध नहीं हैं उस उपमेय के साहश्य को उपमा कहते हैं।"

यह अलंकाररत्नाकर में कहा हुआ लक्षण भी उत्तम नहीं है, क्योंकि श्लेषमूलक उपमा में 'श्लिष्ट शब्द रूपी जो धर्म होता है, उसे कवि ही कल्पित करता है, वह न उपमान में प्रसिद्धि होता है, न उपमेय में और उस रूप से उपमान की प्रसिद्धि भी नहीं होती। सो ये सब लक्षण गड़बड़ ही हैं।

अच्छा, छोड़िए अब इस दूसरों के दूषण ढूँढ़ने को। प्रस्तुत बात को लीजिए।

उपमा के भेद

अब इस उपमा के प्राचीनों (प्रकाशकारादि) के अनुसार कुछ भेदों के उदाहरण दिए जाते हैं—

उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा और लुप्ता। उनमें से पूर्णा उपमा श्रौती और आर्थी दो भेदों में विभक्त है; और उन भेदों में से प्रत्येक भेद वाक्यगामी, समासगामी और तद्धितगामी—इस तरह तीन प्रकार के होते हैं, अतः पूर्णोपमा छः प्रकार की होती है। सारांश यह कि **पूर्णोपमा के छः भेद हैं**—श्रौती वाक्यगता, आर्थी वाक्यगता, श्रौती समासगता, आर्थी समासगता, श्रौती तद्धितगता और आर्थी तद्धितगता।

अब रही लुप्ता। सो वह **लुप्तोपमा** उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता इस तरह सात प्रकार की है। उनमें से **उपमानलुप्ता** वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की। **धर्मलुप्ता** श्रौती

समासगता, आर्थी समासगता, श्रौती वाक्यगता, आर्थी वाक्यगता और आर्थी तद्धितगता इस तरह पाँच प्रकार की है। यह उपमा श्रौती तद्धित-गता नहीं होती। **वाचकलुप्ता** समासगता, कर्मक्यज्गता, आधारक्य-ज्गता, क्यङ्गता, कर्म-णमुल्गता और कर्त्तृ-णमुल्गता इस तरह छः प्रकार की है। **धर्मोपमानलुप्ता** वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की है। वाचकधर्मलुप्ता भी क्विब्गता और समासगता इस तरह दो प्रकार की ही है। **वाचकोपमेयलुप्ता** एक प्रकार की है। **धर्मो-पमानवाचकलुप्ता** भी एक प्रकार की है—समासगता। इस तरह सब मिलाकर लुप्ता के उन्नीस भेद होते हैं।

पूर्णा के छः भेदों को इसमें जोड़ देने से सब २५ भेद हुए।

उपर्युक्त भेदों के उदाहरण

पूर्णोपमा

अच्छा, अब इन सबके क्रम से उदाहरण दिए जाते हैं। उनमें से—

१ **पूर्णा श्रौती वाक्यगता**; जैसे—

ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्त्तेः।
प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु वृष्णिवरेण्यः॥

भक्त प्रार्थना करता है—ग्रीष्म-ऋतु के सूर्यमंडल की भयंकर ज्वाला-वाले प्रदेश में जाने-आने से जिसका शरीर संतप्त हो उठा हो उस (मनुष्य) की वेदना को जिस तरह वर्षा-ऋतु का मेघ दूर कर देता है; उसी तरह यादवश्रेष्ठ—भगवान् श्रीकृष्णचंद्र—पूर्वोक्त सूर्य की ज्वाला के समान संसार (जन्म-मरण) से संतप्त शरीरवाले मेरी वेदना को हरण करें।

यहाँ 'प्रावृषेण्यः' इस 'वारिधर' के विशेषण के साथ तो 'इव' का समास हो नहीं सकता; क्योंकि वह निराकाङ्क्ष है—अन्य शब्द का विशेषण होने के कारण उसे 'इव' शब्द की आकांक्षा नहीं। उसका अन्वय तो 'वारिधर' से होता है। और कात्यायन के वार्त्तिक में 'इवेन सह समासः' यही पाठ है; 'इवेन नित्यं समासः' यह पाठ नहीं है; अतः नित्य-समास न होने के कारण 'वारिधर' शब्द के साथ भी 'इव' शब्द का समास होना आवश्यक नहीं है। सो यह उपमा वाक्यगता हुई। इस उपमा में उपमान 'वारिधर', उपमेय भगवान् श्रीकृष्ण, समानधर्म 'वेदना का हरण करना' और सादृश्यवाचक 'इव' शब्द—इन सबका कथन होने—अर्थात् इन सबके प्रतिपादक शब्द विद्यमान होने के कारण यह उपमा पूर्ण* है। और सादृश्य का सुनते ही बोध हो जाता है—अर्थ पर विचार करने के बाद नहीं। (क्योंकि 'इव' शब्द साक्षात् सादृश्य का वाचक अथवा द्योतक है, 'सादृश्ययुक्त' का नहीं) अतः 'श्रौती' है।

२ पूर्णा आर्थी† वाक्यगता; जैसे—

प्राणापहरणेनाऽसि तुल्यो हालहलेन मे।
शशांक, केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः॥

विरहिणी चन्द्रमा से कहती है—हे शशांक—हे कलंकिन्, तुम मेरे प्राणों के हरण करने के कारण जहर के समान हो। न जाने, किस भोले

---

* उपमान, उपमेय, समानधर्म और सादृश्य इन सबके प्रतिपादक शब्द जहाँ विद्यमान हों, वहाँ 'पूर्णोपमा' होती है।

† 'समान' या 'तुल्य' शब्द सादृश्य का वाचक नहीं, किंतु 'सादृश्ययुक्त' का वाचक है, अतः अर्थ पर विचार करने के बाद 'सादृश्य' की प्रतीति होने के कारण यह उपमा 'आर्थी' कहलाती है।

मनुष्य ने तुम्हें 'सुधांशु' इस नाम से कह दिया है। राम राम !! इस हलाहल जहरवाली किरणों में अमृत !! हद हो गई भोलेपन की !!

३ पूर्णा श्रौती समासगता; जैसे—

हरिचरणकमलनखगणकिरणश्रेणीव निर्मला नितराम्।
शिशिरयतु लोचनं मे देवव्रतपुत्रिणी देवी ॥

भक्त गंगाजी से प्रार्थना करता है—भगवान् के चरणकमलों के नख-समूह की किरणों की पंक्ति के समान अत्यंत निर्मल भगवती भीष्मजी की माता—अर्थात् देवी गंगा—मेरे नेत्रों को शीतल करे—अपने दर्शन देकर उन्हें आनंदित करे।

यहाँ 'इव' शब्द के साथ समास हुआ है, अतः यह उपमा 'समासगता' है।

४ पूर्णा आर्थी समासगता; जैसे—

आनंदनेन लोकानामातापहरणेन च।
कलाधरतया चाऽपि राजन्निंदूपमो भवान् ॥

कवि कहता है—हे राजन्! आप मनुष्यों को आनंदित करने तथा उनका संताप हरण करने और कलाओं के धारण करने के कारण चंद्रमा के समान हैं।

५-६ पूर्णा श्रौती तद्धितगता और पूर्णा आर्थी तद्धितगता दोनों; जैसे—

निखिलजगन्महनीया यस्याभा नवपयोधरवत्।
अंबुजवद्विपुलतरे नयने तद् ब्रह्म संश्रये सगुणम् ॥

भक्त कहता है—जिसकी कांति नवीन मेघ के समान सब जगत् द्वारा प्रशंसनीय है और जिसके नेत्र कमल की तरह अत्यंत विशाल

है उस सगुण ब्रह्म-भगवान् कृष्ण-का आश्रय करता हूँ--उसके शरणागत हूँ।

यहाँ पूर्वार्ध में 'वति' प्रत्यय का "तत्र तस्येव (५।१।११६)" इस पाणिनि सूत्र के अनुसार, सादृश्य के अर्थ में विधान किया गया है; अतः श्रौती है। और उत्तरार्ध में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११५)" इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार तुल्य के अर्थ में 'वति' प्रत्यय का विधान है और उसका अर्थ होता है 'सादृश्य से युक्त', न कि सादृश्य; अतः आर्थी है।

लुप्ता

७ उपमानलुप्ता वाक्यगता; जैसे—

यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारैः।
कुसुमकुलतिलक चम्पक, न वयं तं जातु जानीमः॥

कवि कहता है—हे कुसुम-समूह के शिरोमणि चंपक, अलौकिक रंग और मनुष्यों का मन हरण करनेवाली महक के डंबरों से तुम जिसकी समानता प्राप्त करते हो—जिसकी बराबरी के हो, उसे हम तो कभी जानते नहीं। हमें तो आज दिन तक कोई ऐसा अवसर आया नहीं कि जब हमने कोई तुम्हारी जोड़ का दूसरा पुष्प देखा हो।

इसी पद्य के पहले चरण को यदि "यत्तुलनामधिरोहसि" बना दिया जाय, अर्थात् 'यस्य' को अलग न रखकर उसका 'तुलना' शब्द के साथ समास कर दिया जाय, तो यही पद्य उपमानलुप्ता समासगता का उदाहरण हो जायगा।

असमालंकार का खंडन

आप कहेंगे—इस पद्य में उपमान का अभाव है—'चंपक' के उपमान का निषेध किया गया है। ऐसा करने से अंततः सादृश्य का

अभाव सिद्ध हो जाता है—अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि 'चंपक' का किसी के साथ सादृश्य नहीं और उपमा का जीवन है (वाक्यार्थ का) सादृश्य में समाप्त हो जाना। पर इस पद्य के वाक्यार्थ की पूर्वोक्त-रीत्या सादृश्य में समाप्ति न होकर सादृश्य के अभाव में समाप्ति होने के कारण, यहाँ कोई दूसरा ही अलंकार है, उपमानलुप्ता नहीं। तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ यह कहा गया है कि—"तुम जिसकी समानता को प्राप्त करते हो उसे हम नहीं जानते।" इस कथन का सादृश्य के अभाव में पर्यवसान नहीं होता; किंतु 'सर्वज्ञ न होने के कारण जिसे हम नहीं जान पाते वह कोई तुम्हारा उपमान होगा' इस तरह सादृश्य में ही पर्यवसान होता है। अतः यह उपमानलुप्ता उपमा ही है, अन्य अलंकार नहीं। इससे

***ढुँढुँणन्तो हि मरीहसि कंटककलिआइँ केअइवणाँइ।**
मालइकुसुमसरिच्छं भमर, भमन्तो ण पावहिसि॥

एक नायिका अपने सौभाग्य की सूचना देती हुई अपने प्रियतम के समीप में भौंरे से कहती है—हे भौंरे, तुम काँटों से घिरे हुए केतकी के जंगलों में 'ढूँढूँ' करते हुए अथवा ढूँढते हुए मर रहोगे; पर फिरते-फिरते भी मालती के पुष्प के (भीतरी अभिप्राय है 'मेरे') समान (किसी को) न पाओगे।

इस पद्य में उपमा से भिन्न—अर्थात् 'उपमा नहीं है किंतु 'असम' 'अलंकार है' यह— कहनेवाले 'अलंकार-रत्नाकर' आदि परास्त हो

---

* काव्यप्रकाश (आनंदाश्रम संस्करण) में 'ढुँढुँणंतमरीहसि' पाठ है और यही रसगंगाधर के टीकाकार नागेश वहाँ ('उद्द्योत' में) 'ढुँढुँणंत' का अर्थ 'ढूँढ़ता हुआ' करते हैं, यहाँ 'ढूँढूँ करता हुआ'। इन दोनों अर्थों में से कौन प्रामाणिक है सो वे ही जानें।

जाते हैं। कारण, वे इस बात को न समझ पाए कि ऐसे स्थानों में सादृश्य में ही पर्यवसान होता है।

९ धर्मलुप्ता श्रौती वाक्यगता; जैसे—

कलाधरस्येव कलाऽवशिष्टा विलूनमूला लवलीलतेव।
अशोकमूलं परिपूर्णशोका सा रामयोषा चिरमध्युवास॥

कवि कहता है—चंद्रमा की बची हुई कला की तरह और जड़ कटी हुई हरफारेवड़ी की तरह, शोक से परिपूर्ण, वह रामचंद्र की पत्नी—भगवती सीता, बहुत समय तक, अशोक वृक्ष के मूल में निवास करती रही।

धर्मलुप्ता पर एक विचार

पूर्वोदाहृत "ग्रीष्मचण्डकरमण्डल......" इत्यादि पूर्णोपमा के उदाहरण में, यदि 'वर्षा-ऋतु के मेघ के समान जो यादवश्रेष्ठ हैं वे मेरी वेदना को हरण करें' इस तरह केवल 'यादवश्रेष्ठ' को ही 'वेदनाहरण' का कर्ता कहना चाहें और मेघ के साथ सादृश्य 'श्यामता' आदि किसी अन्य धर्म द्वारा कहना चाहें—अर्थात् 'वेदनाहरण के कर्ता होने' को समानधर्मरूप न मानकर उसका केवल कृष्ण में ही अन्वय कर दें तो वहाँ भी धर्मलुप्ता उपमा समझो। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि—पूर्णा में केवल 'यादवश्रेष्ठ' को उद्देश्य मानकर उनमें, वर्षा-ऋतु के मेघका सादृश्य सिद्ध करनेवाले अथवा वैसे मेघ के सादृश्य से अभिन्न—अर्थात् सादृश्यरूप—'वेदनाहरण के कर्ता होने' का विधान किया जाता है, अतः उपमा को विधेय मानकर बोध होता है। और धर्मलुप्ता में मेघ के सादृश्य से विशिष्ट यादवश्रेष्ठ को उद्देश्य मानकर उनमें केवल 'वेदनाहरण का कर्ता होना' विधान किया जाता है, अतः उपमा उद्देश्य की अवच्छेदक होती है—अर्थात् उद्देश्यभाग में आ जाती है।

१० धर्मलुप्ता आर्थी वाक्यगता; जैसे—

कोपेऽपि वदनं तन्वि ! तुल्यं कोकनदेन ते ।
उत्तमानां विकारेऽपि नाऽपैति रमणीयता ।।

नायक मानिनी से कहता है—हे तन्वि ! तुम्हारा मुख कोप में भी रक्त-कमल के समान है । ठीक ही है, उत्तम वस्तुओं की रमणीयता विकार हो जाने पर भी हटती नहीं ।

११-१२-१३ धर्मलुप्ता समासगता श्रौती तथा आर्थी और तद्धितगता आर्थी; जैसे—

सुधेव वाणी वसुधेव मूर्त्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्त्तिः ।
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये ।।

कवि कहता है—नवाब आसफखाँ की वाणी अमृत-सी है, मूर्त्ति पृथिवी-सी है, कीर्त्ति चंद्रमा की कांति-सी है और बुद्धि समुद्र से कुछ ही कम है । मैं तो समझता हूँ (ऐसी ये बातें) भूतल में अन्य किसी की नहीं ।

आप कहेंगे—यहाँ 'पयोधिकल्पा' में जो तद्धित-प्रत्यय 'कल्पप्' है, उसका अर्थ है 'कुछ कम होना', सादृश्य तो अर्थ है नहीं; फिर इसे आपने उपमा का उदाहरण कैसे बना दिया ? इसका उत्तर यह है कि—'कुछ कम होना' भी दूसरे ढंग से सादृश्य ही है—अर्थात् बात एक ही है, केवल बोलने का फेर है ।

१४ वाचकलुप्ता समासगता का उदाहरण है पूर्वोदाहृत "गुरुजनभय......" (पृ० १६६) इत्यादि पद का "दरदलदरविंदसुंदरम् (कुछ विकसित होनेवाले कमल के समान सुंदर)" यह भाग ।

१५, १६, १७ वाचकलुप्ता कर्मक्यज्गता, आधारक्यज्गता और क्यङ्गता; जैसे—

मलयानिलमनलीयति मणिभवने काननीयति क्षणतः ।
विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥

दूती नायक से कहती है—(वह) महिला मलयाचल के वायु के साथ अग्नि का सा व्यवहार करती है—मलयपवन को अग्नि समझती है और मणियों के भवन में ऐसा व्यवहार करती है जैसा जंगल में होता है—मणि-भवन में रहना उसे ऐसा जान पड़ता है जैसे जंगल में रहती हो। क्षण भर के विरह से व्याकुलचित्त हुई वह, बिना जल की मछली का-सा, आचरण कर रही है—बेतरह छटपटा रही है।

यहाँ 'अनलीयति' इस पद में 'अनलमिवाचरति—आग का-सा व्यवहार करती है' इस अर्थ में "उपमानादाचारे (३।१।१०)" इस पाणिनि-सूत्र से और 'काननीयति' पद में 'कानने इवाचरति—जंगल में जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा व्यवहार करती है' इस अर्थ में सप्तम्यंत होने के कारण आधारार्थक 'कानन' शब्द से पूर्वोक्त सूत्र के "अधिकरणाच्च" इस वार्तिक से 'क्यच्' प्रत्यय होता है। और 'निर्जलमीनायते' यहाँ 'निर्जलमीन' शब्द से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) इस सूत्र से 'क्यङ् प्रत्यय होता है।

आप कहेंगे—यह सब तो ठीक; पर यह तो समझाइए कि यहाँ वाचकलुप्ता उपमा हुई कैसे ? इसका उत्तर यह है कि—जो (नैयायिक) लोग क्यच्' और 'क्यङ्' प्रत्ययों का केवल 'आचरण' अर्थ मानते हैं उनके सिद्धांत में प्रकृति (जिसके आगे प्रत्यय किया जाता है वह भाग; जैसे -अनलीयति' आदि में 'अनल' आदि) से ही, लक्षणा द्वारा,

अपने-अपने अर्थों के समान--अर्थात् 'अग्नि' आदि के समान--बोध होता है। सो यहाँ पर सादृश्यवाचक पद न होने के कारण वाचकलुप्ता सिद्ध है ही और जिन (वैयाकरण) लोगों का सिद्धांत यह है कि—'अनलीयति' इत्यादि समुदाय (प्रकृति प्रत्ययों के समूह रूप पूरे पद) का ही शक्ति द्वारा, अग्नि आदि के सादृश्य के सिद्ध करनेवाले आचरण का कर्त्ता' यह अर्थ है, प्रकृति-प्रत्ययों का अलग अलग अर्थ नहीं है; उनके हिसाब से 'सादृश्य' अथवा 'सादृश्य से युक्त' इन दोनों में से किसी एक के ही वाचक—अर्थात् इन दो अर्थों के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ के प्रतिपादन न करनेवाले—शब्द के न होने से वाचकलुप्ता सिद्ध हो जाती है।

१८-१९ वाचकलुप्ता कर्त्तृणमुलगता और कर्मणमुलगता; जैसे—

निरपायं सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये।
जह्नुजे! निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः॥

भक्त कहता है—हे गंगे! जो मनुष्य बिना किसी प्रतिबंध के—अर्थात् निरंतर—तेरा जल, अमृत की तरह, पान करते हैं वे पृथ्वी पर, देवताओं की तरह, निवास करते हैं।

यहाँ 'सुधापायम्' का अर्थ है 'सुधामिव—अमृत की तरह' और 'निर्जरासम्' का अर्थ है 'निर्जरा इव—देवताओं की तरह'। इन अर्थों में "उपमाने कर्मणि च (३।४।४५)" इस पाणिनि-सूत्र से कर्मरूप उपमान के उपपद (समीपवर्त्ती पद) रहते और सूत्र के 'च'-कार से ग्रहण किए हुए कर्त्तारूप उपमान के उपपद रहते 'णमुल्' प्रत्यय हुआ है।

२०-२१ धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता; जैसे—

गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
सहकार ! न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति ॥

कवि कहता है—हे आम, भौंरे ने सारा जंगल रौंद डाला और सब तरफ सारे वृक्ष देख डाले, तथापि जगत् में, तेरी बराबरी का कोई न पाया ।

यहाँ यदि 'तथापि ते समम्' को उड़ा दें और उसकी जगह 'भवत्समम्' यह लिखकर 'गीति' छंद न रखते हुए, शुद्ध 'आर्या' छंद ही बना डालें तो यही पद्य **धर्मोपमानलुप्ता समासगता** का उदाहरण बन जाय ।

२३ **वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता**; जैसे—

कुचकलशेष्वबलानामलकायामथ पयोनिधेः पुलिने ।
क्षितिपाल ! कीर्त्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥

कवि कहता है—हे भूमिपते ! आपकी कीर्त्तियाँ अबलाओं के कुच-कलशों पर मोतियों की माला का-सा आचरण करती हैं, अलकापुरी में शिव का-सा आचरण करती हैं और समुद्र के तट पर हीरों का-सा आचरण करती हैं ।

यहाँ हार, हर और हीर शब्द आचारार्थक 'क्विप्' प्रत्यय का लोप हो जाने पर धातुरूप बन जाते हैं । इस स्थिति में जो लोग यह मानते हैं कि—'हार' आदि शब्द ही लक्षणा द्वारा हार आदि के सादृश्य का बोध करवाते हैं और लोप हो जाने पर भी स्मरण किया हुआ 'क्विप्' प्रत्यय आचार का बोध करवाता है, उनके पक्ष में तो वाचक और धर्म दोनों का लोप स्पष्ट ही है, क्योंकि केवल सादृश्य और केवल धर्म का बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं है । और जो लोग यह मानते हैं कि—'हार'

आदि शब्द ही, लक्षणा द्वारा, वैसे (हारादि के) सादृश्य से अभिन्न आचार का बोध करवाते हैं, उनके पक्ष में जिस तरह केवल सादृश्य का बोधक कोई पद न होने के कारण सादृश्य का लोप समझा जाता है, उसी तरह केवल धर्म का भी बोधक कोई पद न होने से उसका भी लोप ही है।

२३—वाचकधर्मलुप्ता समासगताः जैसे—

शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ! ते वदनाम्बुजे !
केसरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तयः ॥

नायक कहता है—हे तन्वि ! तेरे मुख-कमल में अरुण वर्ण अधर (नीचे के ओठ) की कांति से मिश्रित मनोहर दंत-पंक्ति की कांतियाँ केसरों की तरह प्रकाशित हो रही हैं।

यहाँ 'वदनांबुज (मुख-कमल)' शब्द के अंतर्गत 'वदन' और 'अंबुज' शब्दों में अभेद कहने की इच्छा से—अर्थात् रूपक बनाने के लिये यदि विशेषण-समास माना जाय—अर्थात् 'अंबुज के समान बदन' अर्थ न मानकर 'अंबुज से अभिन्न वदन' अर्थ माना जाय, तो दंत-पंक्ति की कांतियों का केसरों से सादृश्य कहना असंगत हो जाता है, क्योंकि कमल से मुख के अभेद को सिद्ध करनेवाला है दंत-पंक्ति की कांतियों का केसरों से अभेद, न कि केसरों से सादृश्य। सो प्रधान ('वदनांबुज') में रूपक तभी माना जा सकता है जब कि उसके अंग (दंतकांति और केसर) में भी अभेद लिखा गया हो। यदि वक्ता को प्रधान में रूपक अभीष्ट होता तो अंग में सादृश्य कभी नहीं लिखता। अतः मानना पड़ता है कि यहाँ विशेषण समास वक्ता को अभीष्ट नहीं और उपमित-समास मानने पर तो 'वदन' और 'अंबुज' रूपी धर्मियों में 'सादृश्य' प्रतीत होगा, अतः उनके धर्म दंत-पंक्ति की कांतियों और 'केसरों' का

सादृश्य कहना उचित ही है। सो यहाँ दंतकांतियों और केसरों के आधारों—अर्थात् वदन और अंबुज की उपमा को लेकर वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण दिया गया है, विधेयों में—अर्थात् दंत-कांति और केसरों में—रहनेवाली उपमा तो पूर्णा ही है। सारांश यह कि यहाँ दो उपमाएँ हैं—एक 'वदन और अंबुज' में और दूसरी 'दंतकांति और केसरों' में। उनमें से पहली उपमा के कारण इस पद्य को वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण माना गया है।

२४-२५—वाचकोपमेयलुप्ता क्यङ्गता और धर्मोपमानलुप्ता समासगता; जैसे—

तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।
ममाऽयं मानुषो लोको नाकलोक इवाऽभवत्॥

नायक अपने मित्र से कहता है—अपने तईं तिलोत्तमा-सा आचरण करती हरिण के बच्चे के से नेत्रवाली उस (नायिका) के कारण मेरा यह मनुष्यलोक स्वर्गलोक सा हो गया—मुझे यहीं स्वर्ग का-सा अनुभव होने लगा।

यहाँ 'तिलोत्तमीयन्त्या' पद का अर्थ है 'तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्या—अर्थात् अपने तईं तिलोत्तमा (एक अप्सरा) सा आचरण करती'। इस पद में 'तिलोत्तमा' शब्द से 'आचारार्थक क्यच्' प्रत्यय हुआ है और 'तिलोत्तमा' शब्द 'तिलोत्तमा के सादृश्य' अर्थ में लाक्षणिक है, सो केवल सादृश्य का वाचक कोई पद न होने के कारण यहाँ वाचक का लोप है और स्पष्ट प्रतीत होने के कारण तिलोत्तमा के उपमेय 'आत्मानम् (अपने तईं)' का (इस पद्य में) शब्द द्वारा ग्रहण नहीं किया गया, अतः उपमेय का लोप है। सो 'तिलोत्तमीयन्त्या' इस पद्य में 'क्यङ्गता वाचकोपमेयलुप्ता उपमा' है।

आप कहेंगे—यहाँ उपमेय का लोप कहना ठीक नहीं। क्योंकि तिलोत्तमारूपी उपमान का उपमेय है स्वयं नायिका, और उसका वाचक 'तया' पद पद्य में है ही; फिर 'आत्मानम्' पद के न होने से उपमेय का लोप मानना कुछ अर्थ नहीं रखता। तो इसका उत्तर यह है कि—वह स्वयम् (नायिका) तिलोत्तमा का उपमेय नहीं हो सकती। कारण, तिलोत्तमारूपी उपमान 'आचरण' क्रिया का कर्म है और वह (नायिका) है कर्त्ता—क्योंकि वही तो आचरण करनेवाली है और कर्ता का उपमेय होना तथा कर्म का उपमान होना असगत है, कारण, 'उपमान और उपमेय में एक विभक्ति होनी चाहिए' यह नियम है। सो इस नियम के अनुसार कर्म को उपमान और कर्ता को उपमेय न माने जा सकने के कारण यहाँ 'आत्मानम्' की उपमेयरूप में तर्कना आवश्यक है—बिना उसके काम नहीं चल सकता और उसका वाचक यहाँ कोई शब्द है नहीं, अतः यहाँ उपमेय का लोप मानने में कोई बाधा नहीं।

यह तो हुई वाचकोपमेयलुप्ता की बात। अब **धर्मोपमानवाचक-लुप्ता** को लीजिए। वह इस पद्य के 'मृगशावकचक्षुषा' इस पद में है। इस पद का विग्रह (अर्थ समझानेवाला वाक्य) है "मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः—अर्थात् जिसके नेत्र मृग के बच्चे के नेत्रों के समान हों" यह। यहाँ "सतम्युपमानपूर्वस्य" इस भाष्यवार्तिक* से समास हुआ है और उत्तरपद (उपमानवाचक 'चक्षुष्' शब्द) का लोप हुआ है। यह तो हुई शब्दसिद्धि, अब अर्थ की तरफ ध्यान दो। इस विषय में दो मत हैं-कुछ लोग'मृगशावकचक्षुषा'शब्द के 'मृगशावक' पद का,लक्षणा द्वारा,'मृग के बच्चे के नेत्रों के सदृश'इतना अर्थ मानते हैं

---

* यह वार्त्तिक "अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४)" के महाभाष्य में है।

और फिर उसका 'चक्षुष्' शब्द के साथ बहुव्रीहि करके 'जिसके नेत्र मृग के बच्चे के नेत्रों के समान हों' यह अर्थ निकालते हैं; और दूसरे लोग 'मृगशावकचक्षुषा 'इस पूरे समस्त पद का ही पूर्वोक्त समग्र अर्थ मान लेते हैं। उनके हिसाब से समास ही इस सब का अर्थ का वाचक है। दोनों ही पक्षों में उपमान 'चक्षुष्' (क्योंकि 'मृगशावकचक्षुषा' में केवल उपमेयवाचक ही 'चक्षुष्' शब्द है), सादृश्य और समान धर्म, तीनों में से केवल एक-एक के बोधक किसी पद के न होने के कारण तीनों का लोप है। सो यह है धर्मोपमानवाचकलुप्ता का उदाहरण।

इस तरह उपमा के पचीस भेद समाप्त हुए।

अन्य 'सात' भेद

इस प्रकरण में अन्य विद्वान् इनके अतिरिक्त अन्य भेद भी कहते हैं। सुनिए--

वाचकलुप्ता—वाचकलुप्ता छः प्रकार की वर्णन की जा चुकी है। पर, वह "कर्त्तर्युपमाने (३।२।७९)" इस सूत्र से णिनि' प्रत्यय करने पर **सातवीं** भी देखी जाती है। जैसे 'कोकिल इवालपति = कोयल की तरह बोलती है' इस अर्थ में 'कोकिलालापिनी' कहा जाता है।

आठवीं भी देखी जाती है, जैसे—"इवे प्रतिकृतौ (५ ३।९६)" इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय और "लुम्मनुष्ये (५।३।९८)" इस सूत्र से उसका लोप करने पर चंचा इव = घास के बने मनुष्य सा' इस अर्थ में प्रयुक्त "**चञ्चा** पुरुषः सोऽयं यः स्वहितं नैव जानीते = अर्थात् वह पुरुष घास के बने मनुष्य सा है, जो अपने हित को न समझता हो" इस 'चंचा' शब्द में।

आचारार्थक 'क्विप्' प्रत्यय में, किसी दूसरे शब्द द्वारा समानधर्म के प्रतिपादन किए जाने पर, नवीं भी देखी जाती है; जैसे—"आह्लादि वदनं तस्याः शरद्राकामृगाङ्कति = अर्थात् उस (प्रियतमा) का आनंद-दायक मुख शरदपूनो के चंद्रमा सा आचरण करता है" इत्यादिक में।

उपमानलुप्ता—उपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की वर्णन की गई है; पर तीसरी भी देखी जाती है; जैसे—

यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृतः।
उपनतमेतदकस्मादासीत्तत् काकतालीयम्॥

एक पथिक के विषय में कहा जाता है—जो चोरों का और इसका समागम हुआ और जो उन्होंने इसका वध कर दिया—यह घटना अचानक बन गई; अतः 'काकतालीय' हुई।

यहाँ 'काकतालीय' शब्द के 'काक' और 'ताल' शब्द, लक्षणा द्वारा, 'कौए के आने' और 'ताड़ के गिरने' के बोधक हैं। उनका 'इव (= सा)' के अर्थ में "समासाच्च तद्विषयात् (५।३।१०६)" इस ज्ञापक द्वारा समास करने पर 'काक इव ताल इव काकतालम्' इस विग्रह के अनुसार 'काकतालम्' शब्द का अर्थ होता है—'कौए और ताड़ के समागम के—अर्थात् कौए के आने और ताड़ के गिरने के—समान चोरों का और इस (पथिक) का समागम।' इस 'काकताल' शब्द से 'काक-तालमिव' इस तरह दूसरे 'इव' के अर्थ में पूर्वोक्त सूत्र ("समासाच्च तद्विषयात्") से ही 'छ = ईय' प्रत्यय करने पर 'काकतालीय' शब्द बनता है। अतः उपर्युक्त पद्य का अर्थ हुआ—'तालपतनजन्यकाकवध-सदृशश्चोरकर्तृको देवदत्तवधः—अर्थात् चोरों का किया हुआ देवदत्त (अमुक मनुष्य) का वध ताल के गिरने से उत्पन्न कौए के वध के

समान हुआ।' सो 'काकतालीयम्' में दो उपमाएँ हुईं—एक समासार्थ-रूप, जो 'काकतालम्' में है और दूसरी प्रत्ययार्थरूप, जो 'काकताल' शब्द से 'ईय' प्रत्यय करने पर प्रतीत होती है। ऐसी दशा में प्रत्ययार्थरूप दूसरी उपमा के उपमान 'ताल के गिरने से उत्पन्न कौए के वध' का ग्रहण न होने से—अर्थात् 'काकतालीय' पद में वैसे 'वध' का प्रतिपादक कोई शब्द न होने से यह उपमा उपमानलुप्ता* हुई जो पूर्वोक्त उपमानलुप्ता के भेदों से अतिरिक्त है।

वाचकोपमानलुप्ता

वाचकोपमानलुप्ता का तो, प्राचीनों के भेदों में, नाम ही नहीं लिया गया, पर 'काकतालीयम्' की प्रकृति—अर्थात् 'काकतालम्'—के अर्थ में वह भी दिखाई देती है, क्योंकि उस उपमा का उपमान है 'काकतालसमागम'; उस 'समागम' का वाचक यहाँ कोई शब्द नहीं और न सादृश्य का प्रतिपादक ही कोई शब्द है।

धर्मोपमानलुप्ता

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता दो प्रकार की ही कही गई है, पर यदि पूर्वोक्त पद्य ("यच्चोराणामस्य च···") के तीसरे चरण में वर्णित समानधर्म को निकाल दें (अर्थात् उत्तरार्ध यों बना दें कि—"किमिति ब्रूमो वयमिदमासीद्व्रत काकतालीयम्"; तो प्रत्ययार्थवाली उपमा में धर्मोपमानलुप्ता भी यहाँ दिखाई पड़ती है, जो कि पहले वर्णन नहीं की गई है। सो उसका भी एक भेद और हो सकता है।

---

* स्मरण रहे कि ईय प्रत्यय के उपमावाचक होने के कारण इस उपमा में सादृश्यवाचक का लोप नहीं है।

वाचकधर्मलुप्ता

वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता और समासगता दो प्रकार की ही वर्णित है। वह भी यदि पूर्वोक्त "वञ्चापुरुषः सोऽयम्" इसके आगे का चरण "योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः (अर्थात् जो अत्यन्त विषय-वासना के अधीन है)" बना दिया जाय, तो 'अपना हित न करने' रूपी समान धर्म का ग्रहण न होने पर 'कन्' प्रत्यय के लोप में भी दिखाई देती है, क्योंकि विषय-वासना के अधीन होना केवल पुरुष में रहनेवाला धर्म के होने के कारण 'वञ्चा' और 'मनुष्य' का समानधर्म नहीं बन सकता।

सो इस तरह इन सात नए भेदों के सम्मिलित होने से उपमा के कुल ३१ भेद होते हैं।

भेदों की आलोचना

उपर्युक्त भेदो के विषय में यह बात ध्यान में रखने की है। प्राचीनों ने जो कर्मक्यच्, आधारक्यच् और क्यङ् में वाचकलुप्ता का उदाहरण दिया है, वह असंगत सा प्रतीत होता है; क्योंकि वहाँ धर्म का लोप भी हो सकता है। अर्थात् ये भेद धर्मवाचकलुप्ता के होने चाहिए, केवल वाचकलुप्ता के नहीं। आप कहेंगे—इन भेदों में क्यच् आदि प्रत्ययों का अर्थ—आचार—ही साधारणधर्म रूप है, सो धर्म का लोप कहाँ है? तो इसका उत्तर यह है कि—'आचार' साधारण धर्म है सही; पर इतने मात्र से वह उपमा को सिद्ध नहीं कर सकता।

आप कहेंगे—क्यों नहीं सिद्ध कर सकता। "नारीयते सपत्नसेना—अर्थात् शत्रुओं की सेना स्त्रियों का सा आचरण करती है" इत्यादिक मे 'आचरण' रूप समानधर्म ही उपमा को सिद्ध करता है, अतः केवल 'आचार' को उपमा का सिद्ध करनेवाला न मानना व्यर्थ है। पर यह

उचित नहीं। कारण, "नारीयते सपत्नसेना" इत्यादि में केवल आचार उपमा का साधक नहीं है, किंतु व्यंजना द्वारा बोधित 'कायरता' आदि से अभिन्न समझा हुआ आचार उपमा का साधक है। ऐसा मानने का कारण यह है कि—"त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते—अर्थात् सुप्रसिद्ध स्वर्ग भारत (महाभारत) का सा आचरण करता है—भारत सा प्रतीत होता है" इत्यादि में 'सुप्रसिद्धता' आदि आचार के स्मरण हो जाने पर भी उपमालंकार सिद्ध नहीं होता; और उसी पद्य का "सुपर्वभिः शोभितमन्तराश्रितैः—अर्थात् वह अंदर रहनेवाले 'सुपर्वों' (एकत्र—देवताओं; अन्यत्र—आदि, सभा इत्यादि पर्वों) से शोभित है" यह चरण और बना देने पर सिद्ध हो जाता है। अतः मानना पड़ता है कि ऐसी जगह आचार के अतिरिक्त अन्य किसी समानधर्म आवश्यकता रहती ही है, 'क्यङ्' आदि का अर्थरूप केवल आचार साधारण होने पर भी उपमा को सिद्ध नहीं करता। धर्मलुप्ता में 'धर्म के लोप' का अर्थ ही है—'ऐसे साधारणधर्म के वाचक शब्द से रहित होना जो उपमा की साधकता का अवच्छेदक हो—अर्थात् जिससे उपमा का सिद्धि होती हो। अन्यथा "मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पंकजम्—अर्थात् यह मुखरूपी पदार्थ प्रफुल्ल कमल सा है" इत्यादिक में भी पदार्थत्वरूप धर्म से पूर्णोपमा होने लगेगी, जो कि किसी को अभीष्ट नहीं। यह है सब का संक्षेप।

अप्पयदीक्षित के विचारों की आलोचना

अप्पयदीक्षित ने इसी प्रसंग में लिखा है—"धर्मलुप्ता वाक्य, समास और तद्धित में दिखाई गई है, पर वह द्विर्भाव (द्विरुक्ति) में भी दिखाई देती है; जैसे—'पटुपटुर्देवदत्तः (देवदत्त चतुर के सदृश है)' इस जगह। कारण, यहाँ 'प्रकारे गुणवचनस्य (८।१।१२)' इस सूत्र से द्विरुक्ति का विधान 'सादृश्य' अर्थ में है—अर्थात् यहाँ द्वित्व

के कारण 'पटुपटु' शब्द का अर्थ 'पटु के सदृश' होता है।'' सो यह तुच्छ है। कारण, इस उदाहरण में केवल धर्म का ही लोप नहीं है, किंतु वाचक का भी लोप है, अतः इस भेद को वाचकधर्मलुप्ता में बढ़ाना उचित था, न कि धर्मलुप्ता में, क्योंकि केवल धर्म का लोप हुआ हो वहीं उन्हें धर्मलुप्ता कहना अभीष्ट है, अन्यथा एकलुप्ताओं में ही द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता का भी ग्रहण हो जाने से उनका पृथक् ग्रहण असंबद्ध ही होगा।

आप कहेंगे—'पटुपटुर्देवदत्तः' में द्विर्भाव (अर्थात् पटु शब्द का दो बार होना) ही सादृश्य का वाचक है, इस कारण वाचक का लोप नहीं कहा जा सकता, किंतु केवल धर्म का लोप है अतः हमने इसे धर्मलुप्ता लिखा है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, द्विर्भाव को सादृश्य-वाचक कहना भाष्य (व्याकरणमहाभाष्य) और कैयट (उसके व्याख्याता) आदि के विरुद्ध है। देखिए, कैयट ने "प्रकारे गुणवचनस्य" इस पूर्वोक्त सूत्र के महाभाष्य के "सिद्धन्तु" इस प्रतीक को लेकर कहा है—

"द्विर्वचनस्य प्रकृतिः स्थानी, इति तदर्थो विशेष्यते, न तु प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुणवचनत्वाद् व्यभिचाराभावात्। तद्ग्रहणाद् गुणवचनो यः शब्दो निर्ज्ञातस्तस्य सादृश्ये द्योत्ये द्वे भवत इति सूत्रार्थः।

अर्थात् द्विरुक्ति का स्थानी (जिसको दो किए जाते हैं वह) प्रकृति (पटु-आदि शब्द) है, अतः (सूत्र का) 'गुणवचन' शब्द उसका विशेषण है प्रकार—अर्थात् सादृश्य—का नहीं, क्योंकि प्रकार तो सभी गुणवाची होता है, जातिवाची अथवा क्रियावाची होता ही नहीं, अतः वहाँ अतिव्याप्ति न होने के कारण यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। सो 'गुणवचन' शब्द के ग्रहण के कारण इस सूत्र का अर्थ यह है कि—जो

शब्द निश्चितरूपेण गुणवाची ज्ञात हो उसके सादृश्य का द्योतन करना हो तो उस शब्द के दो हो जाते हैं।"

अतः यह सिद्ध होता है कि—द्विरुक्ति सादृश्य की द्योतक है, वाचक नहीं। सो वाचक का भी लोप होने के कारण 'पटुपटुर्देवदत्तः' धर्मवाचकलुप्ता का उदाहरण होना चाहिए, धर्मलुप्ता का नहीं*।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी लीजिए। चित्रमीमांसाकार (अप्पयदीक्षित) ने उसी प्रसंग में यह भी लिखा है—

"नृणां यं सेवमानानां संसारोऽप्यपवर्गति।
तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम्।

अर्थात् जिसे सेवन करनेवाले मनुष्यों का संसार भी मोक्ष के समान हो जाता है, उन चन्द्रकलाधर (शिव) को न भजनेवाला मनुष्य, जगत् में, घास के बने पुतले के समान है।

---

* पंडितराज का यह खंडन उचित नहीं। बात यह है कि—इस प्रकरण में 'वाचक' शब्द का अर्थ 'अभिधा वृत्ति द्वारा सादृश्य का वाचक' नहीं है, किंतु 'सादृश्य अथवा सादृश्य से युक्त अर्थ का बोधक' है; और ऐसे किसी शब्द के न होने पर वाचक का लोप माना जाता है। अन्यथा जो लोग 'इव' आदि को सादृश्य का द्योतक मानते हैं, उनके मत में 'चंद्र इव मुखम्' इस जगह, और 'इव' आदि को वाचक माननेवालों के हिसाब से 'चंद्रसुहृन्मुखम्' इस जगह भी वाचकलुप्ता का व्यवहार होने लगेगा। सो होता नहीं। अतः द्योतक (द्वित्व) को भी बोधक मानने में कोई बाधा न होने के कारण वाचक को विद्यमान मानकर अप्पयदीक्षित ने यहाँ धर्मलुप्ता मानी है। अतः इसका खंडन व्यर्थ है।

(गुरुमर्मप्रकाश का सार)

इस पद्य में 'अपवर्गति' पद में क्विप्' प्रत्यय का और 'चञ्चा' पद में 'कन्' प्रत्यय का लोप है, अतः यहाँ भी प्रत्येक उपमा में('अपवर्गति' और 'चञ्चा' दोनों में) वाचक और धर्म दोनों का लोप हो जाता है।" सो यह सुंदर नहीं। हम पूछते हैं कि—यहाँ वाचक—'कन्' प्रत्यय—का लोप होने पर भी, 'उन चंद्रकलाधर को न भजनेवाला' इस विशेषण से सूचित 'शिव के भजन से रहित होना' रूपी धर्म, जो कि घास के पुतले और पुरुष दोनों में समान रूप से रहता है, जब इस पद्य में उक्त है तब धर्म का लोप कैसे कहा जा सकता है?

आप कहेंगे—'शिव के भजन से रहित होना' यह उपमेय—पुरुष—के विशेषण रूप में लाया गया है, अतः सादृश्य' के विशेषण बने हुए 'चंचा (घास के पुतले)' में इसका अन्वय न हो सकने के कारण इसे साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता—यह केवल पुरुष का धर्म है। तो इसका उत्तर यह है कि—

"यद्भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति।
तं शम्भुमभजन्मर्त्यश्चञ्चैवाऽऽत्महिताकृतेः॥

अर्थात् जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्ष के समान हो जाता है, उन शंभु को न भजनेवाला मनुष्य, अपना हित न करने के कारण घास का पुतला ही है।

इस तरह पाठ कर देने पर दोनों जगह धर्म भी सुनाई देने लगता है।" यह आपका कथन असंगत हो जायगा—आपकी बात ही आपके विरुद्ध हो जायगी, क्योंकि यहाँ भी 'सुखमय' शब्द उपमेय—संसार—के विशेषणरूप में आया है। ऐसी दशा में 'सुखमय होने' रूपी धर्म का सादृश्य के विशेषण मोक्ष में अन्वय न होने के कारण, इस धर्म को आप कैसे साधारण बता रहे हैं? आप कहेंगे—उपमेयगत

और उपमानगत दोनों में से किसी रूप में ग्रहण करने के कारण धर्म का (उपमान और उपमेय) दोनों में शब्दसंबंधी अन्वय न होने पर भी वस्तुतः दोनों में रहने का ज्ञान ही साधारणता का नियामक है—अर्थात् शाब्दिक रूप में धर्म का दोनों में अन्वय न होने पर भी यदि हम यह समझ सकें कि—यह धर्म वास्तव में दोनों में रहनेवाला है वह साधारणधर्म मान लिया जाता है। तो 'शिव के भजन से रहित होने' पर भी दृष्टि दीजिए—वह भी उपमेय का विशेषण होने पर भी वस्तुतः उपमान और उपमेय दोनों में रहनेवाला धर्म है।

इतने पर भी यदि आप सौगंद देकर—अर्थात् बलात्कार से—अपना यह अभिप्राय प्रकट करें कि हमें तो यहाँ 'शिव के भजन से रहित होना' केवल उपमेय (मनुष्य) के धर्म के रूप में कहना अभीष्ट है और उपमान-उपमेय का साधारणधर्म तो 'अपने आत्मा का हित न करना' ही है, सो वह लुप्त ही है। तो हम मान लेते हैं कि—दोष का निवारण हो गया। आप प्रसन्न रहिए। (पर कृपया, हृदय से जरा और पूछ लीजियेगा कि—बात असली क्या है !)।

एक तीसरी बात और सुनिए। उन्हीं (अप्पयदीक्षित) ने वाचकोपमेयलुप्ता में यह एक उदाहरण और बनाया है—

"रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः।
पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति।

जिसका आकार रूप यौवन और लावण्य के कारण अत्यन्त स्पृहणीय है, ऐसा यह (नायक) मृगनयनियों के सामने अपने तईं कामदेव-सा व्यवहृत करता है।"

यह पद्य अशुद्ध शब्द से दूषित होने के कारण, बनानेवाले की, व्याकरण-ज्ञान-शून्यता को प्रकाशित करता है—इस पद्य से यह सिद्ध

होता है कि इसका निर्माता व्याकरण नहीं जानता। देखिए, यहाँ जो 'पुरतः' शब्द आया है, उसकी व्युत्पत्ति क्या होगी ? यदि 'पुर' शब्द से जिसका अर्थ नगर होता है, 'तसिल्' (वस्तुतः 'तसि' होना चाहिए) प्रत्यय करके इसे सिद्ध किया जाय तो अर्थ होगा 'मृगनयनियों के नगर से', जो यहाँ असंगत है। अब यदि 'पुर' शब्द का अर्थ 'पूर्व' मान-कर 'पुरतः' का अर्थ 'आगे' अथवा 'सामने' करने जायँ तो वह बन नहीं सकता; कारण, पूर्ववाची 'पुर' शब्द कहीं सुना नहीं जाता। रहा 'पूर्व' शब्द, सो उससे तो "पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९)" इस सूत्र से 'असि' प्रत्यय करने पर 'पुरः' बन सकता है, 'पुरतः' नहीं। अतएव महाकवि (कालिदास) ने "अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्" यह प्रयोग किया है। इसी तरह उन्होंने (चित्रमीमांसा) के दूसरे प्रकरण के आरंभ में "मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः—इत्यप्रस्तुत-प्रशंसा" इस जगह भी अशुद्धि की है। 'पुरतः' शब्द के प्रयोग के अशुद्ध होने के कारण ही तो वैयाकरण लोग कहते हैं—"पत्या पुरतः परतः', 'आर्त्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि' पुरतः सुदती समागतं माम्' इत्यादिक सभी शब्द अशुद्ध हैं और इनका मूल है व्याकरण का अज्ञान*।"

---

* नागेश कहते हैं—यह खंडन उचित नहीं, क्योंकि 'पुरतः' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में कालिदास और भवभूति जैसे महाकवियों ने भी किया है—"इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना" (कुमार-संभव) और "पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्" (उत्तररामचरित)। और उसकी सिद्धि भी तीन प्रकार से हो सकती है—कुछ लोग उसे निपात मानते हैं, दूसरे 'अच्' प्रत्यांत 'पुर' शब्द से 'अतसुच्' प्रत्यय करके सिद्ध करते हैं और वस्तुतः तो यह पुरतः शब्द 'पुर अग्र गमने' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय और उससे 'तसि' प्रत्यय करने पर सिद्ध हो सकता है।

बत्तीस भेदों में से प्रत्येक के पाँच पाँच भेद

इस तरह इतने भेदोंवाली यह उपमा वस्तु, अलंकार और रसरूपी प्रधान व्यंग्यों और वस्तु तथा अलंकाररूप वाच्यों को शोभित करनेवाली होने के कारण पाँच प्रकार की है। उनमें से—

व्यंग्य वस्तु को शोभित करनेवाली उपमा;

जैसे—

अनवरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव॥

कवि कहता है—जिनका निर्मल चित्त निरंतर परोपकार में व्यग्र रहा करता है उन महापुरुषों के ऊपर से कटु प्रतीत होनेवाले वचन औषधों की तरह स्फुरित होते हैं।

यहाँ जो 'मनुष्य ऐसे वचनों का अर्थतः सेवन करता है—उनके अर्थ का उपयोग में लाता है—और जरा भी विचलित नहीं होता, उसे परिणाम में परम सुख होता है' इस रूप में प्रधानतया ध्वनित होनेवाली वस्तु को, औषध की उपमा उपस्कृत करती है।

व्यंग्य अलंकार को शोभित करनेवाली उपमा;

जैसे—

अङ्कायमानमलिके मृगनाभिपङ्कं
पङ्केरुहाक्षि! वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत्।
उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्मूला-
श्चञ्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः॥

नायक कहता है—हे कमलनयने! ललाट पर कलंक (चंद्रमा के धब्वे) के समान कस्तूरी के द्रव को धारण करते तुम्हारे मुख को

देखकर, आनंद के मारे जिनकी पाँखों की जड़ें पल्लवित हो गई हैं—खड़ी हो उठी हैं ऐसे चकोरों के बच्चे चंचूपुट को चंचल बना रहे हैं—चाँदनी चखने को लालायित हो रहे हैं।

यहाँ 'जिससे चकोर-कुमारों के चंचूपुट की चंचलता द्वारा मुख पर चंद्रमा का आरोप किया जा रहा है' वह 'भ्रांतिमान्' अलंकार प्रधान व्यंग्य है। उसका साधक है ललाट के कस्तूरी-द्रव में कलंक के अभेद का आरोप, और उस आरोप का मूल है कस्तूरी के द्रव और कलंक का सादृश्यरूपी दोष। सादृश्य को ही उपमा कहते हैं, अतः यहाँ उपमा 'व्यंग्य भ्रांतिमान्' अलंकार को उपस्कृत कर रही है।

रस को शोभित करनेवाली उपमा का "दरदलदरविंद......" इत्यादि उदाहरण पहले (पृ० १६६) ही दिया जा चुका है।

रस के विषय में यह बात समझ लेने की है। इस प्रसंग में 'रस' पद से 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' का ग्रहण किया गया है, अतः भावादिक को सुशोभित करनेवाली उपमा का भी अंतर्भाव इसी भेद में कर लिया जाना चाहिए; जैसे—"नैवाऽयाति हृदयादधिदेवतेव" और "बाल-कुरङ्गीव वेपते नितराम्" इत्यादि प्रथमानन के उदाहृत पद्यों में—

वाच्य वस्तु को शोभित करनेवाली उपमा;

जैसे—

अमृतद्रवमाधुरीभृतः सुखयन्ति श्रवसी सखे! गिरः।
नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव॥

एक मित्र अपने मित्र को लिख रहा है—सखे! अमृत-रस की मधुरता को धारण करनेवाले तुम्हारे वचन मेरे कानों को सुखित कर रहे

हैं। (अब मैं चाहता हूँ कि) तुम्हारा शरद् के चंद्रमा के समान के मुख मेरी आँखों को शीतल करे। अर्थात् दर्शन देने की कृपा करें।

यहाँ 'आँखों को शीतल करना' रूपी जो वाच्य वस्तु है उसे मुख को दी गई शरद् के चंद्रमा की उपमा उपस्कृत कर रही है।

वाच्य अलंकार को शोभित करनेवाली उपमा;
जैसे—

शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनाऽमृतरश्मिमण्डलम्।
न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम् ॥

नायक अथवा दूती नायिका से कहती है—जैसे ठंड से कमल और दिन से चंद्रमंडल थोड़ा भी शोभित नहीं हो पाता, उसी तरह तम्हारा यह मुख रोष से शोभित नहीं हो रहा है—देखो तो बिलकुल फीका पड़ गया है।

यहाँ वाच्य दीपकालंकार को उपमा उपस्कृत करती है।

रस वाच्य नहीं होता

आप कहेंगे—जिस तरह व्यंग्य के वस्तु, अलंकार और रस तीन भेद बताए, उसी तरह वाच्यों के भी तीन भेद होने चाहिए फिर आपने दो ही क्यों लिखे—वाच्य-रस को शोभित करनेवाली उपमा का उदाहरण क्यों न दिया? इसका उत्तर यह है कि 'रसादिक तो वाच्य होते नहीं' यह पहले ही लिखा जा चुका है।

क्या अलंकार भी अलंकार को शोभित करता है?

आप कहेंगे—इन पाँचों भेदों में अलंकार को अलंकार से शोभित होनेवाला कैसे बताया गया है? अलंकार्य (शोभित किया जानेवाला) वही हो सकता है जो प्रधान हो, जो स्वयं शोभित करनेवाला (अलं-

कार) है वह अलंकार्य कैसे कहा जा सकता है ? तो यह ठीक नहीं। कारण, उपमादिक अलंकार ध्वनित होने की दशा में प्रधान होते हैं, अतः जिस तरह रसादिक अलंकारो से अलंकृत होते हैं, उस तरह ध्वनित होनेवाले अलकार भी यदि अन्य अलंकारो से अलंकृत किए जायँ तो कोई विरोध नहीं। यही बात अलकारों के मुख्यतया वाच्य होने पर भी है—अर्थात् उन्हें भी अन्य अलकारों द्वारा अलंकृत किया जा सकता है, जैसे बाजार आदि में धरे सोने के कर्णफूल, रत्न आदि द्वारा अलंकृत किए जाते हैं, अतः रत्न-आदि को कर्णफूल आदि के अलंकार (शोभित करनेवाले) कहा जा सकता है। वही बात यहाँ भी है। पर वही कर्णफूल, जब कामिनी के कानो के अलकाररूप बनें—उनमें पहनाए जायँ, तब तो प्रधानरूप में (कामिनी के कानो) के विद्यमान होने के कारण, कर्णफूल और उसके अंदर के रत्न—सभी—साक्षात् और परंपरया कान आदि की शोभा बढ़ाते हैं। ऐसी दशा में कर्णफूल और रत्न, सबको, जैसे कानो का अलंकार कहा जाता है कर्णफूल आदि को अलंकार्य नहीं माना जाता, उसी प्रकार यहाँ भी रस आदि के विद्यमान होने पर रूपक आदि अलंकार और उन्हें शोभित करनेवाले अन्य अलंकार सभी रस आदि के अलंकार हो जाते हैं। ऐसी जगह रूपक आदि को अलंकार्य नहीं कहा जा सकता। (सारांश यह कि—यदि रस आदि अन्य कोई प्रधान व्यंग्य हो तब तो अलंकारों को अलकारो का शोभित करनेवाला नहीं माना जाता, किंतु उन सबको रसादिक के ही अलंकार माना जाता है, पर यदि केवल अलंकार ही प्रधान हो तो उन्हें अन्य अलकारों से शोभित होनेवाला मानने में कोई बाधा नहीं।)

भेदों की संकलना

इस तरह प्राचीनों के मत जो पचीस भेद पहले गिनाए जा

चुके हैं उनमें से प्रत्येक पाँच पाँच प्रकार के होने के कारण उपमा के सवा सौ भेद हुए और जो लोग बत्तीस भेद मानते हैं उनके हिसाब से एक सौ साठ भेद हुए। इनके अतिरिक्त अन्य भेद भी कुशाग्र-बुद्धि लोगों को स्वयं निकाल लेने चाहिए।

समानधर्म को लेकर उपमा के भेद

उनमें से समानधर्म को लेकर कुछ भेद हो सकते हैं। १—किसी उपमा में समानधर्म केवल अनुगामी—अर्थात् उपमान और उपमेय में एक ही रूप से घटित हो जानेवाला—होता है, २—(क) किसी में केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न होता है, और (ख) किसी में बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और अनुगामी दोनों एकसाथ होते हैं, ३—कहीं बिंबप्रतिबिंबभावापन्न धर्म वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित होता है, ४—कहीं समानधर्म मिथ्या होने पर भी उपचरित (आरोपित) होता है, ५—और कहीं केवल शब्दरूप होता है उनमें से—

१—अनुगामी समानधर्म; जैसे—

शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः।
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः॥

कवि कहता है—शरदृतु के चंद्रमा के समान आनंददायक भगवान् रामचंद्र, वनमाला से, इंद्रधनुष सहित मेघ के समान शोभित हो रहे थे।

यहाँ पूर्वार्ध में एक बार निर्देश करने से ही धर्म ('आनंददायकता') उपमान और उपमेय दोनों में घटित हो जाता है, अतः अनुगामी है।

२—(क) केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न समानधर्म

कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः ॥

इस पूर्वोदाहृत पद्य में समझना चाहिए। (इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।)

बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और अनुगामी दोनों धर्म एक साथ हैं—

"शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः ।
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः ।"

इस अनुपदोक्त पद्य के उत्तरार्ध में, क्योंकि यहाँ 'मेघ' और 'राम' में 'शोभित होना' धर्म अनुगामी है और 'वनमाला तथा इन्द्रधनुष का अभेद' रूपी धर्म बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न है।

वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिंबप्रतिबिंबभावापन्न समानधर्म तीन प्रकार का है—एक केवल विशेषणों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित दूसरा केवल विशेष्यों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित और तीसरा विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित। उनमें से—

(i) केवल विशेषणों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित; जैसे—

चलद्भृङ्गमिवाऽम्भोजमधीरनयनं मुखम् ।
तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किं ततः ॥

जिसके अंदर भौंरा चल रहा हो उस कमल के समान अधीर (चंचल) नेत्रोंवाला उसका मुख यदि दिखाई दे जाय, तो कामदेव कुपित होता रहे, उससे क्या होना-जाना है।

यहाँ 'चलना' और 'अधीरता' दोनों विशेषण वास्तव में एकरूप हैं तथापि उन्हें दो भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा ग्रहण किया गया है, अतः उनका वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है; और वे जिनके विशेषण हैं उन (अर्थात् विशेष्यों) 'भौंरे' और 'नेत्र' का बिंबप्रतिबिंबभाव है (क्योंकि वस्तुतः भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण उन्हें अभिन्न माना गया है); अतः यह बिंब-प्रतिबिंबभाव वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित है।

(ii) केवल विशेष्यों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित; जैसे—

आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलीलं
लग्नः प्रियङ्गुलतयेव तरुस्तमालः ।
देहावसानसमये हृदये मदीये
देवश्चकास्तु भगवानरविन्दनाभः ॥

भक्त कहता है—प्रियंगुलता से मिले हुए तमालवृक्ष के समान, लक्ष्मी से हाव-भाव सहित आलिंगन किए हुए भगवान् पद्मनाभ देव (विष्णु), देहांत के समय, मेरे हृदय में प्रकाशमान रहें।

यहाँ 'आलिंगित होना' और 'लग्न (मिलित) होना' इन दोनों का वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है और वे जिनके विशेष्य हैं उन (अर्थात् उनके विशेषणों) 'लक्ष्मी' और 'प्रियंगुलता' का बिंब-प्रतिबिंबभाव है। इस कारण यह बिंब-प्रतिबिंबभाव भी वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित ही है।

(iii) विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित; जैसे—

दशाननेन दृप्तेन नीयमाना बभौ सती ।
द्विरदेन मदान्धेन कृष्यमाणेव पद्मिनी ॥

कवि कहता है—हस (अभिमानी) दशानन (रावण) से ले जाई जा रही सती (सीता), मदांध हाथी से खींची जाती हुई कमलिनी की तरह, शोभित हुई।

इस जगह 'हसता' और 'मदांधता' इन विशेषणों का और 'ले जाई जा रही' तथा 'खींची जाती हुई' इन विशेष्यों का—इन दोनों वस्तु-प्रतिवस्तुभावों से, 'दशानन' और 'हाथी' का बिंब-प्रतिबिंबभाव, दोनों तरफ से संपुटित है—अर्थात् इन दोनों वस्तु-प्रतिवस्तुभावों के बीच में आया हुआ है।

३—केवल वस्तु-प्रतिवस्तुभाव

"विमलं वदनं तस्या निष्कलङ्कमृगाङ्कति।

अर्थात् उस नायिका का निर्मल मुख कलंकरहित चंद्रमा का-सा आचरण करता है।"

इस जगह 'निर्मलता' और 'कलंक-रहितता' वास्तव में एकरूप हैं, अतः ये बिंब-प्रतिबिंबभाव से रहित वस्तु-प्रतिवस्तु भावरूप हुईं। ऐसी दशा में* यदि वे उपमा की संपादिका मानी जायँ तो समानधर्म का 'शुद्ध वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न' भी एक छठा भेद हो सकता है।

---

* "यदि······मानी जाय तो" इस कथन से लेखक की अरुचि सूचित होती है। उसका कारण यह है कि—एक ही अर्थ को यदि दो भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाय तो वह भिन्न-सा प्रतीत होता है। अतएव प्राचीनों का सिद्धांत है कि—"उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवाऽस्तमेति च—अर्थात् सूर्य ताम्रवर्ण उदय होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है" इसकी जगह पहला भाग ज्यों का त्यों रखकर 'रक्तवर्ण ही अस्त होता है' बना दिया जाय तो दोष हो जायगा। और

आप कहेंगे—उपर्युक्त उदाहरण में समानधर्म को वस्तुप्रतिवस्तु-भावापन्न मानने की आवश्यकता नहीं। कारण यह है कि—"कोमलातपशोणाभ्रसंध्याकालसहोदरः" इत्यादि उदाहरणों में तो, संन्यासी और संध्याकाल की उपमा में अन्य कोई साधारणधर्म ज्ञात नहीं होता। अतः 'केसर के लेप' और 'भगवाँ वस्त्र' तथा 'कोमल धूप' और 'लाल बादल' इनका बिंब-प्रतिबिंबभाव अवश्य स्वीकार करना पड़ता है—बिना उसके काम नहीं चलता, पर इस पद्य में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव मानना आवश्यक नहीं। कारण, यहाँ 'मुख' और 'चंद्रमा' में 'सुंदरता' रूपी साधारणधर्म प्रतीत हो रहा है, अतः अन्य किसी धर्म की अपेक्षा नहीं। तो इसका समाधान यह है कि—यदि ऐसा ही माना जाय तो—

"यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।

प्रस्तुत प्रसंग में तो जिनसे वे धर्म संबंध रखते हैं उन संबंधियों में भी भेद है, इस कारण भी उन धर्मों को भिन्न माना जाना उचित है। सो इस तरह भिन्नरूप से प्रतीत होनेवाला धर्म को साधारण मानना विना किसी बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न एक धर्म से संबंध जोड़े नहीं बन सकता, अतः यह सिद्ध हुआ कि—वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म, शब्द द्वारा और भिन्न वस्तुओं से संबंध रखने द्वारा, भिन्न ही प्रतीत होते हैं, अतः वे स्वतः साधारण नहीं हो सकते, किंतु बिंबप्रतिबिबभावापन्न एक धर्म के संबंधी होने पर ही साधारण हो सकते हैं। ऐसी दशा में शुद्ध (केवल) वस्तु-प्रतिवस्तुभाव को उपमा का साधक कैसे माना जा सकता है? अतएव प्राचीनों का कहना है कि—वस्तु-प्रतिवस्तुभाव बिंब-प्रतिबिंबभाव से मिश्रित ही रहता है।

(गुरुमर्मप्रकाश का सार)।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

(मालतीमाधव १।३२)

मालती के प्रथम दर्शन के बाद माधव अपने मित्र मकरंद से कह रहा है—झुके वृन्तवाले कमल के समान बार-बार तिरछी गरदनवाले मुख को धारण करती हुई—अर्थात् बार बार लौटकर देखती हुई उस सुनयनी ने, चलते चलते मेरे हृदय में अमृत और विष से सना हुआ एक कटाक्ष तानकर मार-सा दिया। क्या कहूँ, उसके मारे बेहाल हूँ।"

इस भवभूति के पद्य में भी साधारण सौंदर्य से ही काम चल सकता था; फिर सभी आलंकारिकों ने जो 'गरदन' और 'वृन्त' में बिंब-प्रतिबिंबभाव तथा 'झुकने' और 'तिरछे होने' में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव माना है, वह विरुद्ध होगा; क्योंकि आपके हिसाब से तो वहाँ भी ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। सो साहित्य के मर्मज्ञों की राय के सामने आपका कथन कोई वस्तु नहीं; अतः जैसा माना जाता है वही ठीक है—आप अपनी पंडिताई यहाँ न अड़ाइए।

४—उपचरित (वस्तुतः न होते हुए भी आरोपित) **समानधर्म**; जैसे—

शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैकमयमूर्त्तेः।
येनाऽकारिषि मित्रं स विकलहृदयो विधिर्वाच्यः॥

जिस विधाता ने, वज्र-से कठोर चित्तवाले मुझे, जिसकी मूर्त्ति केवल अमृत से बनी है ऐसी उस (सीता) का मित्र बना दिया, वह हृदयशून्य विधाता निंदनीय है—अपवाद मेरा नहीं, किंतु विधाता का होना चाहिए, जिसने जानते-बूझते ऐसी बेमेल जोड़ी बना दी।

यह सीता को निकाल देने के अनंतर, अपने अंतःकरण के प्रति, रामचंद्र की उक्ति है। यहाँ पृथिवी का धर्म कठिनता (क्योंकि पृथिवी ही कठिन और कोमल हुआ करती है, चित्त नहीं, वह तो अमूर्त पदार्थ है) चित्त में उपचरित की गई है।

५—केवल शब्दरूप समानधर्म; जैसे—

"यत्र वसन्ति सुमनसि मनुजपशौ च शीलवन्तः सर्वत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव—अर्थात् जिस राज्य में सदाचार-संपन्न मंत्री लोग, मुनियों की तरह, विद्वान् और महामूर्ख सब मनुष्यों के विषय में 'समान' (एकत्र—बराबर आदर करनेवाले; अन्यत्र—समदृष्टि) हैं।"

यहाँ 'समान' शब्द का अर्थ उपमान और उपमेय दोनों में साधारण नहीं है; क्योंकि एक पक्ष में उसका जो अर्थ है वह दूसरे में नहीं। अतः यहाँ अर्थ के समानधर्मरूप न होने के कारण शब्द ही समानधर्म है।

पूर्वोक्त धर्मों का मिश्रण

इसी तरह इन धर्मों का मिश्रण भी हो सकता है; जैसे—

श्यामलेनाऽङ्कितं भाले बाले ! केनाऽपि लक्ष्मणा
मुखं तवान्तरासुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायते ॥

नायक कहता है—हे बाले ! किसी काले धब्बे (कस्तूरी के तिलक) से ललाट पर चिह्नित तेरा मुख, जिसके अंदर भौंरा सोया हुआ हो ऐसे खिले कमल का-सा आचरण करता है।

यहाँ 'ललाट पर का धब्बा' और 'सोया हुआ भौंरा' ये दोनों बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न हैं और वे 'अंबुजायते' पद में जो 'क्यङ्' प्रत्यय

है उसके अर्थ 'आचार' रूपी अनुगामी धर्म से अभिन्न होकर स्थित हैं। अतः उपमा में बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और अनुगामी धर्मों का मिश्रण है।

अथवा जैसे—

सिन्दूरारुणवपुषो देवस्य रदाङ्कुरो गणाधिपतेः।
सन्ध्याशोणाम्बरगतनवेन्दुलेखायितः पातु ॥

सिंदूर के कारण अरुणवर्ण शरीरवाले गणपति देव का संध्या-समय के लाल आकाश में स्थित चंद्रकला-सा आचरण करनेवाला, दाँत का अंकुर, आपकी रक्षा करे।

इस पद्य में 'सिंदूर से अरुणवर्ण शरीरवाले गणेशजी के दंतांकुर' को 'संध्या-समय के लाल आकाश की चंद्रकला' से उपमा दी गई है और 'चद्रकला' तथा 'दंतांकुर' का समान धर्म है 'आचरण', जो कि पद्य के 'लेखायित' शब्द के अंतर्गत 'क्यङ्' प्रत्यय का अर्थ है। वह 'आचरण' यहाँ 'सिंदूर से अरुण गणेश' और 'संध्या-समय के लाल आकाश' के रूप में आया है—अर्थात् इस तरह के गणेश और आकाश का अभेद ही वह आचरणरूपी समानधर्म है जिसके कारण 'चंद्रकला' और 'दंतांकुर' की तुलना होती है। उनमें से 'संध्या और सिंदूर' का तथा 'आकाश और गणेश' का ये तो बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न हैं और 'लाल (शोण) और अरुण' का यह एक वस्तु प्रतिवस्तुभाव। इन सब को अन्वित करने पर चंद्र-कला और दंतांकुर का विशेषणों सहित समग्र धर्म हुआ—'लाल' और 'अरुण' वस्तु-प्रतिबिंबभावापन्न धर्म से युक्त जो 'संध्या' और 'सिंदूर' का बिंब-प्रतिबिंबभाव है उससे युक्त 'आकाश' और 'गणेश' का बिंब-प्रतिबिंबभाव, जो कि अनुगामी धर्म 'आचरण'

से अभिन्न—अर्थात् आचरण रूप है। सारांश यह कि उपमा के समानधर्म* में अनुगामी धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म से युक्त दो बिंबप्रति-बिंबाभावापन्न धर्मों से मिश्रण है।

कहीं इन धर्मों का कार्य-कारणरूप से मिश्रण होता है; जैसे—

खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते।
अपायशङ्किभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा॥

कवि कहता है—जैसे विष के कारण साँप को दूर से ही छोड़ दिया जाता है—कोई उसके पास नहीं जाता, वैसे, विघ्न की आशंका करनेवाले लोगों द्वारा, कपटरूपी दोष के कारण, दुष्ट छोड़ दिया जाता है।

यहाँ 'दुष्ट' और 'साँप' का अनुगामी धर्म है 'दूर से छोड़ देना' और उसके कारण हैं 'विष' और 'कपट' रूपी बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न धर्म। सो अनुगामी और बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न धर्मों का कार्य-कारण रूप से मिश्रण है।

अथवा जैसे—

रूपवत्यपि च क्रूरा कामिनी दुःखदायिनी।
अन्तःकाटवसंपूर्णा सुपक्वेवेन्द्रवारुणी॥

---

* चंद्रकला' और 'दंतांकुर' की उपमा 'उज्ज्वलता' अथवा 'विशेष प्रकार की शोभा' आदि समानधर्म के द्वारा भी बन सकती है; पर कवि का तात्पर्य यहाँ इसी प्रकार के समानधर्म में है, अन्यथा वह इतने व्यर्थ विशेषण क्यों बढ़ाता?

—(गुरुमर्मप्रकाश का सारांश)

रूपवती होते हुए भी क्रूर कामिनी, अंदर कडुआस से भरी हुई इंद्रवारुणी (नारुन) की तरह, दुख देनेवाली है।

यहाँ 'रूपवती होना' और 'दुख देनेवाली होना' दो अनुगामी धर्म हैं। उनमें से 'दुख देनेवाली होना' रूपी समानधर्म के साथ 'क्रूरता' और 'कडुआस' रूपी बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न धर्म कार्य-कारण-रूप से मिश्रित हैं; क्योंकि कामिनी में 'क्रूरता' दुख देने का कारण है और इंद्रवारुणी में 'कडुआस'। और 'रूपवती होने' के साथ इन दोनों धर्मों—अर्थात् 'क्रूरता' और 'कडुआस'—का केवल सामानाधिकरण्य से मिश्रण है—अर्थात् 'रूपवती होने' के साथ इन धर्मों का संबंध है एक आधार में रहना; क्योंकि जिस वस्तु में वह धर्म रहता है उसी में ये भी रहते हैं। इसी तरह अन्य धर्मों से भी मिश्रण समझिए।

सुबुद्धि लोग ऐसे अन्य भेदों की अपने-आप तर्कना कर सकते हैं, जैसे—

यथा लतायाः स्तबकानतायाः
स्तनावनम्रे नितरां समाऽसि।
तथा लता पल्लविनी सगर्वे !
शोणाधरायाः सदृशी तवाऽपि ॥

नायक नायिका से कहता है—स्तनों के कारण झुकी हुई (प्रिये) ! जैसे तू, फूलों के गुच्छों से टूटी-पड़ती लता के अत्यंत समान है, वैसे हे मानिनि ! पल्लवों से युक्त लता भी अरुण अधर से युक्त-तेरे सदृश है।

इस पद्य का वाक्यार्थ यह हुआ कि—"(हे प्रियतमे !) 'स्तनों के कारण झुकी हुई मैं फूलों के गुच्छों से टूटी पड़ती लता का उपमान

हूँ—उसकी तुलना मुझसे की जा सकती है, मेरी उससे नहीं' यह अभिमान न कर; क्योंकि जब अरुण अधर से युक्त तू उपमेय होती है—अर्थात् जब अरुण अधर को लेकर तेरी तुलना करनी हो, तब पल्लव-युक्त लता तेरा उपमान होती है—अर्थात् उस समय तेरी भी तुलना उससे की जाती है।" इस वाक्यार्थ को सिद्ध करनेवाली है 'जैसे' और 'तैसे' पदों से प्रतिपादन की जानेवाली उपमा, जिसका कि कामिनी ('तू') उपमान है और लता उपमेय। सारांश यह कि पूर्वोक्त पद्य में "जैसे तू.........वैसे.........लता........." यह उपमा प्रधान है, क्योंकि वही उपर्युक्त वाक्यार्थ को सिद्ध करती है।

अब यह सोचिए कि—प्रत्येक उपमा में चार बातें अवश्य होती हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्य का वाचक और समानधर्म। उपर्युक्त उपमा में उपमान ('तू') उपमेय ('लता') और सादृश्यवाचक ('जैसे,' 'वैसे') ये तीन बातें तो हैं। अब समानधर्म पर विचार करिए। विचार करने से प्रतीत होगा कि—उपर्युक्त पद्य में इस प्रधान उपमा का समानधर्म हैं दो उपमाएँ—एक 'तू लता के समान है' यह और दूसरी 'लता तेरे सदृश है' यह; और जिनके प्रतिपादक क्रमशः 'समान' और 'सदृश' शब्द हैं तथा जो बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न विशेषणों से बनी हुई हैं। इन दोनों उपमाओं में से प्रथम उपमा का निरूपण करनेवाली 'कामिनी (तू)' है और दूसरी उपमा को 'लता'; क्योंकि ये दोनों क्रमशः इन दोनों उपमाओं की उपमान हैं; अतः निरूपकता संबंध से पहली उपमा 'कामिनी' में रहती है और दूसरी 'लता' में; जो कि क्रमशः प्रधान उपमा की उपमान और उपमेय हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ, प्रधान उपमा के उपमान और उपमेय में निरूपकता-सबंध से रहनेवाली और परस्पर बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न पूर्वोक्त दो उपमाएँ, जिनमें से एक का प्रतिपादक 'समान' शब्द है और दूसरी का 'सदृश' शब्द, प्रधान उपमा के समानधर्मरूप में स्थित हैं।

इन दोनों उपमाओं में से प्रधान उपमा के उपमान 'कामिनी' में निरूपकता-संबंध से रहनेवाली—अर्थात् 'तू लता के समान है' यह—उपमा प्रतिबिंबरूप है और प्रधान उपमा के उपमेय 'लता' में रहनेवाली—अर्थात् 'लता तेरे सदृश है' यह—उपमा बिंबरूप। इनमें से प्रतिबिंबरूप उपमा में, 'झुकना' और 'टूटी पड़ना' रूपी वस्तु-प्रतिवस्तु-भावापन्न धर्मों के विशेषणरूप में आए हुए, 'स्तन' और 'गुच्छे' बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न होकर समानधर्मरूप हैं; और इसी तरह बिंबरूप उपमा में 'अधर' और 'पल्लव' बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न होकर समानधर्मरूप हैं। अर्थात् पहली उपमा में समानधर्म वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म से मिश्रित बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न रूप है और दूसरी में केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न।

इस सबका सारांश यह हुआ कि—उपर्युक्त पद्य में तीन उपमाएँ—एक प्रधान और दो उसे सिद्ध करनेवाली—हैं, उनमें से प्रधान उपमा का समानधर्म है उसे सिद्ध करनेवाली दो उपमाएँ, जो कि परस्पर बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न हैं और सिद्ध करनेवाली दो उपमाओं में से प्रथम उपमा का समानधर्म है वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्मों से मिश्रित बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और दूसरी का है केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न।

आप कहेंगे—यह सब तो ठीक। पर (उत्तरार्ध की उपमा—'लता तेरे सदृश है'—में) जो आपने लता को उपमेय बताया सो नहीं बन सकता। बात यह है कि—जब हम 'उससे समानता रखता है' कहते हैं तब 'वह' उपमान और 'समानता रखनेवाला' उपमेय होता है; क्योंकि ऐसी दशा में 'वह' उपमा का निरूपण करता है और 'समानता-रखनेवाला' उपमा का आधार होता है और जब कहते हैं कि 'उसकी समानता रखता है', तब सादृश्य 'वह' का संबंधी—अर्थात् 'वह' में रहनेवाला—होता है और सादृश्य का निरूपण करनेवाला होता है

'समानता रखनेवाला', अतः यह सिद्ध होता है कि—तृतीयांत ('से' वाले) का उपमान होना और षष्ठ्यन्त (का, के की वाले) का उपमेय होना उचित है; क्योंकि सादृश्य का निरूपण करनेवाला उपमान और सादृश्य का आधार उपमेय होता है—यह नियम है। अब आप सोचिए कि—यहाँ जो 'लता तेरे सदृश है' यह कथन है, इसका अभिप्राय है—'लता से तेरी तुलना हो सकती है' यह। इस दशा में लता उपमा का निरूपण करनेवाली हुई। सो शब्द द्वारा ही लता की उपमानता सिद्ध हो जाती है। फिर आपने जो 'लता' को उपमेय बताया सो कैसे बन सकता है? इसका उत्तर यह है कि—'सदृश' शब्द से प्रतिपादित धर्मरूप उपमा में यद्यपि लता उपमान है, तथापि 'जैसे' और 'वैसे' शब्दों से प्रतिपादित प्रधान उपमा में लता के उपमेय होने में कोई बाधक नहीं। अर्थात् आपकी बात ठीक होने पर भी आप धर्मरूप उपमा की बात कह रहे हैं और हम प्रधान उपमा की; क्योंकि हमने तो 'लता' को प्रधान उपमा का उपमेय बताया है, न कि धर्मरूप उपमा का। अतः कोई आपत्ति नहीं।

इसी तरह अन्य भेद भी हो सकते हैं; जैसे—

यथा तवाननं चन्द्रस्तथा हासोऽपि चन्द्रिका।
यथा चन्द्रसमश्चन्द्रस्तथा त्वं सदृशी तव॥

अर्थात् जैसे तेरा मुख चंद्रमा है वैसे ही तेरी हँसी भी चाँदनी है; और जैसे चंद्रमा चंद्रमा के समान है—उसका कोई उपमान नहीं, वैसे तू तेरे सदृश है—तेरी भी तुलना किसी अन्य से नहीं हो सकती*।

---

* यहाँ पूर्वार्ध में दो 'रूपकों' की परस्पर उपमा है और उत्तरार्ध में दो 'अनन्वयों' की। उनमें से उत्तरार्ध के अनन्वयों की उपमा का समानधर्म है पूर्वार्ध के रूपकों की उपमा। —अनुवादक।

इस तरह धर्मों सहित पूर्वोक्त भेदों को, यथासंभव, गुणित करने पर उपमा के बहुतेरे भेद हो जाते हैं।

धर्मों की वाच्यता-आदि के कारण

उपमा के भेद

समानधर्म वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इस तरह तीन प्रकार से आता है। तदनुसार उपमा के तीन भेद होते हैं—वाच्यधर्मा, लक्ष्यधर्मा और व्यंग्यधर्मा। धर्म के वाच्य होने पर **वाच्यधर्मा** होती है, जिसके अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं। इसी तरह धर्म के व्यंग्य होने पर **व्यंग्यधर्मा** होती है, जिसके उदाहरण वहाँ आए हैं जहाँ धर्म का लोप हुआ है। रही **लक्ष्यधर्मा**, जो धर्म के लक्षणा द्वारा प्रतिपादित होने पर होती है; जैसे—

सर्प इव शान्तमूर्त्तिः श्वेवाऽयं मानपरिपूर्णः।
चीब इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम्।

एक मनुष्य आक्षेप करते हुए कहता है—यह साँप की तरह शातमूर्त्ति है, कुत्ते की तरह संमानपूर्ण है, नशेबाज की तरह सावधान है और बंदर की तरह अत्यंत निश्चेष्ट है—चुपचाप बैठा रहता है।

इस जगह सर्प आदि उपमान के कारण 'शांतमूर्त्ति' आदि शब्दों से विरुद्ध अर्थ लक्षित होते हैं। अर्थात् उन विशेषणों से लक्षणा द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि यह बड़ा अशांत, बड़ा तिरस्कृत, बड़ा प्रमत्त और बड़ा चपल है।

उपमा की उपस्कारता

यह उपमा मुख्य अर्थ को कहीं साक्षात् उपस्कृत (सुशोभित) करती है और कहीं दूसरे उपस्कारक (वस्तु अथवा अलकार) को

अलंकृत करने द्वारा—अर्थात् परंपरया। उनमें से साक्षात् उपस्कृत करनेवाली उपमा के बहुतेरे उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। अब परंपरया उपस्कारक होने का उदाहरण सुनिए—

नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो! यदवधि प्रवृद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनशोणकोणद्युतिः॥

कवि राजा से कहता है—हे प्रभो! आपके शत्रुओं के घर पर मत्त हाथी चिंघाड़ते हैं, घोड़ों की कतारें शोभित होती हैं और बंदीजन विरुदावली पढ़ते हैं, पर यह सब तब तक है जब तक कि आपके नेत्र-कोण की, प्रलय-काल की अग्नि के समान, कांति नहीं बढ़ी।

यहाँ राजा के विषय में कवि का प्रेम प्रधानतया प्रतिपाद्य है और उसे उपस्कृत करनेवाली है 'ज्योंही तुम्हारे कोप का उदय होगा त्योंही शत्रुओं की संपदाएँ सर्वथा भस्म हो जाँयगी' यह वस्तु, एवं इस वस्तु को उपस्कृत करनेवाली है 'नेत्र-कोण की अरुण कांति' को दी गई 'प्रलय-काल की अग्नि' की उपमा।

वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों प्रकार की उपमाएँ अलंकाररूप हो सकती हैं

यह उपमा, जब सादृश्य-वाचक शब्द—इव, यथा, वा आदि (और हिंदी में 'जैसे' 'सा' आदि)—द्वारा, प्रतिपादित होती है, तब वाच्यरूप में अलंकार होती है। यही उपमा लक्ष्य—लक्षणा द्वारा प्रतिपादित—होने पर भी अलंकार रूप में दिखाई देती है; जैसे—

नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि, प्रकाश-
मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः ।
नैवाऽवरोहति कदापि च मानसान्मे
नाभेर्निभा सरसिजोदरसोदरायाः ॥

नायक अपने मित्र से कहता है—सबेरा हो गया। उजाला दिखाई पड़ने लगा। कमल-नयनी ढीली पड़ी धोती की ग्रन्थि को बाँधकर सेज छोड़ना चाहती थी। उस समय, कमल-गर्भ की सगी बहिन, उसकी नाभि की जो शोभा थी वह मेरे हृदय से, कभी नहीं उतर पाती।

यहाँ 'नाभि' को 'कमल-गर्भ की सगी बहिन' कहा गया है। 'सगी बहिन' का मुख्य अर्थ है 'एक उदर से उत्पन्न होनेवाली'। यह मुख्य अर्थ इस जगह नहीं बन सकता; अतः यहाँ लक्षणा करनी पड़ेगी। उस लक्षणा का प्रयोजन है—शोभा में बराबरी का हिस्सा लेना—अर्थात् ईश्वर के यहाँ से शोभा का विभाग होते समय दोनों को उसका समान रूप से प्राप्त होना। इस प्रयोजन के विद्यमान होने से 'सगी बहिन' का अर्थ होता है—'समान' और तदनुसार उससे 'आर्थी उपमा' प्रतीत होती है। वह लक्ष्य उपमा 'उतर पाती' इस पद के लाक्षणिक अर्थ 'विस्मृत होने' के निषेध—अर्थात् 'नहीं विस्मृत होती' इस अर्थ—द्वारा प्रतीत होनेवाली 'स्मृति'-नामक चित्तवृत्ति को शोभित (उपस्कृत) कर रही है।

इसी तरह प्रतिभट, प्रतिमल्ल आदि शब्दों का भी प्रयोजन है 'उसे नीचा कर देना', 'उसके शोभारूपी सर्वस्व का हरण कर लेना' इत्यादि। अतः उन शब्दो की भी 'सादृश्य से युक्त (अर्थात् 'सदृश')' अर्थ में लक्षणा ही है, व्यंजना नहीं। क्योंकि ऐसे स्थलों में मुख्यार्थ का बाध होता है। और यह सिद्धांत है कि—मुख्यार्थ के बाधित होने पर जो

अन्य अथ प्रतीत होता है वह व्यंग्य नहीं किंतु लक्ष्य होता है। हाँ, यहाँ जो प्रयोजन—'बराबरी का हिस्सा लेना' आदि—प्रतीत होता है, उसमें तो व्यंजना ही है।

किसी जगह उपमा व्यंग्य होने पर भी अलंकाररूप होती है; जैसे—

अद्वितीयं रुचाऽऽत्मानं मत्वा किं चन्द्र ! हृष्यसि।
भूमण्डलमिदं मूढ ! केन वा विनिभालितम् ॥

हे चंद्र ! तू अपने-आपको कांति में अद्वितीय समझकर क्यों प्रसन्न हो रहा है—क्यों इतना गर्व कर रहा है ? अरे मूर्ख ! इस भूमंडल को किसने खोज देखा है—न-जाने कहाँ क्या मिल जाय !

यह, किसी विदेशवासी की, किरणों से अपने को संतप्त करते हुए चंद्रमा के प्रति उक्ति है। इस उक्ति से यह अभिव्यक्त होता है कि—मेरी प्रियतमा, जो कभी बाहर नहीं निकली और इसी कारण जिसे तू भी नहीं देख पाया, उसका मुख तेरे समान है। यह व्यंग्य उपमा 'मूर्ख' पद से ध्वनित होनेवाली चंद्रमा के विषय में वक्ता की 'असूया' को अलंकृत करती है।

'चित्र-मीमांसा' पर विचार

१

क्या व्यंग्य-उपमा अलंकार नहीं हो सकती ?

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—अप्पयदीक्षित ने (अलंकाररूप) उपमा के लक्षण में जो 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण दिया है—अर्थात् यह सिद्ध किया है कि कोई भी 'व्यंग्य' अलंकार नहीं हो सकता, सो अनुचित ही है, क्योंकि 'व्यंग्य होने' और 'अलंकार होने' में किसी तरह का विरोध नहीं है। रही 'प्रधान व्यंग्य' के अलंकार न होने की

बात; सो वैसी दशा में अलंकार न होना उचित है; क्योंकि प्रधानता और अलंकारता में विरोध है—जो प्रधान हो वह अलंकार नहीं हो सकता। पर, प्रधान व्यंग्य में अलंकार के लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये (सादृश्य के साथ) 'व्यंग्य न हो' यह नहीं, किंतु 'शोभित करनेवाला' यह विशेषण देना चाहिए। यदि 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण दिया जायगा तो उपर्युक्त ('अद्वितीयम्...' पद्यवाली), 'असूया' की अलंकाररूप (असूया का शोभित करनेवाली) उपमा में अव्याप्ति होगी—उसे उपमा के अलङ्कार न कहा जा सकेगा।

आप कहेंगे—यदि उपमा के लक्षण में 'शोभित करनेवाली यह विशेषण दिया जायगा और 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण न दिया जायगा तो विशिष्टोपमा—अर्थात् बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न साधारणधर्मवाली उपमा—आदि अलंकारों के स्थान पर बिंब-प्रतिबिंब-रूप विशेषणों की परस्पर होनेवाली व्यंग्य उपमा में, इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि वह उपमा प्रधान उपमा को 'शोभित करनेवाली' ही होती है, स्वतः उसका कुछ उपयोग नहीं होता; अतः उपमा के लक्षण में 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण आवश्यक है तो यह कुछ नहीं। कारण, ऐसे स्थल में विशेषण आदि की उमाएँ वाच्य-सिद्धि का अंग होती हैं—उन्हीं के कारण प्रधान उपमा सिद्ध होती है, अतः वे उपमाएँ गुणीभूतव्यंग्य-रूप होती हैं। उन्हें अलंकार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे किसी सिद्ध अर्थ को सुशोभित नहीं करतीं, किंतु उपमा आदि अर्थ को सिद्ध करती हैं—उनके बिना उपमादिक सिद्ध ही नहीं हो पाते। सो उनके अलंकार होने की शंका ही व्यर्थ है। फिर उनके बचाने के लिये 'व्यंग्य न हो' इस विशेषण की क्या आवश्यकता ?

२
भेदों के विषय में

और जो उन्हीं द्रविडशिरोमणिजी ने कहा है कि—"यह उपमा

संक्षेप से तीन प्रकार की है—१—कहीं अपनी विचित्रता में ही पूरी हो जानेवाली; जैसे—

'सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे॥

(रघुवंश ७ सं०)

(अज का रण-वर्णन है। कवि कहता है—घोड़ों की टापों आदि से उड़ी हुई रज की जड़ रुधिर ने काट दी। उस रुधिर के ऊपर वायु से उड़ती रज, अंगारे-मात्र बची हुई आग के (ऊपर उड़ते), पहले से निकले हुए, धूएँ की तरह शोभित हो रही थी।)' इत्यादि में।

२—कहीं प्रतिपादित अर्थ को सिद्ध करनेवाली; जैसे—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाऽऽङ्कः॥

('कुमारसंभव' में हिमालय का वर्णन है—अनंत रत्नों के उत्पत्ति-स्थान हिमालय के सौभाग्य को, हिम (बरफ), नष्ट न कर पाया—उसके कारण हिमालय की सुन्दरता में कोई फेर न आ सका। कारण, एक दोष गुणों के समूह में डूब जाया करता है, जैसे चंद्रमा की किरणों में कलंक।)' इत्यादि में।

और ३—कहीं ऐसी कि जिसमें व्यंग्य प्रधान होता है।"

सो यह कथन भी सुंदर नहीं। क्योंकि "नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव" इसमें वाच्यवस्तु को सुशोभित करनेवाली, उपमा का इन-भेदों में से किसी में अंतर्भाव नहीं हो सकता।

इन भेदों को देखकर हमें आपकी, उपमा के लक्षण में 'व्यंग्य न हो' इस विशेषण देने की बात फिर से याद आ जाती है। हमें यह

नहीं समझ पड़ता कि—जब अलंकाररूप उपमाओं में आपने 'अपनी विचित्रता मात्र में पूरी हो जानेवाली' उपमा का संग्रह किया है, तब व्यंग्य उपमा के हटाने के लिये 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण देने का आपको क्यों दुराग्रह है? ओह! यह बड़े अन्याय की बात है कि—जिसका लक्षण नहीं बनाना है (जो अलंकाररूप है ही नहीं) उसका संग्रह किया गया है और जिसका लक्षण बनाना चाहिए (जो अलंकार-रूप है) वह छोड़ दी गई। आप कहेंगे—प्राचीनों ने भी तो ऐसा ही किया है—उन्होंने भी तो 'अपनी विचित्रता मात्र में समाप्त' उपमा के हटाने के लिये कोई यत्न नहीं किया। यदि उसका संग्रह उन्होंने न किया होता तो उसके विषय में क्यों न वे कुछ लिखते? तो यह उचित नहीं। कारण; उन्होंने तो 'साधारण उपमा' का लक्षण बनाया है; अतः जैसे उनके लक्षण में व्यंग्य उपमा का संग्रह होता है वैसे ही इस उपमा का भी संग्रह अनुचित नहीं। पर आपको यह उचित नहीं; क्योंकि आपने प्रयत्नपूर्वक व्यंग्य उपमा को हटाकर स्पष्ट शब्दों में अलंकाररूप उपमा का लक्षण बनाया है। आप कहेंगे—यहाँ 'अपनी विचित्रता मात्र में समाप्त' उपमा का संग्रह, ग्रंथ के व्यंग्य के उपस्कारक रूप में किया गया है—अर्थात् ऐसी उपमा की समाप्ति यद्यपि अपनी विचित्रता मात्र में हो जाती है, तथापि वह ग्रंथ के प्रधान प्रतिपाद्य व्यंग्य वीररस की तो उपस्कारक ही हुई, अतः उसकी अलंकारों में गणना उचित है। तो ऐसी दशा में 'अपनी विचित्रता मात्र में समाप्त' यह कथन आपके विरुद्ध हो जायगा, जो ग्रंथ के व्यंग्य को उपस्कृत करता है उसकी समाप्ति अपनी विचित्रता मात्र में कैसे हो सकती है, फिर उसे स्पष्ट शब्दों में उपस्कारक ही क्यों नहीं कह देते?

और जो आपने "अनंतरत्नप्रभवस्य......" की बात लिखी है, सो इस पद्य में तो उपमालंकार ही नहीं है—आप उसे उपमा का उदाहरण कैसे बता रहे हैं? कारण यह है कि—इस पद्य के पूर्वार्ध में जो बात

लिखी गई है उसके समर्थन के लिए उत्तरार्ध में यह एक सामान्य बात लिखी गई है कि—'गुण-समूह के साथ रहनेवाला एक दोष दोष रूप से स्फुरित नहीं हुआ करता।' यह सामान्य बात, जब तक कोई विशेष उदाहरण न दिया जाय, तब तक अच्छी तरह समझ में नहीं आती; इस कारण, 'चंद्रमा की किरणों के साथ रहनेवाले कलंक' का उदाहरण दिया गया है, न कि 'कलंक' का उपमानरूप में निर्देश किया गया है। कलंक के उपमान न होने का कारण यह है कि—सामान्य से विशेष का भेद नहीं होता और बिना भेद के तुलना की नहीं जा सकती; क्योंकि भेदमिश्रित सादृश्य को ही उपमा कहा जाता है। सो यहाँ उपमालंकार का प्रसंग नहीं, यह तो उपमा से अतिरिक्त अलंकार है, जिसका नाम है 'उदाहरणालंकार'। जैसे "इको यणचि (अर्थात् कोई स्वर आगे हो तो इ, उ, ऋ, ऌ इन अक्षरों को क्रमशः य, व, र, ल ये अक्षर हो जाते हैं") इस सामान्य वाक्यार्थ के समझने के लिये 'दध्युदकम्' इस जगह 'दधि' शब्द के इकार के आगे 'उदक' शब्द का उकार आ जाने पर दधि शब्द के इकार को यकार हो गया" इस दूसरे वाक्य से सामान्य अर्थ का विशेषरूपेण उदाहरण दिया जाता है, वही बात इस उदाहरणालंकार में भी होती है। इस बात का विवेचन उदाहरणालंकार के प्रसंग में किया जायगा।

लुप्ता में भी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म होता है

इसके अतिरिक्त अप्पयदीक्षित ने जो यह लिखा है कि—"लुप्ता में तो ऐसे (साधारणधर्म के कारण होनेवाले) भेद नहीं होते; क्योंकि उसमें साधारणधर्म के अनुगामी होने का नियम है—अर्थात् लुप्तोपमा में साधारणधर्म अनुगामी ही होता है, अन्य किसी प्रकार का नहीं।" सो भी ठीक नहीं। कारण,

"मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाऽधिधरणि धृतराष्ट्रः।

अर्थात् जगत् में पांडु राजा मलयाचल के समान है (जिसने चंदन के समान सब संसार को सुखित करनेवाले पांडवों को उत्पन्न किया) और धृतराष्ट्र (इस) पृथ्वी पर बामले के समान है (जिसने साँपों के समान सबको कष्ट देनेवाले कौरवों को उत्पन्न किया) ।"

इस धर्मलुप्ता उपमा में कोई अनुगामी धर्म ज्ञात नहीं होता; अतः समान धर्म के रूप में चंदनों और पांडवों का एवं साँपों और दुर्योधनादि का बिंब-प्रतिबिंब-भाव ही स्वीकार करना पड़ेगा। 'बिंब-प्रतिबिंब-भाव के लिये पदार्थों का शब्द द्वारा वर्णन अनिवार्य है' यह आग्रह तो विद्वानों को उचित है नहीं; कारण, औचित्य इसी में है कि बिंब-प्रतिबिंब-भाव को श्रौत और आर्थ इस तरह दो प्रकार का माना जाय। उनका विषय-विभाग इस तरह है कि जहाँ बिंब-प्रतिबिंब बननेवाले पदार्थ शब्द से गृहीत हों वहाँ श्रौत बिंब-प्रतिबिंब-भाव होता है और जहाँ अर्थतः प्रतीत होते हों वहाँ आर्थ। अतएव तो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि में प्रस्तुत और अप्रस्तुत वाक्यार्थों का सादृश्य संगत हो सकता है, जिसका मूल है उन वाक्यार्थों के अवयवों का बिंब-प्रतिबिंब-भाव। यदि आर्थ बिंब-प्रतिबिंब-भाव न माना जाय तो अप्रस्तुत वाक्यार्थ के साथ प्रस्तुत वाक्यार्थ का सादृश्य कैसे बन सकता है? क्योंकि वहाँ अप्रस्तुत वाक्यार्थ का प्रतिपादन करने के लिये कोई शब्द नहीं होता।

उपमा के अन्य आठ भेद

यह उपमा भी रूपक की तरह (१) केवल निरवयवा, (२) मालारूप निरवयवा, (३) समस्तवस्तुविषया सावयवा, (४) एकदेशविवर्तिसावयवा, (५) केवल श्लिष्टपरंपरिता, (६) मालारूप श्लिष्टपरंपरिता, (७) केवल शुद्ध परम्परिता और (८) मालारूप शुद्ध परंपरिता—इस तरह आठ प्रकार की होती है।

केवल निरवयवा का अर्थ

(१) केवल निरवयवा में 'केवल होने' का अर्थ है, किसी माला (एक ही विषय की अनेक उपमाओं) के अंतर्गत न होना और 'निरवयव होने' का अर्थ है—किसी अन्य उपमा की अपेक्षा न रखना। अर्थात् 'केवल निरवयवा उपमा' का पूरा अर्थ है—किसी अन्य उपमा की अपेक्षा न रखनेवाली अकेली उपमा। इसके सैकड़ों उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं।

(२) मालारूप निरवयवा; जैसे—

आह्लादिनी नयनयो रुचिरैन्दवीव
कण्ठे कृताऽतिशिशिराऽम्बुजमालिकेव।
आनन्दिनी हृदिगता रसभावनेव
सा नैव विस्मृतिपथं मम जातु याति॥

नायक मित्र से कहता है—नेत्रों को आह्लादित करनेवाली चंद्रमा की कांति की तरह, कण्ठ में पहनी हुई अत्यंत शीतल कमलों की माला की तरह और हृदय में प्रविष्ट आनंददायिनी रस की भावना (आस्वादन) की तरह, वह (नायिका), किसी समय भी, मेरे विस्मृति पथ में नहीं जाती—उसे मैं कभी नहीं भूल पाता।

अथवा जैसे—

कलेव सूर्यादमला नवेन्दोः कृशानुपुञ्जात्प्रतिमेव हैमी।
विनिर्गता यातुनिवासमध्याद्ध्याबभौ राघवधर्मपत्नी॥

कवि कहता है—(अमावास्या के अनंतर) सूर्य से निकली हुई (क्योंकि अमावास्या के दिन चंद्रमा सूर्य से मिल जाता है) चंद्रमा की निर्मल नवीन कला की तरह और अग्निसमूह से निकली हुई सोने

की प्रतिमा की तरह, राक्षसों के निवास (लंका) के मध्य से निकली हुई रामचंद्र की धर्मपत्नी (भगवती सीता) अधिक सुशोभित हुई।

इन दो पद्यों में प्रथम पद्य की उपमाओं में उपमान-उपमेय का समानधर्म (आह्लादित करना आदि) अनुगामी है और देश-काल भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि जो देश-काल चंद्रकला आदि (उपमानों) का है वही नायिका (उपमेय) का नहीं है। और दूसरे पद्य की उपमाओं में समान धर्म बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न है (क्योंकि 'सूर्य' और 'अग्नि-समूह' लका के प्रतिबिंब-रूप में आए हैं) और देश तथा काल एक हैं; जो 'चंद्र-कला' का सूर्य में से निकलने का काल है वही सीता का लका में से निकलने का काल है (क्योंकि रावण का वध अमावस्या को हुआ था और सीता शुक्ल प्रतिपदा को निकली थी) और जो 'सोने की प्रतिमा' निकलने का देश (स्थल) है 'अग्नि-समूह', उसी में शुद्ध होकर सीता भी लंका से निकली थी। यह है इन दोनों उदाहरणों की परस्पर विशेषता।

दूसरे पद्य में 'अधिक शोभित होने रूपी' वाच्यार्थ को 'चद्रकला' तथा 'सोने की प्रतिमा' की उपमा उपस्कृत करती हैं, अतः यह मालोपमा वाच्य अर्थ की उपस्कारिका है। यहाँ सूर्यमंडल को लंका का प्रतिबिंब इसलिये बनाया गया है कि—वह चंद्र-कला के अत्यंत विनाश का कारण है और अत्यधिक चमकवाला है और लंका भी सीता के अत्यंत विनाश का (क्योंकि थोड़े दिन और रहती तो उसका विनाश हो ही जाता) कारण थी और सुवर्णमयी होने के कारण अत्यधिक चमकवाली थी; और अग्नि-समूह को इसलिये लंका का प्रतिबिंब बनाया है कि वह 'सोने की प्रतिमा' की निष्कलंकता का प्रकट करनेवाला—निखरा देनेवाला और भस्मरूप हो जाने का कारण है और लंका भी सीता को निष्कलंक प्रकट करनेवाली थी तथा भस्म होने का कारण थी। सो इनका बिंब-प्रतिबिंब होना उचित है।

यह उपमा 'मालारूप' इसलिये कहलाती है कि—यहाँ एक उपमेयवाली अनेक उपमाएं एक साथ रहती हैं। अर्थात् जहाँ ऐसी उपमाएँ हों वहाँ मालोपमा समझो।

समस्तवस्तुविषया सावयवा; जैसे—

कमलति वदनं यस्यामलयन्त्यलका मृणालतो बाहू।
शैवालति रोमावलिरद्भुतसरसीव सा बाला ॥

कवि कहता है—जिसमें मुख कमल के समान, अलक भौरों के समान, भुजाएँ मृणालों के समान और रोमावली सेवाल के समान आचरण करते हैं, वह बाला एक अद्भुत सरसी है।

अथवा जैसे—

ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता सकल-कलाकान्तवदनश्रीः।
राकेव रम्यरूपा राघवरमणी विराजते नितराम्।

कवि कहता है—जिसकी सुंदर हँसी चाँदनी की सी कांतिवाली है, जिसकी मुख-शोभा पूर्ण चंद्रमा के समान मनोहर है, वह रमणीय रूपवाली श्री रामचंद्र की रमणी—भगवती सीता—पूरे चंद्रमावाली पूर्णिमा के समान, अत्यंत शोभित हो रही है।

यहाँ सभी उपमानों का शब्दों द्वारा ही वर्णन है—कोई भी अर्थतः आक्षिप्त नहीं करना पड़ता, अतः यह उपमा **समस्तवस्तुविषया** है और अंगरूप उपमाओं से (मुख्य उपमा) सिद्ध होती है—यदि वे न हों तो मुख्य उपमा बन ही न सके अतः **सावयवा** है।

एकदेशविवर्त्तिनी सावयवा; जैसे—

मकरप्रतिमैर्महाभटैः कविभी रत्नसमैः समन्वितः।
कवितामृत-कीर्त्तिचन्द्रयोस्त्वमिहोर्वीरमणाऽसि कारणम्।

कवि कहता है—हे राजन्! मगरों के समान महान् वीरों से और रत्नों के समान कवियों से युक्त आप, कवितामृत और कीर्त्तिचंद्र के, कारण अर्थात् उत्पन्न करनेवाले—हो।

यहाँ उत्तरार्ध में 'कवितामृत' और 'कीर्तिचंद्र' शब्दों में उपमित-समास ही है—तदनुसार उनका अर्थ 'अमृत के समान कविता' और 'चंद्रमा के समान कीर्त्ति' होता है; विशेषण-समास नहीं; क्योंकि विशेषण-समास से ताद्रूप्य की प्रतीति होती है, जिसका प्रस्तुत में कुछ उपयोग नहीं। यहाँ राजा और समुद्र की उपमा, शब्द द्वारा वर्णित न होने पर भी—अर्थात् उसका साक्षात् प्रतिपादक कोई शब्द न होने पर भी—अंगरूप उपमाओं से आक्षिप्त होकर प्रतीत होती है। सो एकदेश (एक भाग) में अन्यथा प्रतीत होने—अर्थात् उपमा के स्पष्ट प्रतीत न होने—के कारण इस उपमा को 'एकदेशविवर्त्तिनी' कहा जाता है। सारांश यह कि—जहाँ किसी भाग में उपमा स्पष्ट हो और किसी में अर्थतः प्राप्त, ऐसे स्थल पर 'एकदेशविवर्त्तिनी' उपमा मानी जाती है।

केवल श्लिष्ट परंपरिता; जैसे—

नगरान्तर्महीन्द्रस्य महेन्द्रमहितश्रियः।
सुरालये खलु क्षीबा देवा इव विरेजिरे॥

कवि कहता है—वह महीपति महेंद्र के समान संपत्तिशाली था। उसके नगर के अंतर्गत 'सुरालय' में, नशेबाज लोग, देवताओं की तरह शोभित होते थे।

यहाँ 'सुरालय' शब्द का प्रकरणप्राप्त अर्थ है 'मदिरालय', पर उसी शब्द से श्लेष द्वारा 'सुमेरु' अर्थ की भी उपस्थिति हो जाती है।

इन दोनों अर्थों—अर्थात् 'मदिरालय और सुमेरु'—की उपमा, नशेबाजों को देवताओं की उपमा देने का उपाय है—बिना उस उपमा के नशेबाजों के साथ देवताओं की उपमा बन नहीं सकती। अतः यहाँ 'श्लिष्टपरंपरिता' उपमा मानी गई है। साराश यह कि—**जहाँ श्लिष्ट शब्द से प्रतिपादित अर्थों की उपमा मुख्य उपमा को सिद्ध करती हो वहाँ 'श्लिष्टपरंपरिता' उपमा होती है।** यहाँ 'परंपरित' शब्द का पारिभाषित अर्थ है 'एक-दूसरे की उपमा का उपाय होना'—अर्थात् दोनों उपमाओं में से एक के भी न होने पर उपमा का न बन सकना*।

---

* यहाँ यह बात और समझ लेने की है कि—यद्यपि 'सावयवा' में भी अंगरूप उपमाएँ मुख्य उपमा का और मुख्य उपमा अंगरूप उपमाओं की समर्थक होती हैं, तथापि वहाँ उनके बिना भी काम चल सकता है। जैसे पूर्वोक्त "ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता········" पद्य में यदि हँसी को चाँदनी की उपमा दी जाय, तथापि 'उज्ज्वलता' आदि के कारण 'सीता में पूर्णिमा की समानता' बन सकती है। पर परंपरितउपमा में ऐसा नहीं हो सकता। जैसे इस पद्य में यदि मदिरालय को सुमेरु की उपमा न दी जाय तो नशेबाजों को देवताओं की उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि देवताओं में और नशेबाजों में और किसी प्रकार की समानता नहीं हो सकती। पर जब हम (एक शब्द से गृहीत होने के कारण) सुरालय (मदिरालय) को सुरालय (सुमेरु) के समान मान लें तो नशेबाजों और देवताओं में सदृशता के कारण अभिन्न माने हुए 'सुरालय में रहना' रूपी समानधर्म बन जाता है, अतः उनकी उपमा ठीक हो जाती है। इधर मदिरालय की सुमेरु से उपमा भी तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि देवताओं और नशेबाजों की समानता न मान ली जाय, अन्यथा मदिरालय और सुमेरु

मालारूप न होने के कारण इस उपमा को 'केवल' कहा जाता है। सो उपर्युक्त पद्य में 'केवल श्लिष्टपरंपरिता' उपमा हुई।

मालारूप श्लिष्टपरंपरिता; जैसे—

महीभृतां खलु गणे रत्नसानुरिव स्थितः।
त्वं काव्ये वसुधाधीश! वृषपर्वेव राजसे॥

कवि कहता है—हे राजन् 'महीभृतों' (=पर्वतों के समान राजाओं) के समूह में सुमेरु की तरह स्थित आप, 'काव्य' (शुक्राचार्य के समान कविता) के विषय में, वृषपर्वा (एक दानवों का राजा) की तरह शोभित होते हैं।

यहाँ 'महीभृत्' और 'काव्य' शब्दों के श्लेष द्वारा उपस्थित (अप्रकृत अर्थ) 'पर्वतों' और 'शुक्राचार्य' के साथ (प्रकृत अर्थ) 'राजाओं' और 'कविता' की उपमाएँ, वर्णनीय राजा की, सुमेरु और वृषपर्वा के साथ उपमाओं का उपाय है—अर्थात् श्लेष द्वारा उपस्थित अर्थों की उपमाएँ मुख्य उपमाओं को सिद्ध करती हैं। सो यह उपमा 'श्लिष्टपरंपरिता' है और एक से अधिक (दो) होने के कारण 'मालारूप' है।

आप कहेंगे—इस पद्य में 'महीभृत्' शब्द के दो अर्थ 'पर्वत' और 'राजा', और 'काव्य' शब्द के दो अर्थ 'शुक्राचार्य' और 'कविता'

की समानता मानी ही कैसे जा सकती है? अतः यह सिद्ध हुआ कि परंपरित उपमा में दोनों उपमाएँ एक-दूसरे की उपाय रूप होती हैं—उनमें से एक के भी न होने पर दोनों उपमाएँ नहीं बन सकतीं। रही अन्योन्याश्रय दोष की बात, सो वह 'रूपक' के प्रकरण में निवृत्त कर दी जायगी। (नागेश)

की परस्पर उपमा बताकर यह अर्थ सिद्ध किया गया है कि—'पर्वतों के समान राजाओं में आप सुमेरु के समान हैं' और 'शुक्राचार्य के समान कविता के विषय में आप वृषपर्वा के समान हैं'। सो इनमें से श्लिष्ट शब्दों के अर्थों की परस्पर उपमाएँ—अर्थात् 'पर्वतों के समान राजा' और शुक्राचार्य के समान कविता' ये उपमाएँ—नहीं बन सकतीं। कारण, उपमा तभी हो सकती है जब कि उपमान और उपमेय के वाचक शब्द भिन्न-भिन्न रूप में आए हों, न कि एक ही शब्द से दोनों अर्थों के बोध होता हो। सो यहाँ अभेद का बोध होना चाहिए, न कि सादृश्य का—अर्थात् रूपक होना चाहिए उपमा नहीं। इसका उत्तर यह है कि—श्लेष में जिस तरह 'एक शब्द से दो अर्थों के ग्रहण' के रूप में उन अर्थों का अभेद माना जाता है, वैसे ही 'एक शब्द से ग्रहण करने' रूपी समान धर्म के कारण उन दोनों अर्थों में सादृश्य भी माना जा सकता है और वही प्रकृत में सिद्ध की जानेवाली उपमा के अनुकूल है। सारांश यह कि—जैसे 'एक शब्द से ग्रहण किए जाने' के रूप में श्लिष्ट अर्थों को अभिन्न माना जाता है वैसे ही 'एक शब्द से ग्रहण करने' रूपी समानधर्म द्वारा उनमें सादृश्य भी माना जा सकता है—अर्थात् केवल अभेद ही माना जाय यह नियम नहीं है। ऐसी दशा में जहाँ सिद्ध किया जानेवाला—अर्थात् अंगी—रूपक हो वहाँ अंगरूप श्लिष्ट अर्थों में अभेद मानना चाहिए और जहाँ उपमा हो वहाँ सादृश्य। सो यहाँ उपमा के अंगी होने के कारण श्लिष्ट अर्थों में भी उपमा मानने में कोई बाधा नहीं।

केवल शुद्धपरंपरिता; जैसे—

राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः।
द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाऽभवत्॥

कवि कहता है—सब धर्मों का आश्रयरूप युधिष्ठिरनामक राजा, लोगों के लिये ऐसा था, जैसा वृक्षों के लिये चैत का महीना—अर्थात् उसके राज्य में सब लोग यथेष्ट फूलते-फलते थे,

(यहाँ बिना 'चैत' और 'युधिष्ठिर' की उपमा के 'वृक्षों और लोगों' की उपमा नहीं बन सकती, और न 'वृक्षों और लोगों की उपमा के बिना 'चैत' और 'युधिष्ठिर' की उपमा बना सकती है; अतः यह उपमा **परंपरिता** है, श्लेष-रहित है अतः **शुद्ध** है और एक है अतः **केवल** है।

मालारूप शुद्ध परंपरिता; जैसे—

मृगतां हरयन् मध्ये वृक्षतां च पटीरयन्।
ऋक्षतां सर्वभूपानां त्वमिन्दवसि भूतले॥

हे राजन्! सब राजा मृगों का-सा आचरण करते हैं उनके बीच आप सिंह का-सा आचरण करते हैं, सब राजा वृक्षों का-सा आचरण करते हैं उनके बीच आप चंदन का-सा आचरण करते हैं और सब राजा तारों का-सा आचरण करते हैं उनके बीच आप चंद्रमा का सा आचरण करते हैं।

(यहाँ वैसी परस्पराश्रित अनेक उपमाएँ होने के कारण यह 'मालारूप शुद्धपरंपरिता' उपमा कहलाती है।)

इन परंपरित उपमा के उक्त उदाहरणों में दोनों उपमानों और दोनों उपमेयों की परस्पर अनुकूलता होने पर उपमाओं की एक-दूसरी के प्रति उपायता निरूपण की गई है।

(अब) उपमान से उपमान के और उपमेय से उपमेय के परस्पर प्रतिकूल होने पर परंपरिता उपमा; जैसे—

राजा दुर्योधनो नाम्ना सर्वसत्त्वभयङ्करः।
दीपानामिव साधूनां झञ्झावात इवाऽभवत्॥

अर्थात् सब प्राणियों के लिये भयंकर दुर्योधननामक राजा सत्पुरुषों के लिये ऐसा था जैसा दीपों के लिये वर्षासहित वायु।

यहाँ 'दीपक' और 'वर्षा सहित वायु' ये दोनों उपमान तथा 'सत्पुरुष' और 'दुर्योधन' ये दोनों उपमेय, यद्यपि परस्पर प्रतिकूल हैं—एक-दूसरे के विरोधी हैं—तथापि (अंगी और अंग) दोनों उपमाओं की परस्पर अनुकूलता होने से वे (उपमाएँ) एक दूसरे की साधक ही हो गई हैं—उनमें विरुद्धता न रही।

इसी तरह—

सरोजतामथ सतां शिशिरर्त्तवताऽधुना।
दर्भतां सर्वधर्माणां राज्ञानेन विदर्भितम्॥

अर्थात् कमलों का सा आचारण करनेवाले सत्पुरुषों के साथ शिशिर-ऋतु (शीतकाल) का सा अचारण करनेवाले इस राजा ने, इस समय, दर्भ का सा आचरण करनेवाले सब धर्मों के साथ विदर्भ देश (जहाँ दर्भ नहीं उगते) का सा आचरण किया है। अर्थात् यह राजा जैसे शीतकाल कमलों का विरोधी होता है वैसे सत्पुरुषों का विरोधी है और जैसे विदर्भ देश दर्भों का विरोधी है वैसे सब धर्मों का विरोधी है।

इत्यादिक उपमाओं में मालारूप होने पर भी वही बात है—उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता है। अर्थात् पहला उदाहरण **केवल शुद्ध परंपरिता** उपमा का है और दूसरा **मालारूप शुद्ध परंपरिता** का।

रशनोपमा

लक्षण

जब उपमेय* अपने अपने उपमानों के उपमान न होते हुए

* यह विशेषण उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया

कवि कहता है—सब धर्मों का आश्रयरूप युधिष्ठिरनामक राजा, लोगों के लिये ऐसा था, जैसा वृक्षों के लिये चैत का महीना—अर्थात् उसके राज्य में सब लोग यथेष्ट फूलते-फलते थे,

(यहाँ बिना 'चैत' और 'युधिष्ठिर' की उपमा के 'वृक्षों और लोगों' की उपमा नहीं बन सकती, और न 'वृक्षों और लोगों की उपमा के बिना 'चैत' और 'युधिष्ठिर' की उपमा बना सकती है; अतः यह उपमा **परंपरिता** है, श्लेष-रहित है अतः **शुद्ध** है और एक है अतः **केवल** है।

मालारूप शुद्ध परंपरिता; जैसे—

मृगतां हरयन् मध्ये वृक्षतां च पटीरयन्।
ऋक्षतां सर्वभूपानां त्वमिन्दवसि भूतले॥

हे राजन्! सब राजा मृगों का-सा आचरण करते हैं उनके बीच आप सिंह का-सा आचरण करते हैं, सब राजा वृक्षों का-सा आचरण करते हैं उनके बीच आप चंदन का-सा आचरण करते हैं और सब राजा तारों का-सा आचरण करते हैं उनके बीच आप चंद्रमा का सा आचरण करते हैं।

(यहाँ वैसी परस्पराश्रित अनेक उपमाएँ होने के कारण यह 'मालारूप शुद्धपरंपरिता' उपमा कहलाती है।)

इन परंपरित उपमा के उक्त उदाहरणों में दोनों उपमानों और दोनों उपमेयों की परस्पर अनुकूलता होने पर उपमाओं की एक-दूसरी के प्रति उपायता निरूपण की गई है।

(अब) उपमान से उपमान के और उपमेय से उपमेय के परस्पर प्रतिकूल होने पर परंपरिता उपमा; जैसे—

राजा दुर्योधनो नाम्ना सर्वसत्त्वभयङ्करः।
दीपानामिव साधूनां झञ्झावात इवाऽभवत्॥

अर्थात् सब प्राणियों के लिये भयंकर दुर्योधननामक राजा सत्पुरुषों के लिये ऐसा था जैसा दीपों के लिये वर्षासहित वायु ।

यहाँ 'दीपक' और 'वर्षा सहित वायु' ये दोनों उपमान तथा 'सत्पुरुष' और 'दुर्योधन' ये दोनों उपमेय, यद्यपि परस्पर प्रतिकूल हैं—एक-दूसरे के विरोधी हैं—तथापि (अंगी और अंग) दोनों उपमाओं की परस्पर अनुकूलता होने से वे (उपमाएँ) एक दूसरे की साधक ही हो गई हैं—उनमें विरुद्धता न रही ।

इसी तरह—

सरोजतामथ सतां शिशिरर्त्तवताऽधुना ।
दर्भतां सर्वधर्माणां राज्ञानेन विदर्भितम् ॥

अर्थात् कमलों का सा आचारण करनेवाले सत्पुर्षों के साथ शिशिर-ऋतु (शीतकाल) का सा अचारण करनेवाले इस राजा ने, इस समय, दर्भ का सा आचरण करनेवाले सब धर्मों के साथ विदर्भ देश (जहाँ दर्भ नहीं उगते) का सा आचरण किया है। अर्थात् यह राजा जैसे शीतकाल कमलों का विरोधी होता है वैसे सत्पुरुषों का विरोधी है और जैसे विदर्भ देश दर्भों का विरोधी है वैसे सब धर्मों का विरोधी है ।

इत्यादिक उपमाओं में मालारूप होने पर भी वही बात है—उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता है । अर्थात् पहला उदाहरण **केवल शुद्ध परंपरिता उपमा** का है और दूसरा **मालारूप शुद्ध परंपरिता** का ।

रशनोपमा

लक्षण

जब उपमेय* अपने अपने उपमानों के उपमान न होते हुए

* यह विशेषण उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया

अन्य के उपमान हो जावें तब 'रशनोपमा' होती है। जैसे—

वागिव मधुरा मूर्त्तिर्मूर्त्तिरिवाऽत्यन्तनिर्मला कीर्त्तिः।
कीर्त्तिरिव जगति सर्वस्तवनीया मतिरमुष्य विभोः॥

कवि कहता है—इस राजा की जैसी मधुर वाणी है वैसी ही मधुर मूर्त्ति (शरीर) है और जैसी अत्यंत निर्मल मूर्त्ति है वैसी ही अत्यंत निर्मल कीर्त्ति है, एवं जैसी जगत् में सबसे प्रशंसनीय इसकी कीर्त्ति है वैसी ही इसकी बुद्धि भी सबसे प्रशंसनीय है।

यह तो हुई समान धर्मों के भिन्न होने पर रशनोपमा। अब एक समानधर्मवाली रशनोपमा का उदाहरण सुनिए—

भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः॥

कवि कहता है—उस राजा के पहाड़ों-से मत्त हाथी, मत्त हाथियों-से लड़के, लड़कों-से योद्धा लोग, परम विशाल शरीरवाले हैं।

(यहाँ एक 'विशालकाय होना' ही तीनों उपमाओं में समान धर्म है।)

धर्मलुप्ता रशनोपमा के उदाहरण के लिये इसी पद्य का चौथा चरण "भटा इव युधि प्रजाः—योद्धा लोगों के समान ही युद्धों में ये प्रजाएँ हैं" यों समझ लीजिए।

उपमा के भेदों की अनंतता

इस तरह इन उपमा के भेदों को पूर्वोक्त भेदों के साथ गुणा करने पर उपमा के भेद इतने अधिक हो जाते हैं कि—उन्हें कहा नहीं

गया है; क्योंकि यदि उपमेय अपने उपमानों के उपमान बन जायँ तो उपमेयोपमा हो जाती है।

जा सकता और अतएव उनकी इयत्ता (गणना) असंभव है। यह है यह इसका संक्षेप।

उपमा की ध्वनि

प्रधानतया ध्वनित होनेवाली उपमा को अलंकार न मानने का कारण

यही उपमा जब समग्र वाक्य से प्रधानतया ध्वनित होती है तब इसकी अलंकारता मिट जाती है और काव्य के 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहे जाने का कारण हो जाती है—अर्थात् ऐसी उपमा के कारण काव्य को 'चित्र-काव्य' न कहकर 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता है। ऐसी उपमा को अलंकार कहना ठीक वैसा है, जैसा कि कभी गहने के रूप में न लाए गए—केवल तिजोरी में धरे—'कंकण' आदि को, पहने जानेवाले गहनों के धर्म (पहने जाने की योग्यता) का स्पर्श हो जाने मात्र के कारण 'आभूषण' कहना। अर्थात् जैसे तिजोरी के गहने केवल पहने जाने की योग्यता के कारण आभूषण कहलाते हैं—वास्तव में तो केवल संपत्तिरूप हैं, क्योंकि उनका उपयोग संपत्ति के रूप में ही होता है—आभूषणों के रूप में नहीं, वही दशा इनकी है। सारांश यह कि—जैसे उन गहनों को संपत्ति कहना ही उचित है, आभूषण कहना नहीं, वैसे ही इस उपमा को भी 'ध्वनि' कहना ही उचित है, 'अलंकार' कहना नहीं।

भेद

ऐसी उपमा कभी (पूर्वोक्त रीति से) शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन का विषय होती है और कभी अर्थ-शक्ति-मूलक अनुरणन का। अर्थात् प्रधानतया व्यंग्य उपमा दो प्रकार की है—एक शब्द-शक्ति-मूलक, दूसरी अर्थ-शक्ति-मूलक। उनमें से—

उपमा की शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि; जैसे—

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः ।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

कवि कहता है—जिसने निरंतर गिरते हुए मद-जल की धाराओं की वृष्टि से भूमंडल को सींच दिया है और जिसके स्वरूप की कुबेर के आगे प्रशंसा होती रहती है—कुबेर भी जिसकी शरीर-संपत्ति पर लट्टू हैं, उस सार्वभौम नामक दिग्गज के समान जिसने निरंतर गिरते दान-जल (संकल्प के पानी) की धाराओं की वृष्टि से भूमंडल को सींच दिया है और जिसका स्वरूप धन देनेवालों में सर्वप्रथम प्रशस्त है ऐसा यह सार्वभौम (सब पृथ्वी का स्वामी) सबसे उत्कृष्ट है ।

(यहाँ सार्वभौम नामक दिग्गज से राजा की तुलना शब्द शक्ति के कारण ध्वनित होती है, उपमा का अभिधायक यहाँ कोई शब्द नहीं है ।)

अथवा जैसे—

विमलतरमतिगभीरं सुपवित्रं सत्त्ववत् सुरसम् ।
हंसावासस्थानं मानसमिह शोभते नितराम् ॥

कवि कहता है—इस जगत् में 'अत्यंत निर्मल (कीचड़ आदि से रहित), अत्यंत गहरे, अत्यंत पवित्र, प्राणियों (जलजंतुओं) से युक्त, सुंदर जलवाले और राजहंसों के निवासस्थान मानसरोवर के समान अत्यंत निर्मल (काम-क्रोध आदि से रहित), अत्यंत गंभीर (धैर्ययुक्त), अत्यंत पवित्र, बलवान्, रसिक और परमात्मा का निवासस्थान हृदय अत्यंत शोभित होता है ।

इस पद्य में 'विमलतर' आदि शब्द अनेकार्थक हैं । यद्यपि उन शब्दों की शक्ति का प्रकरण द्वारा प्रस्तुत अर्थ ('हृदय' के पक्ष) में संकोच

....ा है, तथापि (उन शब्दों की अन्य अर्थ में) शक्ति के कारण आविर्भूत व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाला 'सरोवर' रूपी अर्थ लटकता ही न रह जाय (कवि का ऐसे शब्दों का प्रयोग, जो दोनों अर्थों में संगत हो सकते हैं, व्यर्थ न हो जाय), इसलिये इन दोनों अर्थों में से प्रस्तुत अर्थ के उपमेय होने और अप्रस्तुत अर्थ के उपमान होने की कल्पना की जाती है और वही इस पद्य का प्रधान वाक्यार्थ माना जाता है। अतः ऐसे स्थलों पर व्यंग्य उपमा ही सर्वप्रधान होती है।

उपमा की अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि; जैसे—

अद्वितीयं रुचाऽऽत्मानं दृष्ट्वा किं चन्द्र ! दृप्यसि ।
भूमण्डलमिदं सर्वं केन वा परिशोधितम् ॥

एक पुरुष अंतःपुरवर्त्तिनी अपनी अतिसुंदरी प्रियतमा का मुख देखकर निकला है और चंद्रमा से कह रहा है—हे चंद्रमा! तू अपने को कांति के कारण अद्वितीय समझकर क्यों गर्व करता है! यह सारा भूमंडल पूर्णतया किसने ढूँढ़ा है ?—इसमें बड़ी बड़ी वस्तुएँ हैं, न-जाने कहाँ क्या मिल जाय!

यहाँ चंद्रमा के लिये, 'मूर्ख' आदि संबोधन का, अथवा अन्य किसी ऐसे पद का, प्रयोग नहीं किया गया (जो असूया आदि को अभिव्यक्त करे), अतः असूया आदि का बोध न होने के कारण, यहाँ, उपमा* ही प्रधानतया व्यंग्य है।

---

* इस विषय में नागेश लिखते हैं—"इस जगह 'मूर्ख' आदि पद का प्रयोग न होने पर भी 'हे चंद्रमा! तू······क्यों गर्व करता है' इस आक्षेप से 'असूया' अभिव्यक्त होती है अथवा नहीं, इस बात का सहृदयों को विचार करना चाहिए।"

शाब्दबोध

शाब्दबोध क्या है ?

('शाब्दबोध' हिंदीवालों के लिये एक सर्वथा नई बात है। अतः हम, आरंभ में, शाब्दबोध का स्वरूप समझा देना चाहते हैं—

यह तो मानी हुई बात है कि—'अनेक पदों के समूह का नाम वाक्य है' और इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि—वाक्य के अंतर्गत पदों के अर्थों का परस्पर किसी न किसी प्रकार का संबंध रहता है, अन्यथा बात असंबद्ध हो जाय। उन सब संबंधों सहित, वाक्य के अंतर्गत सब पदों का, शक्ति अथवा लक्षणा द्वारा, जैसा अर्थ होता हो उसका पूरा पूरा समझ जाना ही शाब्दबोध कहलाता है। सारांश यह कि—केवल पदों के अर्थ समझ लेने मात्र से वाक्यार्थ का बोध हुआ नहीं समझा जा सकता, किंतु उन अर्थों के परस्पर संबंध का भी

पर हमारी समझ से नागेश पंडितराज के तात्पर्य तक न पहुँचे। नागेश की बात हो सकती थी; पर तब, जब कि यह किसी वियोगी की उक्ति होती। यह तो संयोगी की उक्ति है, जो कि अपनी अति सुंदरी प्रियतमा का सद्योऽनुभवी है। उसे चंद्रमा कष्टप्रद तो है नहीं, फिर वह उससे क्यों असूया करे ? उसने तो केवल अपने अनुभव का प्रकाशन किया है। सो यहाँ तुलना ही मुख्य है, असूया नहीं। रही यह बात कि—पंडितराज ने, इसी पद्य में 'मूढ' शब्द प्रविष्ट करके, यही बात विरही से कहलाई है और वहाँ 'असूया' की अभिव्यक्ति मानी है। सो यह कुछ है नहीं। क्योंकि वक्ता आदि का परिवर्त्तन होते ही व्यंग्य बदल जाया करता है—यह एक मानी हुई बात है; अन्यथा "अस्तंगतो भानुमान् (काव्यप्रकाश) इस एक ही वाक्य में अनेक व्यंग्य कैसे हो सकते हैं ?

—अनुवादक।

बोध होना चाहिए तभी वाक्य का अर्थ पूर्णतया समझ में आया माना जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—**संबंधों सहित वाक्यार्थ के यथार्थरीत्या (वस्तु-परिचय के साथ) समझने को शाब्दबोध कहते हैं।**

उदाहरण के लिए कल्पना करिए कि—एक मनुष्य 'देवदत्तो गच्छति = देवदत्त जाता है' यह वाक्य कह रहा है। इस साधारण वाक्य के विषय में भी यदि किसी अनभिज्ञ से पूछा जाय तो, शाब्द-बोध की प्रक्रिया न जानने के कारण, वह कुछ न कह सके और इसी कारण संभव है आप उसे भ्रम में डाल दें। पर शाब्दबोध जाननेवाला विद्वान् आपके इस चक्कर में न आ सकेगा।

यदि वह विद्वान् व्याकरणज्ञ हुआ तो उत्तर देगा कि—'देवदत्तो गच्छति' इस पूर्वोक्त वाक्य से 'जिसका कर्त्ता देवदत्त से अभिन्न—अर्थात् देवदत्त—है ऐसी, वर्त्तमान समय में होनेवाली, आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल 'चेष्टा' ज्ञात होती है।' अर्थात् इस वाक्य से हमें यह समझ पड़ता है कि—देवदत्त, इस समय ऐसी चेष्टा कर रहा है जिससे वह वर्त्तमान स्थान को छोड़कर आगे के किसी स्थान से जा मिले। इसी बात को संस्कृत में यों कहा जाता है कि—'देवदत्ताभिन्नकर्तृको वर्त्तमानकालिक उत्तरदेशसंयगानुकूलो व्यापारः'।

और यदि वह विद्वान् नैयायिक हुआ तो कहेगा कि—इस वाक्य से 'वर्त्तमान समय में होनेवाले, आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल, चेष्टा के यत्न का आश्रय (यत्न करनेवाला) देवदत्त' ज्ञात होता है। अर्थात् उसके हिसाब से पूर्वोक्त चेष्टा का नहीं, किंतु वैसी चेष्टा के अनुकूल यत्न करनेवाले देवदत्त का बोध होता है। इस बात को संस्कृत में यों कहा जायगा कि—वर्त्तमानकालिकोत्तरदेशसंयोगानुकूल-व्यापारानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः।

तात्पर्य दोनों का एक होने पर भी वैयाकरणों और नैयायिकों में प्रत्यय के अर्थ और विशेषण-विशेष्यभाव मानने में मतभेद है। वैयाकरण कर्त्ता को तिङ्प्रत्यय का अर्थ और व्यापार को समग्र वाक्य का प्रधान विशेष्य मानते हैं और नैयायिक यत्न को तिङ्प्रत्यय का अर्थ और 'यत्न के आश्रय प्रथमांत पद के अर्थ (कर्त्ता, देवदत्त)' को मुख्य-विशेष्य मानते हैं। इस मतभेद का कारण समझाकर हम आपको झगड़े में नहीं पटकना चाहते। आप तो केवल इतना समझ लीजिये कि इस बात को दोनों प्रकार से कहा जा सकता है।

अच्छा अब यह सोचिए कि—पूर्वोक्त शाब्दबोध में उन विद्वानों ने कितनी बातें समझीं। 'देवदत्तो गच्छति' इस वाक्य में दो पद हैं—'देवदत्तः' और 'गच्छति', और यह तो आप समझ चुके हैं कि—शाब्दबोध के लिये इन दोनों पदों के अर्थ और उनका पारस्परिक संबंध जानने की आवश्यकता है। इनमें से पहले 'गच्छति' पद के अर्थ को लीजिए; क्योंकि वह विशेष विवेचन चाहता है और उसी के अंतिम भाग (प्रत्यय) के अर्थ के विषय में वैयाकरणों और नैयायिकों में मतभेद भी है। 'गच्छति' पद के व्याकरण के अनुसार दो विभाग हैं—एक धातु 'गम्' (जिसे 'गच्छ' आदेश हो गया है) और दूसरा प्रत्य 'ति'। 'गम्' धातु का अर्थ है, 'आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा' इसमें तो किसी को कोई आपत्ति है नहीं। पर 'ति' प्रत्यय का अर्थ वैयाकरणों के मत से होता है (उस वर्त्तमान चेष्टा का) 'कर्त्ता' और नैयायिकों के हिसाब से होता है (वर्त्तमान-कालीन) 'कर्तृत्व—अर्थात् उस चेष्टा के अनुकूल यत्न'। अतः पूरे पद के अर्थ में भेद हो जाता है। सो वैयाकरणों के हिसाब से 'गच्छति' पद का अर्थ होता है 'आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल वर्त्तमान चेष्टा का कर्त्ता' और नैयायिकों के हिसाब से होता है 'आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा का (के अनुकूल) यत्न'। रहा

'देवदत्त' पद, सो सभी जानते हैं कि वह एक व्यक्ति का नाम है, अतः उसके विवरण की आवश्यकता नहीं। अब केवल इन अर्थों का पारस्परिक संबंध जाना अवशिष्ट रह जाता है। सो 'गच्छति पद का अर्थ 'पूर्वोक्त चेष्टा का कर्ता' माननेवालों (अर्थात् वैयाकरणों) के विचार से वह संबंध 'अभेद' होता है, क्योंकि देवदत्त ही उस क्रिया का कर्ता है—देवदत्त और उस चेष्टा का कर्ता दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। और जो लोग (नैयायिक) 'पूर्वोक्त चेष्टा का यत्न' 'गच्छति' पद का अर्थ मानते हैं, उनके विचार से 'यत्न' का 'देवदत्त' के साथ 'आश्रयता' (समवाय) संबंध होता है; क्योंकि वह यत्न देवदत्त में रहनेवाली वस्तु है—देवदत्त उसका आश्रय है।

अब इन तीनों बातों को मिलाकर बोलने पर और चेष्टा को वाक्य का विशेष्य रखने पर वैयाकरणों के मत से बोध हुआ 'जिसका कर्ता देवदत्त से अभिन्न है वह वर्त्तमान समय में होनेवाली आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा' इस रूप में और नैयायिकों के हिसाब से हुआ 'वर्त्तमान समय में होनेवाले आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा के अनुकूल यत्न का आश्रय देवदत्त' इस रूप में। देखिए वही बात बन गई न ?

अब कदाचित् आप समझ गए होंगे कि जो मनुष्य शाब्दबोध की प्रक्रिया जानता है वही वाक्य का यथार्थ और पूरा पूरा अर्थ समझ सकता है; क्योंकि जो मनुष्य पदों के अर्थ और उनके परस्पर संबंधों को नहीं जानता वह उस वाक्य का पूर्णतया अर्थ समझ गया—इस बात को कोई भी समझदार मनुष्य नहीं स्वीकार कर सकता। इस तरह यह सिद्ध हुआ—कि अंगोपांग (जैसे 'गच्छति' में 'गम्' और 'ति') और संबंध (जैसे पूर्वोक्त वाक्य में 'अभेद' अथवा 'आश्रय') सहित यथार्थ अर्थ समझने का नाम ही शाब्दबोध है। पंडित होने के लिये—

प्रत्येक वाक्य का सांगोपांग अर्थ समझने के लिये—शाब्दबोध की प्रक्रिया जानना अत्यावश्यक है, अन्यथा वाक्य का अर्थ करना इशारेबाजी ही है—ऐसा मनुष्य उसका प्रवीणता के साथ प्रतिपादन नहीं कर सकता। सो इस प्रकरण में यह समझाया जायगा कि—उपमा कितने प्रकार के वाक्यों से वर्णन की जा सकती है और उन वाक्यों के पूरे पूरे अर्थ क्या होते हैं।)

सादृश्य क्या है ?

(उपमा का शाब्दबोध समझने के पूर्व एक बात और समझ लेने की है। यह तो आप उपमा के लक्षण से समझ चुके हैं कि 'सादृश्य' का ही नाम उपमा है। पर वह सादृश्य क्या वस्तु है इस विषय में मतभेद है। मीमासक आदि का मत है कि—'सादृश्य' एक अतिरिक्त पदार्थ है—उसे किसी अन्य पदार्थ के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। अर्थात् वह भी संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुओं में से एक स्वतंत्र वस्तु है, उसका किसी पदार्थ में अंतर्भाव नहीं। पर नैयायिक लोग इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि—सादृश्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, दो वस्तुओं में परस्पर जो एक-से धर्म रहते हैं उन्हें ही सादृश्य कहा जाता है। उदाहरण के लिये यदि यह कहा जाय कि 'मुख और कमल में सादृश्य है, क्योंकि वे दोनों सुंदर हैं' इस स्थान पर मीमांसकों के हिसाब से 'सुंदरता' और 'सादृश्य' दोनों जुदे जुदे पदार्थ हैं; सुंदरता से सादृश्य सिद्ध होता है, पर वह स्वयं सादृश्य-रूप नहीं है। पर नैयायिकों के हिसाब से सुंदरता ही सादृश्य है, वह सुंदरता से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। हाँ, यदि उसके अतिरिक्त और कोई धर्म भी सादृश्य के रूप में दिखाई देते हों तो उन सबको मिलाकर सादृश्य समझा जा सकता है; पर उन धर्मों से अतिरिक्त सादृश्य कोई वस्तु नहीं। सारांश यह कि—मीमांसकों के मत से सादृश्य एक अतिरिक्त

पदार्थ है—अर्थात् सुन्दरता आदि से भिन्न वस्तु है और नैयायिकों के विचार से समानधर्मरूप)।

सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों के मत से शाब्दबोध

जो लोग सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं, (पहले) उनके मत से शाब्दबोध लिखा जा रहा है—

(यहाँ इतना और समझ लीजिए कि संस्कृत भाषा में उपमा का प्रतिपादन अनेक प्रकार के वाक्यों से किया जा सकता है। उनमें से यहाँ १४ वाक्य क्रमशः यों दिखलाये गये हैं—१—अरविन्द-सुन्दरम्, २—अरविन्दमिव सुन्दरम्, ३—अरविन्दमिव, ४—अरविन्दमिव भाति, ५—सौन्दर्येणाऽरविन्दमिव भाति, ६—गज इव गच्छति, ७—अरविन्दतुल्यो भाति, ८—अरविन्दवत् सुन्दरम्, ९—अरविन्दवन्मुखम्, १०—अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य, ११—अरविन्देन तुल्यम्, १२—सौन्दर्येणाऽरविन्देन तुल्यम् १३—अरविन्दमाननं च समम्। यह तो हुई अनुगामी साधारण धर्मवाली उपमा की बात। इसके अतिरिक्त १४वीं होती है बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमा, जैसी कि 'कोमलातपशोणाभ्र······' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों में है। यहाँ क्रमशः इन चौदह प्रकार के वाक्यों का शाब्दबोध वर्णित है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों में भी जानना चाहिये।)

१—वाक्य—अरविन्दसुन्दरम् (कमल-सुंदर)।

विवेचन—इस वाक्य में दो पद हैं—एक अरविंद, दूसरा सुंदर। 'अरविंद' पद का अर्थ इस जगह, लक्षणा द्वारा, 'अरविंद से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक' इतना बड़ा करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि यदि ऐसा न किया जाय तो 'अरविंद' पद के अर्थ का 'सुंदर' पद के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता।

बात यह है कि—'कमल' और 'सुंदर'—अर्थात् सौंदर्य से युक्त—इन वस्तुओं का यदि परस्पर अन्वय हो सकता है तो केवल सादृश्य के द्वारा हो सकता है। अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इन दोनों पदार्थों को परस्पर जोड़ सके; अतः 'अरविंदसुंदरम्' का अर्थ 'अरविंदमिव सुंदरम् (कमल-सा सुंदर)' करना पड़ता है। 'इव (सा)' का अर्थ सादृश्य होता है, और उस सादृश्य का उपमान (अरविंद) से 'निरूपितता' संबंध है; क्योंकि उपमान सादृश्य का निरूपण करनेवाला होता है और सादृश्य उपमान से निरूपित। अतः 'अरविंद' और 'सादृश्य' के बीच में 'निरूपित' शब्द और लगाना पड़ता है। अब इस सादृश्य को जोड़ना है 'सुंदर' शब्द के अर्थ 'सौंदर्य से युक्त' के साथ। 'सुंदर' शब्द के इस पूरे अर्थ के साथ तो सादृश्य का किसी तरह अन्वय हो नहीं सकता; क्योंकि उसके साथ सादृश्य का कोई संबंध नहीं बन पाता, अतः उसके एक हिस्से 'सौंदर्य' के साथ सादृश्य को जोड़ना पड़ता है। जो लोग 'सादृश्य' को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं उनके हिसाब में सौंदर्य सादृश्य का प्रयोजक—अर्थात् सिद्ध करनेवाला अथवा निमित्त—होता है, अतः सादृश्य को सौंदर्य से जोड़ने के लिये उसके साथ 'प्रयोजक' शब्द और जोड़ना पड़ता है; क्योंकि बिना उसके वह आगे के अर्थ में अन्वित नहीं हो सकता। सो सब मिलाकर यहाँ 'अरविंद' पद का अर्थ होता है 'अरविंद से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक' इतना। अन्यथा अरविंद का सुंदर के साथ किसी तरह अन्वय नहीं हो सकता। यह अर्थ अभिधा द्वारा तो हो नहीं सकता, अतः 'अरविंद' शब्द में लक्षणा माननी पड़ती है।

यह 'अरविंद' पद का अर्थ 'सुंदर' पद के अर्थ के एक हिस्से, सौंदर्य के साथ अभेद संबंध से अन्वित होता है, अतः इन दोनों अर्थों के मध्य में 'अभिन्न' शब्द और जोड़ना पड़ता है। तब 'अरविंदसुंदर' का अर्थ होता है 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न

सौंदर्य से युक्त' इतना। इस अर्थ का भी आगे के अर्थ (मुख आदि) के साथ अभेद संबंध से अन्वय होता है; क्योंकि दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं बन सकता। अतः 'अरविंदसुंदर' पद का शाब्दबोध।

'अरविद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न (अर्थात् प्रयोजक-रूप) सौंदर्य से युक्त से अभिन्न',

यह होता है। इसमें 'प्रयोजक' तक का अर्थ अरविंद पद का है और 'सौंदर्य से युक्त' यह 'सुंदर' पद का। रहे दोनों 'से' और 'अभिन्न' पद, सो वे संबंध-सूचक हैं। उनमें 'से' एक इन दोनों अर्थों का संबंध समझाता है और दूसरा 'सुंदर' पद के, विशेष्य (मुख आदि) के साथ, संबंध को। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में*—'अरविंद के साथ जो सादृश्य है उसे सिद्ध करनेवाले सौंदर्य से युक्त (मुख आदि), इस तरह कहा जा सकता है।

शङ्का समाधान

यद्यपि 'अरविंद' पद का, लक्षणा द्वारा 'अरविंद से निरूपित सादृश्य' इतना सा अर्थ मानकर उसे 'प्रयोजकता' संबंध से 'सुंदर' पद के अर्थ में जोड़ दिया जा सकता था और इस तरह 'अरविंदसे निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौंदर्य से युक्त' यह छोटा सा शाब्दबोध हो सकता

---

* वाक्य की जटिलता मिटाने के लिये हमने सरल शब्दों में लिखते समय संबंध-सूचक 'अभिन्न' शब्द को उड़ा दिया है। पाठक जहाँ दो पदों के अर्थों के मध्य में कोई विशेष संबंध न लिखा हो वहाँ 'अभेद' संबंध समझ लिया करें।

था और बीच में 'अभिन्न' शब्द लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि यह नियम है कि—"निपातों के अतिरिक्त दो प्रातिपदिकों* के अर्थों का (एक विभक्त में आने पर) भेद से अन्वय नहीं बन सकता—उनमें अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं माना जा सकता†।" अतः यहाँ 'अरविंद' शब्द का इतना बड़ा अर्थ मानकर उसका 'सुंदर' शब्द के अर्थ के एकदेश-सौन्दर्य के साथ 'अभेद' संबंध से अन्वय माना गया है; क्योंकि पूर्वोक्त नियम के अनुसार 'अरविंद' इस प्रातिपदिक के अर्थ का 'सुंदर' प्रातिपदिक के अर्थ के साथ अन्य कोई संबंध नहीं माना जा सकता।

अब रही यह शंका कि—"पदार्थः पदार्थेनाऽन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन—अर्थात् पदार्थ का अन्वय पदार्थ के साथ होता है, न कि उसके एक हिस्से के साथ" इस नियम के अनुसार 'अरविंद' पद के अर्थ का अन्वय सुंदर पद के अर्थ ('सौंदर्ययुक्त' इतने) में होना चाहिए, न कि उसके भाग एक 'सौंदर्य' में। फिर 'अरविंद' पद के अर्थ 'अरविंद से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक' का हमने 'सौंदर्य' में अभेद संबंध से

---

* हिंदी की दृष्टि से, क्रियावाचक शब्दों को छोड़कर अन्य सब, विभक्ति-रहित शब्द 'प्रातिपदिक' कहे जा सकते हैं।

† बात यह है कि—जब कोई मनुष्य 'काला साँप' इत्यादि दो प्रातिपदिकों का समान विभक्ति में, अथवा विशेषण-विशेष्य रूप से (यह हिंदी के अनुसार लिखा गया है, क्योंकि वहाँ विशेषण में विभक्ति नहीं लगाई जाती) प्रयोग करे, तब 'काला' और 'साँप' इन पदों के अर्थों को भिन्न-भिन्न दो वस्तुएँ नहीं माना जा सकता—उन्हें अभिन्न ही मानना पड़ेगा। अन्यथा 'काला' का 'साँप' के साथ और 'साँप' का 'काला' के साथ किसी तरह अन्वय नहीं हो सकता। अतः 'दो प्रातिपदिकार्थों में भेद-संबंध किसी तरह नहीं बन सकता' यह नियम माना जाता है।

अन्वय क्यों किया ? उसका अन्वय तो 'सौंदर्ययुक्त' में होना चाहिए था। सो इसका समाधान यह है कि—ऐसे स्थलों पर एकदेश में अन्वय तो अन्य कोई गति न होने के कारण स्वीकार करना पड़ता है। जैसे कि 'देवदत्त का पौत्र' इस वाक्य में 'पौत्र' का अर्थ 'पुत्र का पुत्र' होने के कारण, उस अर्थ के एक हिस्से 'पुत्र' में ही देवदत्त का अन्वय करना पड़ता है, न कि 'पुत्र के पुत्र' में; क्योंकि देवदत्त से (अपने) पुत्र का और पुत्र से 'उसके पुत्र' का संबंध हो सकता है, न कि सीधा 'पुत्र के पुत्र' से। अतः विवश होकर ऐसा मानना पड़ता है। वही बात यहाँ भी है। तात्पर्य यह कि—कमल के साथ सादृश्य का सिद्ध करनेवाला 'सौंदर्य' रूपी धर्म है, न कि 'सुंदरतायुक्त' पदार्थ, अतः 'प्रयोजक' को 'सौंदर्य' में जोड़े बिना निर्वाह नहीं। इसलिये विवश होकर 'सुंदर' शब्द के अर्थ के एक अवयव में 'अरविंद' शब्द के अर्थ को जोड़ना पड़ता है। आप भी ऐसी दशा में और क्या कर सकते हैं ?

मतभेद

(१) कुछ लोग कहते हैं—'अरविंद-सुंदरम्' इस पद में जो समास है उसी की 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौंदर्य से युक्त' इस समग्र अर्थ में शक्ति है—अर्थात् इस समस्त पद का ही यह अर्थ हो जाता है, उसका खंड-खंड अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं।

(२) अन्य लोगों का कहना है कि—इस स्थल पर 'अरविंद' पद ही, लक्षणा द्वारा पूर्वोक्त समग्र अर्थ को समझा देता है, 'सुंदर' पद तो केवल यह समझाने के लिये प्रयुक्त किया गया है कि यहाँ 'अरविंद' पद से वक्ता का क्या तात्पर्य है, वह उसकी किस अर्थ में लक्षणा करना चाहता है। तात्पर्य यह कि—केवल एक पद का अर्थ होने के कारण

न तो ऐसा मानने पर संबंध जानने की ही आवश्यकता होती है और न 'सुंदर' पद के अर्थ के एक देश में अन्वय करने की ही।

यह उपमा समासगता कहलाती है।

२—वाक्य—अरविंदमिव सुंदरम् (कमल-सा सुंदर)।

विवेचन—इस वाक्य में पूर्वोक्त वाक्य से केवल 'इव (सा)' शब्द अधिक है और उसका अर्थ है 'सादृश्य'। अरविंद का सादृश्य के साथ 'निरूपितता' संबंध है, अतः अरविंद और 'सादृश्य' के मध्य में 'निरूपित' शब्द लगाना है तथा सादृश्य का सौंदर्य ('सुंदर' पद के अर्थ के एकदेश) के साथ 'प्रयोजकता' संबंध है, अतः उन दोनों के मध्य में 'प्रयोजक' शब्द लगाना पड़ता है; और विशेष्य के साथ तो 'सुंदर' शब्द के अर्थ 'सौंदर्य से युक्त' का अभेद संबंध से अन्वय होता ही है—यह तो नियम-सिद्ध बात है। अतः 'अरविंदमिव सुंदरम्' इस वाक्य का शाब्दबोध 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक (सिद्ध करनेवाले) सौंदर्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है। इसमें आगे के पद के अर्थ के संबंध सहित 'अरविंदम्' पद का अर्थ है 'अरविंद से निरूपित' इतना, 'इव' का पूर्वोक्त संबध सहित अर्थ है 'सादृश्य के (का) प्रयोजक' इतना, और 'सुंदरम्' पद का पूर्वोक्त संबंध सहित अर्थ है 'सौंदर्य से युक्त से अभिन्न' इतना। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'कमल के साथ सादृश्य के सिद्ध करनेवाले सौंदर्य से युक्त' इस तरह कहा जा सकता है।

३—वाक्य—अरविंदमिव (कमल-सा)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंदम्' और 'इव' दो पद हैं। 'अरविदम्' का अर्थ 'अरविंद' 'इव' का अर्थ 'सादृश्य' और इन दोनों

अर्थों का संबंध 'निरूपितता' होता है; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। रहा 'सादृश्य' का विशेष्य (मुख आदि) के साथ संबंध, सो वह है 'युक्त होना (आश्रयता)'; क्योंकि वह वस्तु सादृश्य से युक्त है—सादृश्य उसमें रहता है। अतः 'अरविंदमिव' का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य से युक्त' यह होता है।

एक शंका का समाधान

उपर्युक्त दो शाब्दबोधों के विषय में एक शंका होती है। यह नियम है कि—जिस शाब्दबोध में प्रातिपदिकों के अर्थ विशेषण रूप से आए हों उस शाब्दबोध में उन-उन प्रातिपदिकार्थों के प्रति विभक्तियों के अर्थों का विशेष्य रूप में आना—विशेष्य होना—कारण रूप (अनिवार्य) माना जाता है। ऐसी दशा में उपर्युक्त 'इव' शब्दवाले शाब्दबोधों में 'अरविंदम्' शब्द के अर्थ का अन्वय, उस उस शब्द की विभक्ति—प्रथमा—के अर्थ—'अभेद'—में होना आवश्यक है। पर हमने 'अरविंद' शब्द के अर्थ का 'इव' शब्द के सादृश्य में 'निरूपितता' संबंध से अन्वय किया है, अतः आप कहेंगे—यह अनुचित है। पर ऐसा कहना ठीक नहीं। कारण, यह नियम वैसे ही शाब्दबोध में लगता है—जहाँ 'निपात' का अर्थ प्रातिपदिक के अर्थ का विशेषण अथवा विशेष्य न हो, अर्थात् जहाँ निपात का अर्थ प्रातिपादिक के अर्थ का विशेषण अथवा विशेष्य हो वहाँ यह नियम नहीं लगता। अतः जैसे '*घटो नास्ति (घड़ा नहीं है)' आदि में

*** शाब्दबोध के शास्त्रार्थ में 'घटोनास्ति' प्रसिद्ध है, अतः उसे यहाँ दृष्टांत रूप से लाया गया है। इसका विवेचन आगे (वाक्य सं० ६ के शाब्दबोध में) किया जायगा।**

'न' के अर्थ—अभाव—में भेद-संबंध† से अन्वय करने में कोई दोष नहीं, क्योंकि वह निपात है, वैसे ही यहाँ भी 'इव' (जो निपात है) के अर्थ 'सादृश्य' का 'अरविंद' के साथ भेद-संबंध ('निरूपितता') से अन्वय करने में कोई दोष नहीं !

४—वाक्य—अरविंदमिव भाति (कमल-सा प्रतीत होता है)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंदमिव' इतना भाग तो ज्यों का त्यों उपर्युक्त वाक्य है; अतः उसका शाब्दबोध तो 'अरविंद से निरूपित' यह है ही—इसके विषय में तो कुछ कहना है नहीं। अब केवल 'भाति' पद का अर्थ और उसके साथ 'सादृश्य' का संबंध बताने मात्र की आवश्यकता है। 'भा' धातु का अर्थ 'प्रतीति' है, उसमें पूर्वोक्त सादृश्य का 'विशेषणता' संबंध से अन्वय होता है; क्योंकि शाब्दबोध की प्रक्रिया के अनुसार धातु का अर्थ विशेष्य और अन्य सब पदों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं; और नैयायिकों के सिद्धांत के अनुसार धातु के अर्थ का विशेष्य होता है 'कर्त्ता' (प्रथमान्त पद से प्रतीत होनेवाला पदार्थ), सो धातु के अर्थ को उससे जोड़ने के लिये धातु के अर्थ के आगे 'विशेष्य' पद और जोड़ दिया जाता है। अतः 'अरविंदमिव भाति' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है उस प्रतीति का विशेष्य'

यह होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'जिसमें अरविंद का सादृश्य प्रतीत होता है ऐसा (मुख)' इस तरह कहा जा सकता है।

---

† अभेद के अतिरिक्त अन्य सब संबंध 'भेद-संबंध' कहलाते हैं।

५—वाक्य—सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति (सुंदरता से कमल-सा प्रतीत होता है)।

विवेचन—यदि पूर्वोक्त वाक्य में ही 'सौंदर्येण' इस समानधर्म का ग्रहण और कर लिया जाय तो वही वाक्य इस रूप में परिणत हो जाता है; अतः पूर्वोक्त वाक्य के शाब्दबोध में सौन्दर्येण ('सौंदर्य से)' पद के अर्थ को संबंध सहित जोड़ देने मात्र से इस वाक्य का शाब्दबोध बन जाता है। 'यहाँ सौंदर्यण' पद में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ है 'प्रयोज्यत्व (सिद्ध किया जाना)' और उसका अन्वय होता है धातु के अर्थ 'प्रतीति' में अथवा 'इव' के अर्थ 'सादृश्य' में; क्योंकि सौंदर्य द्वारा सिद्ध की जानेवाली यहाँ ये ही दो वस्तुएँ हो सकती हैं, अन्य कोई नहीं। अब पूर्वोक्त शाब्दबोध में इतना अंश और जोड़ कर धातु के अर्थ में अन्वय करने पर 'सौंदर्येणारविंद-मिव भाति' इस वाक्य का।

शाब्दबोध—अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी 'सौंदर्य द्वारा सिद्ध की जानेवाली प्रतीति का विशेष्य' यह

(और 'इव' के अर्थ में अन्वय करने पर ; 'सौंदर्य द्वारा सिद्ध किया जानेवाला अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है उस प्रतीति का विशेष्य'

यह होता है। इन शाब्दबोधों को क्रमशः

सरल शब्दों में—'जिसमें सौंदर्य द्वारा सिद्ध किया जानेवाला अरविंद का सादृश्य प्रतीत होता है ऐसा (मुख)' और 'जिसमें सौंदर्य के कारण अरविंद का सादृश्य प्रतीत होता है ऐसा (मुख)' इस तरह कहा जा सकता है।

६—'गज इव गच्छति (हाथी-सा चलता है), और 'पिक इव रौति (कोयल सा बोलता है)' इत्यादिक काक्यों में उपमान-पदों (अर्थात् गज, पिक आदि) की उपमानों के द्वारा की जानेवली, क्रिया में

लक्षणा मानी जाती है—अर्थात् ऐसे स्थानों पर, लक्षणा द्वारा, 'गज' शब्द का अर्थ होता है 'गज की चाल' और 'पिक' शब्द का अर्थ होता है 'पिक की बोली' और आरंभ में लिखी हुई रीति के अनुसार, 'गच्छति' का अर्थ 'गमन (चाल) के अनुकूल यत्न करनेवाला' तथा 'रौति' का अर्थ 'बोली के अनुकूल यत्न करनेवाला' होता ही है। इन दोनों अर्थों के मध्य में 'इव' के अर्थ के और जोड़ देने से 'गज इव गच्छति' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'हाथी की चाल के समान चाल के अनुकूल यत्न करनेवाला' यह, और 'पिक इव रौति' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करनेवाला'

यह होना उचित है।

आप कहेंगे—यह शाब्दबोध ठीक नहीं किया गया। कारण यह है कि 'घटो न पश्यति' इत्यादि वाक्यों में यदि 'घट' का अन्वय 'न' के अर्थ—अभाव—में और अभाव का कर्मरूप से क्रिया में अन्वय किया जाय तो 'घटो न पश्यति' का अर्थ 'घड़े के अभाव को देखता है—अर्थात् घड़े को नहीं देखता' यह हो जायगा; पर होना चाहिए 'घड़ा नहीं देखता है' यह। इस अनुपपत्ति के हटाने के लिये यह नियम मानना पड़ता है कि—"धातु के अर्थ को विशेष्य मानकर विशेषणता संबंध से होनेवाले शाब्दबोध में विशेष्यरूप से होनेवाले विभक्ति के अर्थ के स्मरण को कारणरूप—अर्थात् अनिवार्य—माना जाता है। तात्पर्य यह कि—जहाँ धातु का अर्थ विशेष्य हो उस शाब्दबोध में, विभक्ति का अर्थ (प्रातिपदिक के अर्थ के) विशेष्यरूप में अवश्यमेव आना चाहिए"। इसका फल यह होता है कि—घड़े का द्वितीया आदि के अर्थ के साथ अन्वय हो जाता है, 'न' के अर्थ अभाव के साथ नहीं; और तब अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है।

इस नियम के मानने पर, प्रकृत शाब्दबोध में, जो 'इव' आदि के अर्थ 'सादृश्य' का धातु के अर्थ ('चाल' और 'बोली') में अन्वय किया जा रहा है, सो नहीं बन सकता—क्योंकि धातु के अर्थ का सादृश्य का विशेष्य बनकर प्रतीत होना अनुचित है। इस कारण, गज आदि के सादृश्य का अन्वय 'गमन (चाल)' आदि के कर्त्ता (चलनेवाले) में ही होना चाहिए, क्रिया में नहीं और सादृश्य का सिद्ध करनेवाला समानधर्म होना चाहिए 'अपनी (गज आदि की) चाल आदि के समान चाल आदि का कर्त्ता होना'। तात्पर्य यह कि—'गज इव गच्छति' और 'पिक इव रौति' इन वाक्यों के शाब्दबोध, क्रमशः, 'चलनेवाला हाथी के समान है' और 'बोलनेवाला कोयल के समान है' यों होने चाहिए, न कि 'हाथी की चाल के समान चाल के अनुकूल यत्न करनेवाला' और 'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करनेवाला' इस तरह। 'आख्यातवाद' की 'शिरोमणि' के व्याख्याताओं ने भी यही सिद्धांत किया है; अतः पूर्वोक्त शाब्दबोध नियम-विरुद्ध हैं।

पर यह कथन ठीक नहीं। कारण, 'गज इव गच्छति' इस वाक्य मे सादृश्य की विधेय रूप से प्रतीति होती है—यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस वाक्य का वक्ता सादृश्य पर जोर देना चाहता है, अर्थात् सादृश्य दिखाने के लिये ही उसने इस वाक्य का प्रयोग किया है। पर आपके शाब्दबोध में इस प्रतीति का अपलाप हो जाता है, वहाँ 'चलनेवाला' विधेय हो जाता है और 'सादृश्य' उद्देश्य। अर्थात् आपके शाब्दबोध के अनुसार सादृश्य पर जोर नहीं पड़ता, किंतु कर्त्ता पर पड़ता है। 'हाथी के समान जो पुरुष है वह जा रहा है' और 'जो पुरुष है वह हाथी के समान जा रहा है' इन दोनों वाक्यो में भिन्न-भिन्न प्रतीतियाँ अनुभव-सिद्ध हैं। पहले वाक्य में सादृश्य उद्देश्य रूप में आता है और दूसरे वाक्य में विधेय रूप में। इस जगह दूसरे

वाक्य का-सा बोध होना चाहिए; पर आपके हिसाब से पहले वाक्य का-सा बोध होता है, अतः जैसा बोध हमने माना है वैसा ही मानना उचित है, आप मानते हैं वैसा नहीं।

दूसरी बात यह है कि—आपका-सा बोध मानने से 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति—अर्थात् जैसे हाथी वन को जाता है वैसे देवदत्त घर को जाता है' इत्यादिक वाक्यों में 'वन' आदि का सर्वथा ही अन्वय न हो सकेगा, क्योंकि आपके हिसाब से तो इस वाक्य से 'हाथी' और 'देवदत्त' का सादृश्य समझ मे आया और किस्सा खतम; बेचारे 'वन' और 'घर' तो लटकते रह जायँगे, उनका तो सादृश्य से कोई सरोकार हो नहीं सकता। यही नहीं, किंतु इसी तरह 'बिंब प्रतिबिंब' रूप में जितने कारक होंगे उन सब का अन्वय*न हो सकेगा—यह समझ लीजिए।

---

* नागेश का कथन है कि—पंडितराज की यह नई कल्पना विचारणीय है—सोचने पर ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं रहती। कारण, 'वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इत्यादिक बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्मवाले वाक्यों में 'रणभूमि जिसका कर्म है उस गमन-क्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त (कर्त्ता) शूर पुरुष, वन जिसका कर्म है उस गमन-क्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त (कर्त्ता) हाथी के समान है'; और 'इव' शब्द, बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न 'रणभूमि' और 'वन' जिसके विशेषण हैं उस गमन-क्रिया का समानधर्मरूप होना समझाता है; क्योंकि 'इव' आदि शब्द समान धर्म के समझाने के लिये ही लाए जाते हैं—यह बात सब की मानी हुई है। अतः आख्यातवाद की 'शिरोमणि' की व्याख्या करनेवालों ने जो सिद्धांत किया है, वही ठीक है।

रही 'गज इव यः पुरुषः स गच्छति' और 'पुरुषो यः स गज इव

इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि—जहाँ केवल 'गज इव गच्छति' वाक्य हो वहाँ उसका

गच्छति' इन वाक्यों की बात। सो उनमें से प्रथम वाक्य में, 'इव' शब्द, 'शूरता आदि' का समानधर्म होना समझाता है और दूसरे वाक्य में 'गमन का ही समान धर्म होना'। अर्थात् एक वाक्य में समान धर्म ऊपर से आता है और दूसरे में जो वाक्य का विधेय है वही समान धर्म हैं। अतः दोनों वाक्यों में भेद बन जाता है। रही उपमा (सादृश्य) के विधेय होने की बात, सो उसका अर्थ यही है कि—जहाँ 'इव' आदि उपमाबोधक शब्दों के द्वारा वाक्य का 'विधेय' अंश समानधर्म के रूप में बताया जाय वहा उपमा विधेय होती है। सो आपका कथन नैयायिकों के हिसाब से विचारणीय ही है—वे उसे ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार कर सकते। सारांश यह कि नैयायिक लोग 'गज इव गच्छति' आदि वाक्यों में क्रियाओं की तुलना नहीं मानते, किंतु कर्त्ताओं की मानते हैं, अतः उनके सिर जो आप 'चाल सी चाल' 'बोली सी बोली' इस तरह क्रियाओं की तुलनावाला शाब्दबोध मढ़ते हैं सो अनुचित है।

हाँ, वैयाकरणों के सिद्धांत से अलबत्ता ऐसे वाक्यों में क्रियाएँ ही उपमान और उपमेय बनती हैं। अर्थात् 'वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इस वाक्य में उनके हिसाब से 'जिसका हाथी कर्त्ता और वन कर्म है उस गमन-क्रिया की जिसका शूर पुरुष कर्त्ता और रणभूमि कर्म है उस गमन-क्रिया से' तुलना मानी जाती है। सो उन्हें, एक 'गच्छति' पद से (उपमान और उपमेय रूप में प्रतीत होनेवाली) दो गमन-क्रियाओं का बोध न हो सकने के कारण, या तो 'गच्छति' पद की आवृत्ति करके उसका दोनों कर्त्ताओं (हाथी और शूर) के साथ अन्वय मानना पड़ेगा, अथवा जैसे आप मानते हैं वैसे, गज आदि की उनके

शाब्दबोध—'गज से निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली चाल (गमन) का आश्रय' (और केवल 'पिक इव रौति' हो वहाँ उसका

शाब्दबोध—'पिक से निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली बोली का आश्रय') यह होता है। और जहाँ इन वाक्यों के साथ अन्य कारक लगे हों, जैसे 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इत्यादि वाक्यों में, वहाँ पूर्वोक्त रीति से उपमान-वाचक पद—'गज' आदि—की, उसके द्वारा की जानेवाली क्रिया में लक्षणा माननी चाहिए—यही उचित है।

आप कहेंगे—इस तरह शाब्दबोध मानने से "धातु के अर्थ को विशेष्य मानकर विशेषणता संबंध से होनेवाले शाब्दबोध में विशेष्यरूप से होनेवाले विभक्ति के अर्थ का कारण रूप माना जाता है" इस पूर्वोक्त कार्य-कारण-भाव का व्यभिचार हो जायगा—वह नियम टूट जायगा; क्योंकि ऐसा मानने से उसका अतिक्रम हो जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि—हम उस नियम को नहीं मानते। क्योंकि यदि उस नियम को माना जाय तो 'तूष्णीम् (चुप)' 'आरात् (दूर अथवा समीप)' और 'पृथक्' इत्यादि निपातों के अर्थों का धातु के अर्थ में अन्वय अनुभव-सिद्ध है (हम देखते हैं कि 'चुप रहो' इस वाक्य में 'चुप' के अर्थ का सीधा 'रहने' के साथ अन्वय होता है) उसे छिपाना पड़ेगा—अनुभव करते हुए भी उसके लिये नाहीं करनी पड़ेगी। अतः उस नियम का न मानना ही अच्छा है।

द्वारा को जानेवाली क्रिया में लक्षणा। सारांश यह कि—आपका मत वैयाकरणों के हिसाब से ठीक हो सकता है; पर आपने जो नैयायिकों के सिर यह चाल मढ़ी सो अनुचित है। यदि ऐसा ही करना था तो आपको वैयाकरणों के हिसाब से शाब्दबोध लिखना था। यह सब है इसका संक्षेप

अब रही यह शंका कि—उस नियम को नहीं मानते तो फिर 'घटो न पश्यति' इस पूर्वोक्त स्थल पर 'घड़े के अभाव को देखता है' यह अन्वय-ज्ञान क्यों नहीं हो जाता। इसका उत्तर यह है कि—'धातु के अर्थ को विशेष्य मानकर विशेषणतासंबंध से होनेवाले अन्वय के बोध में, केवल 'नञ् (न)' के अर्थ के स्मरण के, 'प्रतिबंधक (रोक देनेवाला) होने' की कल्पना कर ली जानी चाहिए—अर्थात् एकमात्र 'नञ्' के अर्थ का बोध ऐसा है कि जो वैसे अन्वय-ज्ञान को रोक देता है—जहाँ वह न हो वहीं वैसा अन्वय-ज्ञान होता है। रही धातु के अर्थ के साथ 'प्रातिपदिक के अर्थ से भिन्न' यह विशेषण लगाने की बात; सो यह आप और हम दोनों के लिये समान है—वह विशेषण तो आपको भी लगाना पड़ेगा और हमें भी। आप कहेंगे—इस विशेषण का क्या फल है? तो उत्तर यह है कि ऐसा करने से "पाको न यागः—पाक (पकाना) यज्ञ नहीं है" इत्यादिक में अतिव्याप्ति न होगी, अन्यथा यदि यहाँ भी 'न' के अर्थ को पूर्वोक्तरीत्या प्रतिबंधक माना जाय तो 'पाको न यागः' का प्रकृत अर्थ न हो सकेगा। अच्छा छोड़िए अब इस अप्रस्तुत विचार को।

७—वाक्य—अरविंदतुल्यो भाति (अरविंद के सदृश प्रतीत होता है)।

विवेचन—अच्छा, अब यह सोचिए कि 'अरविंदतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध किस तरह होता है—भेद-संबंध से अथवा अभेद-संबंध से? 'तुल्य' पद के अर्थ का भेद संबंध से तो धातु के अर्थ में अन्वय हो नहीं सकता; कारण वह 'निपात' के अतिरिक्त प्रातिपदिक ('तुल्य') का अर्थ है अतः पूर्वोक्त नियम लग जायगा और यदि अभेद-संबंध से अन्वय मानकर ('अर्थात् अरविंद के समान से अभिन्न प्रतीति का आश्रय' यह शाब्दबोध मानकर) पूर्वोक्त 'तुल्यत्व (सादृश्य)

को' 'प्रतीति' रूपी विधेय-अंश के उद्देश्य का अवच्छेदक माना जाय—अर्थात् 'तुल्य' शब्द के अर्थ को उद्देश्य माना जाय और 'तुल्यत्व' को उसका अवच्छेदक, और केवल '(धातु के अर्थ) प्रतीति' को विधेय माना जाय तो वक्ता का अभीष्ट अर्थ प्रतीत नहीं होगा; क्योंकि वह चाहता है 'सादृश्य (तुल्यत्व)' का विधेय होना और ऐसी दशा में वह उद्देश्य का अवच्छेदक हो जायगा।

अब यदि आप कहें कि—यहाँ 'तुल्य' शब्द का अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'तुल्यत्व जिसका विशेषण है' यह करेंगे और इस अर्थ का, अभेद-संबंध द्वारा, धातु के अर्थ 'प्रतीति' में अन्वय कर देंगे—अर्थात् 'अरविंदतुल्यो भाति' का शाब्दबोध 'अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी प्रतीति का कर्त्ता' मानेंगे; तो हम कह सकते हैं—बात बन सकती है। पर उस दशामें 'अरविंदतुल्य' यह क्रिया का विशेषण होगा, और तब "क्रियाव्ययविशेषणानां क्लीबतेष्यते—अर्थात् क्रिया और अव्यय के विशेषण नपुंसक होने चाहिए" इस व्याकरण के नियम के अनुसार 'अरविंदतुल्यं भाति' प्रयोग हो सकेगा, 'अरविंदतुल्यो भाति' नहीं। पर इस आपत्ति का उत्तर हो सकता है। वह यह कि—व्याकरण तो जैसा कुछ लोग बोलते आए हैं उसका अनुवादक है, उसे स्वतंत्रतया तो नियम बनाने का अधिकार है नहीं; अतः क्रियाविशेषणों के नपुंसक होने का नियम केवल 'स्तोकं पचति (थोड़ा पकाता है)' आदि में लगता है 'अरविंदतुल्यो भाति' आदि में नहीं। क्योंकि व्याकरण लोक-व्यवहार के अनुसार ही नियम बना सकता है, वह लोक-व्यवहार का अतिक्रमण कभी नहीं कर सकता*। अतः 'अरविंदतुल्यो भाति' इस वाक्य का

---

* नागेश कहते हैं—यदि आपका तात्पर्य शाब्दबोध में उपमा को विधेय रखने का है, तब तो 'अरविंदतुल्यम्' यही प्रयोग शुद्ध

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी प्रतीति का विशेष्य'

है 'अरविंदतुल्यः' यह नहीं। क्योंकि आपकी दी हुई युक्ति अड़ंगा-मात्र है, उससे क्रियाविशेषण पुंलिंग नहीं हो सकता। अब यदि आप हमारी लिखी पूर्वोक्त युक्ति से काम लें कि—'वाक्य में जो विधेय हो उसका उपमाबोधक (इव आदि) शब्द के द्वारा समानधर्म के रूप में उपस्थित किया जाना ही उपमा का विधेय होना है'; तब भी काम नहीं बन सकता। कारण, 'अरविंदतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध (वैयाकरणों के हिसाब से) 'अरविंद-सदृश्य जिसका विषय है वह प्रतीति' और (नैयायिकों के हिसाब से) 'प्रतीति का विषय (प्रतीति में आनेवाला) अरविंद-सदृश' इन्हीं दो प्रकारों से हो सकता है; पर इन दोनों ही प्रकारों में 'प्रतीति' ही समान धर्म के रूप में उपस्थित होती है और वह 'तुल्य' शब्द से बोधित होती नहीं; क्योंकि 'तुल्य' शब्द पूर्वोक्तरीत्या 'प्रतीति के विषय' का बोध करवाता है, 'प्रतीति' का नहीं। सो उपमा को विधेय मानना हो तो बिना 'अरविदतुल्यम्' प्रयोग किए गुजारा नहीं। हाँ, यदि आप यहाँ उपमा का सिद्ध करनेवाला धर्म 'प्रतीति' के अतिरिक्त, अन्य कोई ('सौंदर्य' आदि) मान लें तो अलबत्ता 'अरविदतुल्यः' प्रयोग हो सकता है। पर तब भी उपमा तो उद्देश्यतावच्छेदक ही रहेगी, विधेय नहीं। इतना याद रखिए। (पर 'निर्मितिमाद्धती' इस काव्यप्रकाश के पद्य में 'निर्मिति' पद क्रियाविशेषण होने पर भी स्त्रीलिङ्ग है। अतः 'क्रिया-विशेषण नपुंसक लिङ्ग ही होता है' यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। इसलिये नागेश का कथन चिन्तनीय है।)—सं०।

यह होता है। इसमें 'अरविंद से निरूपित' इतना 'अरविंद' पद का संबंध सहित अर्थ है, 'सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी' इतना 'तुल्यः' पद का अर्थ है और 'प्रतीति का विशेष्य' यह 'भाति' पद का अर्थ है, जैसा कि पहले वाक्यों में लिखा जा चुका है। इस शाब्द-बोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद के समान प्रतीत होनेवाला' यों कहा जा सकता है।

कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त, पूरा अर्थ, लक्षणा द्वारा, धातु से ही प्रतीत हो जाता है; 'अरविंदतुल्यः' यह भाग तो केवल इसलिये लिखा गया है कि यहाँ वक्ता का किस अर्थ में लक्षणा करने का तात्पर्य है, इसका ज्ञान हो जाय, उसका स्वयं कोई अर्थ नहीं।

८—वाक्य—अरविंदवत् सुंदरम् (अरविंद के समान सुंदर)।

विवेचन— यहाँ "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११५)" इस पाणिनि-सूत्र से 'वति (वत्)' प्रत्यय हुआ है। यद्यपि इस 'वति' प्रत्यय का अर्थ 'सादृश्य से युक्त (तुल्य)' होता है, तथापि यहाँ उसका, लक्षणा द्वारा, 'सादृश्य' अर्थ किया जाता है। उस सादृश्य का, 'सुंदर' पद के अर्थ के एक देश 'सौंदर्य' के साथ (प्रयोजकता' संबंध से) अन्वय करने पर 'अरविंदमिव सुंदरम् * (नं० २)' की तरह बोध होता है।

---

* नागेश कहते हैं—सूत्र के अनुसार 'वति' प्रत्यय वहीं होता है, जहाँ क्रिया की तुल्यता हो; अतः 'अरविंदवत् सुंदरम्' और 'अरविंदमिव सुंदरम्' इन दोनों वाक्यों का बोध समान कैसे हो सकता है? क्योंकि 'वति' वाले वाक्य से क्रियाओं की समानता प्रतीत

आप कहेंगे—'अरविंदमिव सुंदरम्' और 'अरविंदवत् सुंदरम्' इन दोनों वाक्यों का शाब्दबोध समान होता है, तो फिर हमने, उपमा के उदाहरणों का विवेचन करते हुए, 'इव' वाले वाक्यों में 'श्रौती' उपमा और 'वति' वाले वाक्यों में आर्थी उपमा क्यों बताई—दोनों वाक्यों के शाब्दबोध में कोई भेद तो है नहीं, फिर यह क्या बात है? इसका उत्तर यह है कि—'इव' शब्द से 'सादृश्य' का प्रतिपादन अभिधा द्वारा होता है और 'वति' प्रत्यय से लक्षणा द्वारा—अर्थात् 'इव' से सादृश्य की सुनते ही उपस्थिति हो जाती है और 'वति' से अर्थ पर ध्यान देकर लक्षणा करने के बाद, अतः वहाँ 'श्रौती' और यहाँ 'आर्थी'* उपमा मानी गई है।

होती है और 'इव' वाले वाक्य से वस्तुओं की। अतः आपका कथन विचारणीय है। अतएव 'महाभाष्यकार' आदि ने "ब्राह्मणवदधीते" इत्यादि में 'ब्राह्मण' पद की 'ब्राह्मण द्वारा की जानेवाली अध्ययन-रूपी क्रिया' में लक्षणा मानी है। अतः 'अरविंदवत् सुदरम्' इस वाक्य में 'भवति (होता है)' क्रिया का अध्याहार करना चाहिए और 'अरविंद' पद का अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'सुंदर अरविंद का होना' इतना होना चाहिए। सो इस तरह इस वाक्य का शाब्दबोध 'सुंदर अरविंद के होने के समान सुदर मुख का होना' यह करना उचित है। रही 'मुख और अरविंद की समानता' की प्रतीति; सो वह इस बोध के बाद व्यंजना द्वारा होती है। इसी तरह 'अरविंदवन्मुखम्' इस वाक्य का शाब्दबोध भी 'अरविंद के होने के समान मुख का होना' यही उचित है।

* वास्तव में यहाँ उपमा को आर्थी कहना अशुद्ध है। उपमा आर्थी वहाँ होती है जहां 'सादृश्य-विशिष्ट' अर्थ हो,—अर्थात् सादृश्य की

९—अरविन्दवन्मुखम्—(अरविंद के समान मुख) इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद द्वारा निरूपित' सादृश्य से युक्त से अभिन्न मुख' यह होता है। इसमें 'अरविंद' द्वारा निरूपित इतना तो 'अरविंद' पद का अर्थ है ही और 'सादृश्य से युक्त से अभिन्न' इतना है 'वति' प्रत्यय का संबंध सहित अथ। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद द्वारा निरूपित सादृश्य से युक्त मुख' इस तरह कहा जा सकता है।

१०—वाक्य—अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य (इसकी सुंदरता अरविंद के समान है)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंद' पद का अर्थ, लक्षणा द्वारा*, 'अरविंद की सुंदरता' होता है। इस 'वति' प्रत्यय का अर्थ सादृश्य है

विशेषण रूप से प्रतीति होती हो। यहां तो वति प्रत्यय की सादृश्य में लक्षणा होने से वह विशेष्य रूप से प्रतीत हो रहा है। यह बात 'निखिलजगन्महनीया' इस उदाहरण में स्पष्ट है।—सं०।

* नागेश कहते हैं—'अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य' यहां "तत्र तस्येव (५।१।११६)" इस सूत्र से 'वति' प्रत्यय होता है। यह 'वति' प्रत्यय 'इव' के अर्थ में विहित है अतः इसका अर्थ 'सादृश्य' तो होता ही है, अब आप उसका लक्षणा द्वारा 'सादृश्य का प्रयोजक' इतना अर्थ कर लीजिए तो इस वाक्य का शाब्दबोध (सीधे ढंग से) "इस वस्तु की सुंदरता अरविंद से निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली है" यह हो जाता है। ऐसी दशा में 'अरविंद' पद की 'अरविंद की सुंदरता' अर्थ में लक्षणा करने का क्या फल है और उसमें क्या प्रमाण है

और उसके साथ सुंदरता का 'निरूपितता' संबंध है। 'इस वस्तु की सुंदरता' उस साहश्य का 'आधार' होती है। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'इस वस्तु की सुंदरता अरविंद की सुंदरता से निरूपित साहश्य का आधार है।'

यह होता है। इस तरह शब्दों से मुख और अरविंद की सुंदरताओं के साहश्य का ज्ञान हो जाने पर उन दोनों सुंदरताओं को अभिन्न मानकर, एवं बाद में, उस अभिन्न धर्म को निमित्त मानकर मुख और अरविंद के साहश्य का भी मानस बोध हो जाता है।

११ वाक्य—अरविंदेन तुल्यम् (अरविंद के समान)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंद' शब्द के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ है 'निरूपितता'। उसका 'तुल्य' पद के अर्थ (साहश्य से युक्त) के एक देश 'साहश्य' में अन्वय किया जाता है और 'तुल्यम्' पद की प्रथमा विभक्ति का अर्थ तो 'अभेद' है ही। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित साहश्य के आश्रय (साहश्य युक्त) से अभिन्न'

यह होता है। इस शाब्दबोध को

सो समझ में नहीं आता; अतः यह शाब्दबोध विचारणीय ही है। (नागेश आग्रह में हैं, क्योंकि लक्षणा दोनों मानते हैं। तब पण्डितराज अरविंद और मुख की सुंदरताओं की समानता से अरविन्द और मुखमें समानता कहें तो कोई आपत्ति नहीं। उपमान और उपमेय की सुंदरताओं के भिन्न-भिन्न होने से ऐसा कहना अधिक उचित भी है)—सं०।

सरल शब्दों में—अरविंद से निरूपित सादृश्य से युक्त' इस तरह कहा जा सकता है।

१२—**वाक्य**—सौन्दर्येणाऽरविन्देन तुल्यम् (सुंदरता से कमल के समान)।

विवेचन—पूर्वोक्त वाक्य में समान धर्म ('सौन्दर्येण') और बढ़ा देने पर यह वाक्य बन जाता है। यहाँ 'सौन्दर्य' शब्द के आगे जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ 'प्रयोज्यता (सिद्ध होना)' होता है और शेष अंश तो वही है ही। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित और सौंदर्य द्वारा सिद्ध होने वाले सादृश्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है।

१३—**वाक्य**—अरविन्दमाननं च समम् (कमल और मुख समान है)।

विवेचन—इस वाक्य में 'सम' शब्द का 'अरविंद' और 'आनन' दोनों पदों के अर्थों के साथ 'अभेद' संबंध है; क्योंकि 'दो प्रातिपदिकों के अर्थों का अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं हो सकता' यह नियम पहले बताया जा चुका है। अतः प्रथमतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'सादृश्य-युक्त से अभिन्न कमल और मुख'

यह होता है। और बाद में, मन द्वारा अथवा व्यंजनावृत्ति द्वारा, अरविंद से निरूपित सादृश्य की मुख में और मुख से निरूपित सादृश्य की अरविंद में प्रतीति होती है। अर्थात् ऐसे वाक्यों में, बारी-बारी से, दोनों को उपमान और दोनों को उपमेय कहा जा सकता है; क्योंकि इन दोनों में से अमुक के द्वारा निरूपित सादृश्य अमुक में ही माना जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं। पर यदि यह मानो कि—सादृश्य

का प्रसिद्ध वस्तु के द्वारा निरूपित होना अनुभव-सिद्ध है, तो सादृश्य को उन दोनों में से जो वस्तु उस धर्म (सुंदरता आदि) के लिये प्रसिद्ध हो उसके द्वारा निरूपित समझ लीजिए। अतः यहाँ अरविंद के समान मुख यह बोध होगा, पर प्रथमतः शाब्दबोध तो वैसा ही होता है।

१४—बिंबप्रतिबिंबभावापन्न

(क) कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः॥

(कोमल धूप और लाल बादलवाले संध्या-समय का सगा भाई, केसर के लेप और कषाय वर्ण के वस्त्र से युक्त, संन्यासी जा रहा है।)

इत्यादिक में, शक्ति द्वारा (और 'सहोदर' शब्द में लक्षणा द्वारा) यह शाब्दबोध होता है कि—"केसर के लेप आदि विशेषणों से युक्त संन्यासी, कोमल धूप आदि विशेषणों से युक्त संध्या-समय के सदृश से अभिन्न है (अर्थात् सदृश है)।"

जब यह शाब्दबोध हो चुकता है तब सादृश्य के सिद्ध करनेवाले समानधर्म की आकांक्षा होती है—श्रोता यह जानना चाहता है कि इस उपमा में समानधर्म क्या है? और तब धर्म के अभिन्न होने के लिये पूर्वोक्त वाक्य में सुने गए 'कोमल धूप' और 'केसर के लेप' आदि उपमान और उपमेय के विशेषणों का, परस्पर सादृश्य के कारण, ताद्रूप्य (अभेद) मान लिया जाता है, इस तरह एक रूप माने हुए विशेषण समानधर्मरूप बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि—बिंब प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमा में शाब्दबोध तो पूर्वोक्तरीत्या हो जाता है। (अर्थात् यदि 'इव' आदि शब्द हों तो उनके अर्थ 'सादृश्य का

'आश्रयता (युक्त होना)' संबंध से और यदि 'सहोदर' आदि लक्षणा से 'सदृश' अर्थवाले पद हों तो उनका 'अभेद' संबंध से उपमेय में अन्वय हो जाता है ।) पर बाद में उपमा के सिद्ध करनेवाले समानधर्म के लिये परस्पर सदृशता रखनेवाले उपमान-उपमेय के विशेषणों का अभिन्न मान लिया जाता है और इस तरह वे समान-धर्मरूप बन जाते हैं ।

(ख) यदि पूर्वोक्त पद्य बदलकर यों बना दिया जाय कि—

कुंकुमालेपकाषायवसनाभ्यमयं यतिः ।
कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ॥

अर्थात् यह संन्यासी, केसर के लेप और गेरुआ वस्त्र के कारण, कोमल धूप और लाल बादलवाले संध्या-समय का सगा भाई (समान) है ।)

तब यद्यपि 'केसर का लेप' और 'गेरुआ वस्त्र' असाधारण होते हैं—अर्थात् ये दोनो चीजें, केवल उपमेय (संन्यासी) से ही सबंध रखती हैं, अतः साधारणधर्मरूप नहीं हो सकतीं; तथापि संध्या समय और संन्यासी में हमें जिस सादृश्य की कल्पना करनी है—अर्थात् जो सादृश्य बिना इन विशेषणों के सिद्ध ही नहीं हो सकता—उस सादृश्य की सिद्धि में प्रयोजक हो जाती है; क्योकि ये दोनो चीजें (केसर का लेप और काषाय वस्त्र), संध्या समय के धर्मों (कोमल धूप और लाल बादल) के साथ अभिन्न मान ली जायँ तो, साधारणता का बोध करवा देती हैं—अर्थात् इन धर्मों को उन धर्मों से अभिन्न मान लेने के द्वारा ही सादृश्य सिद्ध होता है । सो इन धर्मों के, सादृश्य की सिद्धि में, प्रयोजक होने के कारण सादृश्य के साथ केसर के लेप और गेरुआ वस्त्र (इन तृतीयान्त पदों) का 'प्रयोज्यता' संबंध से अन्वय होता है । अतः इस पद्य का

शाब्दबोध—यह संन्यासी, केसर के लेप और भगवावस्त्र द्वारा सिद्ध किए जानेवाले (प्रयोज्य), कोमल धूप और लाल बादलों से युक्त संध्या-समय के सादृश्य से युक्त (सदृश) में, अभिन्न है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—जहाँ बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमा में, उपमेय के विशेषण तृतीयान्त हों, वहाँ उनका, 'सदृश' अर्थवाची शब्द हो तो उसके अर्थ के एकदेश सादृश्य में और यदि सादृश्यवाची (इव आदि) शब्द हो तो उसके अर्थरूप सादृश्य में, 'प्रयोज्यता' संबंध से अन्वय होता है।

रही एक देश में अन्वय की बात; सो इन पक्षों में, और कोई गति न होने के कारण, उसे स्वीकार करना पड़ता है—यह पहले कहा ही जा चुका है।

सादृश्य को समान धर्म-रूप माननेवालों के मत से शाब्दबोध

(यह तो हुई सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों (मीमांसक आदि) के मत से शाब्दबोध की बात, अब सादृश्य को समान धर्म-रूप माननेवालों (नैयायिकों) की बात सुनिए। उनके मत से जहाँ समान धर्म का ग्रहण है, केवल उन वाक्यों में—अर्थात् सं० १, २, ५, ८, १०, १२, इन छः वाक्यों में—भेद होता है। उसमें से भी अंतिम तीन वाक्यों में वही प्रक्रिया है जो पहले तीन वाक्यों में। अतः केवल तीन बोधों पर विचार कर लेने से उनका मतभेद विदित हो जायगा। अच्छा तो उन तीन बोधों पर भी विचार कर लीजिए—)

१—वाक्य—अरविंदसुंदरम् (कमल सुंदर)।

विवेचन—यहाँ 'अरविंद' शब्द से लक्षणा द्वारा, अरविंद में रहनेवाले समान धर्म का बोध होता है और उसका, अभेद संबंध से 'सुंदर' पद के अर्थ (सौंदर्य-युक्त) के एकदेश 'सौंदर्य' में अन्वय होता है। अतः उनके मत से इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद में रहनेवाले समान धर्म से अभिन्न सौंदर्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है। इसमें 'अरविंद में रहनेवाले समान धर्म से अभिन्न' इतना 'अरविंद' शब्द का संबंध सहित अर्थ है और 'सौंदर्ययुक्त से अभिन्न' यह है 'सुंदर' शब्द का संबंधसहित अर्थ। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद में रहनेवाले समानधर्मरूप सौंदर्य से युक्त' यों कहा जा सकता है।

२—**वाक्य**—**अरविंदमिव सुंदरम्** (अरविंद-सा सुंदर)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंद' पद का अर्थ (अरविंद) 'आधेयता (रहने)' रूपी संबंध से 'इव' पद के अर्थ 'समान धर्म' के साथ अन्वित होता है और शेष पहले की तरह हुई है—अर्थात् समानधर्म का अभेद संबंध से 'सुंदर' पद के अर्थ के एकदेश 'सौंदर्य' के साथ अन्वय होता है। सो इस वाक्य का भी शाब्दबोध प्रथम वाक्य के समान ही होता है। भेद केवल इतना है कि—प्रथम वाक्य में 'समानधर्म' की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और इसमें अभिधा द्वारा; क्योंकि यहाँ समानधर्म का वाचक 'इव' शब्द है और वहाँ यह नहीं था।

३—**वाक्य**—**सौंदर्येणारविंदेन समम्** (सुंदरता से अरविंद के समान)।

विवेचन—इस वाक्य में 'सौंदर्येण' पद की तृतीया विभक्ति का अर्थ 'अभेद' होता है; जैसे कि '**धान्येन धनी**धान्य से धनवाला' यहाँ 'से' का अर्थ अभेद मानकर 'धान्यरूपी धनवाला' यह अर्थ किया जाता है। क्योंकि यहाँ धान्य ही धन है। और 'अरविंदेन' पद की तृतीया विभक्ति का अर्थ 'निरूपितता'। शेष प्रक्रिया तो वही है। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'सौंदर्य से अभिन्न और अरविंद से निरूपित सादृश्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है। इसमें 'सौंदर्य से अभिन्न' इतना 'सौंदर्येण' पद का अर्थ है, 'अरविंद से निरूपित' इतना 'अरविंदेन' पद का अर्थ है और 'सादृश्य से युक्त से अभिन्न' इतना 'समम्' पद का संबंध सहित अर्थ है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद से निरूपित सौंदर्यरूपी सादृश्य से युक्त' यों कहा जा सकता है।

लुप्तोपमा के विषय में

(लुप्तोपमा समास, तद्धित, नामधातु और कृदंत—इन चार स्थलों में होती है। उसमें समास की लुप्तोपमा का बोध तो 'अरविंद-सुंदरम् (न० १)' में लिख ही दिया गया है और तद्धित की लुप्तोपमा में भी वही बात है; क्योंकि वहाँ भी उसी तरह उपमानपद में लक्षणा करके सब काम निकाल लिया जाता है। अब केवल नामधातु और कृदंत के 'क्यङ्'. और 'क्यच्' आदि प्रत्यय के विषय में कहना रह जाता है। सो उनके उदाहरण सुनिए—)

वाक्य—अरविन्दायते (अरविंद का-सा आचरण करता है)।

विवेचन—यहाँ 'क्यङ्' प्रत्यय का अर्थ 'आचार' होता है, जो कि केवल 'समानधर्म' रूप है। उपमानपद अरविंद—से लक्षणा द्वारा समझाया हुआ 'उपमान—अरविंद—से निरूपित सादृश्य,' (सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों के मत से) 'प्रयोजकता' संबंध द्वारा अथवा (सादृश्य को समानधर्मरूप माननेवालों के मत से) अभेद संबंध द्वारा उस समानधर्म का विशेषण होता है, और

विशेष्य होता है 'आश्रयता' संबंध द्वारा, उपमेय—अर्थात् मुख। अतः 'अरविंदायते' का

शाब्दबोध 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक—अथवा सादृश्य अभिन्न—समान धर्म का आश्रय'

यह होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद के सादृश्य को सिद्ध करनेवाले, अथवा सादृश्य रूप, समानधर्म से युक्त' यों कहा जा सकता है।

यही बात 'क्यच्' प्रत्ययवाले शाब्दबोध में भी है। उसमें केवल इतना भेद है कि 'क्यच्' प्रत्यय का अर्थ आचार केवल समानधर्म के रूप में ही प्रतीत नहीं होता, किंतु 'अनुरूप क्रिया' आदि विशेष रूप में प्रतीत होता है। अर्थात्

तिलोत्तमीयन्ती (अपने तईं तिलोत्तमा-सा आचरण करती हुई) इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अपने तईं तिलत्तमा के सादृश्य (सदृश बनाने) के अनुरूप क्रिया करती हुई' यह होता है।

यह है शाब्दबोध का संक्षेप।

'इव' आदिक अव्यय सादृश्य के द्योतक हैं वा वाचक ?

वैयाकरणों का कथन है कि—'इव' आदिक सादृश्य के द्योतक ही हैं, वाचक नहीं। कारण, ये सब निपात हैं और निपात द्योतक ही हुआ करते हैं; जैसे उपसर्ग। सारांश यह कि—जैसे उपसर्गों का स्वयं कोई अर्थ नहीं होता, किंतु वे धातु के अर्थ के द्योतक (प्रकाशक) मात्र होते हैं, वैसे ही 'इव' आदि भी सादृश्य के द्योतक हैं। 'द्योतक' शब्द का अर्थ है—अपने समीपवर्ती किसी अन्य पद से, शक्ति अथवा

लक्षणा द्वारा, (जैसा जहाँ अपेक्षित हो) वैसे अर्थ के समझाने के लिये तात्पर्य-ज्ञान करवा देने में उपयोगी होना । अर्थात् जिनका केवल इतना उपयोग हो कि—किसी समीपवर्त्ती पद का वक्ता की इच्छा के अनुकूल अर्थ, फिर वह शक्ति से हो अथवा लक्षणा से, समझा देना, वे द्योतक कहलाते हैं । अतः यह सिद्ध हुआ कि 'इव' आदिक का स्वयं कोई अर्थ नहीं, किंतु उपमान-पद से लक्षणा द्वारा ज्ञात होनेवाले 'उपमान के सादृश्य' में वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान करवा देने में उनका उपयोग है ।

पर **नैयायिक** यह मानने को तैयार नहीं । वे कहते हैं—उपसर्गों को द्योतक मानना आवश्यक है, अन्यथा 'उपास्यते गुरुः (गुरु सेवन किए जाते हैं)", "अनुभूयते सुखम् सुख अनुभव किया जाता है)" इत्यादिक प्रयोगो में 'गुरु' आदि शब्द 'लट्' आदि लकारों से उक्त नहीं हो सकेंगे; क्योंकि उपसर्ग-रहित 'आस्' और 'भू' धातु के अकर्मक होने के कारण 'गुरु' और 'सुख' शब्द उन धातुओं के अर्थ के कर्म नहीं हो सकते । अतः यह मानना आवश्यक है कि 'सेवन' और 'अनुभव' भी 'आस्' और 'भू' धातु के ही अर्थ हैं, पर उन्हें 'उप' और 'अनु' उपसर्ग केवल द्योतित कर देते हैं और यदि 'गुरु' आदि शब्द-धातु के अर्थ से उक्त न होंगे तो उनमें प्रथमा विभक्ति न हो सकेगी । ऐसा होता नहीं, अतः उपसर्गों को द्योतक मानने की आवश्यकता है । रहे 'इव' आदिक, सो उन्हें तो वाचक ही मानना चाहिए; क्योंकि ऐसा मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं । आपने जो 'निपात होने' को 'इव' आदि के द्योतक होने का हेतु बताया है सो उसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं, अत. उस हेतु से यह बात सिद्ध नहीं होती । यदि इसी तरह हेतु लगाए जायँ तो 'अव्यय होने' को हेतु मानकर सभी अव्यय द्योतक माने जा सकते हैं । सो वैयाकरणों का 'इव' आदि को

द्योतक मानना उचित नहीं, किंतु उपसर्गों को द्योतक और 'इव' आदि को वाचक मानना ही उचित है* ।

उपमा के दोष

जो कुछ उपमा के चमत्कार को न्यून करे—अर्थात् आनंददायकता में, किसी भी तरह की बाधा उपस्थित करे—वह सब दोष है । जैसे—(१) कविसंप्रदाय में प्रसिद्ध न होना, (२) उपमान और उपमेय का जाति, प्रमाण, लिंग और वचन द्वारा परस्पर अनुरूप न होना, (३) बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों में उपमान और उपमेय के धर्मों में उपमान और धर्मों का न्यूनाधिक होना और (४) समानधर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरुष और विधि आदि अर्थों का उपपन्न न होना—अर्थात् उपमान और उपमेय दोनों में फिट न बैठना; इत्यादि ।

अच्छा, अब क्रमशः इन दोषों के उदाहरण सुनिए ।

(१) कवियों के व्यवहार में प्रसिद्ध न होना; जैसे—

---

* नागेश कहते हैं—नैयायिकों की युक्ति शिथिल है । कारण, 'निपात होना' इस हेतु को अनुकूल तर्क से रहित कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि उपसर्गों को ही द्योतक माना जाय, निपातों को नहीं तो 'साक्षात्क्रियते दयिता' इत्यादि प्रयोगों में 'दयिता' आदि शब्दों से प्रथमा विभक्ति न हो सकेगी, अतः निपात मात्र को द्योतक मानना उचित है । रही सब अव्ययों को द्योतक मानने की बात, सो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा मानो तो 'स्वर् (=स्वर्ग)' आदि अव्ययों का स्वतंत्र प्रयोग न हो सकेगा और होता है अवश्य, अतः केवल उपसर्गों को ही नहीं, किंतु सब निपातों को द्योतक मानना और अव्ययों को द्योतक न मानना उचित है ।

प्रफुल्लकह्लारनिभा मुखश्री रदच्छदः कुङ्कुमरम्यरागः।
नितान्तशुद्धा तव तन्वि ! वाणी विभाति कर्पूरपरम्परेव ॥

नायक नायिका से कहता है—हे कृशांगि ! तुम्हारी मुख की कांति फूले हुए कह्लारपुष्प के समान, तुम्हारा होठ केसर के-से रमणीय रंग-वाला और तुम्हारी अत्यंत शुद्ध वाणी कपूर की पंक्ति के समान प्रतीत होती है।

(यहाँ मुख की कांति कह्लार पुष्प से, होठ केसर से और वाणी की कपूर की पंक्ति से उपमा कवियों के व्यवहार में प्रसिद्ध नहीं है।)

(२) उपमान और उपमेय का जाति द्वारा अनुरूप न होना; जैसे—

मुनिः श्ववदयं भाति सततं पर्यटन् महीम्।
विनिवृत्तक्रियाजातः श्वाऽपि लोके शुकायते ॥

निरंतर पृथिवी पर घूमता हुआ यह मुनि कुत्ते की तरह प्रतीत होता है। संसार में सब काम छोड़ बैठने पर कुत्ता भी शुकदेव के समान हो जाता है।

(यहाँ पूर्वार्ध में कुत्ते से मुनि की उपमा देना और उत्तरार्ध में शुकदेवजी से कुत्ते की उपमा देना दोनों ही जाति के द्वारा अनुरूप नहीं। कुत्ते की जाति हजार यत्न करने पर भी मुनियों के सदृश कैसे हो सकती है ?)

प्रमाण (परिमाण) के द्वारा अनुरूप न होना; जैसे—

सरसि स्रवदाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम्।
आदिकारणतोयौघ इव ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥

तालाब में तैरता हुआ अत्यंत पका नीबू ऐसा प्रतीत होता है, जैसे संसार के आदिकारणरूप जल-समूह में ब्रह्मांड का मंडल।

(यहाँ उपमान और उपमेय का परिणाम अनुरूप नहीं। कहाँ बेचारा नीबू और कहाँ चौदह भुवनों को पेट में रख लेनेवाला ब्रह्मांड-मंडल! एवं कहाँ ज़रा-सा तालाब और कहाँ वैसे अनेक ब्रह्मांडों को अपने भीतर समाविष्ट कर लेनेवाला वह जल-समूह!)

इसी पद्य में कुछ पदों को बदलकर यदि ब्रह्मांड को उपमेय बना दिया जाय तब भी यही दोष होगा। जैसे—

सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम्।
आदिकारणतोयौघे प्लवद् ब्रह्माण्डमण्डलम्॥

संसार के आदिकारणरूप जल-समूह में तैरता हुआ ब्रह्माण्ड-मण्डल सरोवर में तैरते अत्यन्त पके नींबू सा प्रतीत होता है।

लिंग और वचन के द्वारा अनुरूप न होना; जैसे—

द्राक्षेव मधुरं वाक्यं चरितं कौमुदी यथा।
सदैवार्द्राणि चेतांसि सुधेव सुमहात्मनाम्॥

अच्छे महात्माओं का वाक्य दाख-सा मधुर होता है, चरित्र ऐसा (निर्मल) होता है जैसी कि चाँदनी और चित्त सुधा की तरह निरंतर आर्द्र ही रहते हैं।

[यहाँ उपमान (दाख, चाँदनी और सुधा) स्त्रीलिंग हैं और उपमेय (वाक्य, चरित्र और चित्त) नपुंसक, अतः लिंग के द्वारा, और 'चेतांसि (चित्त)' बहुवचन है तथा 'सुधा' एकवचन, अतः वचन के द्वारा, उपमा अनुरूप नहीं है।]

(३) बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों में धर्म की न्यूनता, जैसे—

वामाकल्पितवामाङ्गो भासते भाललोचनः ।
शम्पया सम्परिष्वक्तो जीमूत इव शारदः ॥

भगवती पार्वती से वामांग बनाए हुए (अर्थात् अर्धनारीश्वर) ललाट पर लोचनवाले भगवान् शिव ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे बिजली से आलिंगन किया हुआ शरद् ऋतु का मेघ ।

यहाँ मेघ (उपमान) में ललाट के लोचन का प्रतिबिंब-रूप कोई धर्म नहीं लाया गया, अतः एक धर्म की न्यूनता है । पर यदि 'भाल-लोचनः' के स्थान पर 'भगवान् भवः' पाठ कर दिया जाय तो वह न्यूनता निवृत्त हो जायगी । कारण, बिंब (ललाट के लोचन) के न रहने से प्रतिबिंब की अपेक्षा ही न रहेगी ।

धर्म की अधिकता; जैसे—

विष्णुवक्षःस्थितो भाति नितरां कौस्तुभो मणिः ।
अङ्गारक इवाऽनेकतारके गगनाङ्गणे ॥

विष्णु के वक्षःस्थल में स्थित कौस्तुभ मणि, अनेक तारों से युक्त आकाश-मंडल में मंगल के तारे की तरह, अत्यंत शोभित हो रहा है ।

यहाँ तारों का बिंबरूप कोई धर्म नहीं लाया गया, अतः प्रतिबिंब में एक धर्म की अधिकता है । यदि इसका पूर्वार्ध "**विष्णोर्वक्षसि मुक्तालिभासुरे भाति कौस्तुभः**—अर्थात् मोतियों की पंक्ति से चमकते हुए विष्णु के वक्षःस्थल में कौस्तुभ मणि शोभित हो रहा है" यह बना दिया जाय तो दोष नहीं रहता; क्योंकि तब मोतियों की पंक्ति तारों का बिंबरूप हो जायगी । इस पद्य में विशेषणों के विशेषणों—'मोतियों की

पंक्ति' और 'तारो के समूह' के बिंब-प्रतिबिंब-भाव से 'वक्षःस्थल' और 'आकाश-मंडल' रूपी विशेषणो का बिंब-प्रतिबिंब-भाव होता है और वही इस उपमा का मूल है।

(४) अनुगामी धर्म में काल का अनुपपन्न होना; जैसे—

रराज राजराजस्य राजहंसः करे स्थितः।
हस्तनक्षत्रसंसक्त इव पूर्णो निशाकरः॥

राजाधिराज के हाथ पर बैठा राजहंस, हस्त नक्षत्र से सटे हुए पूर्ण चंद्रमा-सा सुशोभित हुआ।

यहाँ 'सुशोभित हुआ' इस पद से भूतकालवाली एक विशेष क्रिया का प्रतिपादन होता है। उस कालवाली क्रिया में जैसे 'राजहंस' का अन्वय हो सकता है वैसे 'चंद्रमा' का नहीं हो सकता। (क्योकि वह हस्त नक्षत्र से संयुक्त होकर अब भी शोभित होता रहता है।) अतः यह अनुगामी धर्म उपमान और उपमेय दोनों में न घटित होनेवाले काल से मिश्रित है, अतः काल अनुपपन्न है।

इसी तरह—

रणाङ्गणे रावणवैरिणो विभोः
शराः समन्ताद्दलिता विरेजिरे।
निदाघमध्यन्दिनवर्त्तिनोऽम्बरे
सहस्रभानोः प्रखराः करा इव।

रावण के वैरी प्रभु (श्री रामचंद्र) के, रणांगण मे चारों तरफ फैले हुए, बाण, आकाश में (फैले हुए) ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न-कालीन सूर्य की कठोर किरणो की तरह, सुशोभित हुए। (यहाँ भी वही दोष है।)

अथवा जैसे—

आगतः पतिरितीरितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम्।
कौमुदीव शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा।

विदेश-स्थित नायक सोच रहा है—'(तुम्हारे) पति आ गए' इस, लोगों के कथन, को सुनती हुई डरते डरते, देहली पर आकर (वह) मृगनयनी, मेरी आँखों को चाँदनी की तरह (न जाने) कब शीतल करेगी।

यहाँ 'सुनती हुई' इस पद के 'ती हुई' इस शब्दखंड द्वारा (क्योंकि इससे क्रिया का समाप्त न होना सूचित होता है) समझाए गए 'सुनने के समय ही देहली पर आ जाना' इस अतिशयोक्ति रूप अर्थ से बोधित 'त्वरा की अधिकता', प्रियतमा के अंतर्गत 'औत्सुक्य की अधिकता' को पुष्ट करती है और 'चाँदनी' की उपमा' उस उत्सुकता से परिपुष्ट प्रियतम की उत्सुकता को पुष्ट करती है—अर्थात् चाँदनी की उपमा और प्रियतमा की उत्सुकता दोनों प्रियतम की उत्सुकता को पुष्ट करती हैं। 'डरते-डरते' यह 'आने' का विशेषण भी, वास्तविक विचार करने पर, देखने का विशेषण होता हुआ उसी औत्सुक्य की पुष्टि के अनुकूल हो जाता है। अतः यह पद्य बड़ा ही उत्कृष्ट है।

पर इतना सब होते हुए भी 'शीतल करेगी' यह भविष्यत्काल वाला साधारणधर्म, जिस तरह उपमेय (मृगनयनी) में अन्वित होता है उस तरह उपमान (चाँदनी) में नहीं होता (क्योकि चाँदनी का 'शीतल करना' भविष्यत् नहीं है)। अतः दोष है।

पुरुष का उपपन्न न होना; जैसे—

एतावति महीपालमण्डलेऽवनिमण्डन!
तारकापरिषन्मध्ये राजन्! राजेव राजसे॥

हे पृथ्वी के भूषणरूप राजन्! आप इतने (बड़े भारी) राज-समूह में, तारों की सभा में चंद्रमा की तरह, शोभित हो रहे हैं।

यहाँ संबोधित किए जानेवाले उपमेय (राजा) का जिस तरह क्रिया में अन्वय हो रहा है उस तरह उपमान (चंद्रमा) का नहीं होता, क्योंकि 'मध्यम पुरुष से संबोधनीय' व्यक्ति का ही उसमें अन्वय हो सकता है, अन्य किसी का नहीं।

'विधि' आदि का अनुपपन्न होना; जैसे—

राजेव संभृतं कोषं केदारमिव कर्षकः।
भवन्तं त्रायतां नित्यं भयेभ्यो भगवान् भवः॥

कवि आशीर्वाद दे रहा है—जिस तरह राजा भरे-पूरे खजाने की और किसान खेत की, उस तरह भगवान् शिव, भयों से तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ प्रार्थना का विषय 'रक्षा करना', जिस तरह उपमेय—शिव—में अन्वित होता है, उस तरह उपमान—'राजा' और 'किसान'—में अन्वित नहीं हो सकता। कारण, उनका रक्षा करना तो सिद्ध वस्तु है— वे तो ऐसा किया ही करते हैं, फिर उनसे प्रार्थना कैसी? अतः प्रार्थना (जो 'त्रायताम्' पद के अर्थ में सम्मिलित है) सहित 'रक्षा करने' का उपमान-उपमेय दोनों में अन्वित न होना यहाँ दोष है। हाँ, यदि 'त्रायताम्' (रक्षा करें) के स्थान पर 'त्रायते' (रक्षा करते हैं) पाठ कर दिया जाय और इस तरह 'प्रार्थना रहित रक्षा करना' लिखा जाय तो धर्म के उपमान और उपमेय में समान हो जाने के कारण यह दोष नहीं रहता।

क्या धर्म का एकत्र अनुवाद्य होंना और अन्यत्र विधेय होना भी उपमा का दोष है ?

आप कहेंगे—'त्रायते' पाठ कर देने पर भी वह धर्म उपमान और उपमेय में समान तो होगा नहीं; क्योंकि जिस तरह प्रार्थना-सहित और प्रार्थना-रहित होने मात्र से एक ही धर्म (रक्षा करने) को भिन्न मान लिया गया, वैसे 'विधेय होना' और 'अनुवाद्य होना' भी उस धर्म को भिन्न कर देंगे—अर्थात् 'त्रायते' पाठ कर देने पर भी 'रक्षा करना' उपमेय में विधेय होगा और उपमान में अनुवाद्य; अतः फिर भी वह धर्म उपमान और उपमेय में समान न हो सकेगा, अतः यह दोष फिर भी ज्यों का त्यों रहा। हम कहते हैं—यह बात आपकी सच्च है, पर जरा समझने की बात है कि—जिस उपमा में समानधर्म का लोप नहीं होता—अर्थात् जहाँ समानधर्म का वाचक पद विद्यमान होता है—वहाँ जिस तरह धातु का अर्थ, उस धर्मवाचक शब्द का प्रतिपाद्य होता है उसी तरह उस अर्थ के विशेषण प्रार्थना, भूतता, भविष्यता और वर्त्तमानता आदि विशेषण भी उस शब्द के प्रतिपाद्य होते हैं। ऐसी दशा में यदि उन विशेषणों के सहित धर्म की उपमान और उपमेय में समानता न होगी तो वह धर्म उपमा का निमित्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि धर्मवाचक शब्द का पूरा अर्थ ही उपमा का साधक हो सकता है, उसका एक अंश नहीं और बिना ऐसा हुए उपमा सिद्ध न होगी—यह एक मानी हुई बात है। सो 'प्रार्थना' आदि (लकारों के अर्थों) का धर्म की समानता में बाधक होना उचित है; अतः 'त्रायताम्' पाठ रखने पर दोष रहेगा ही। पर 'त्रायते' पाठ कर देने पर यह बात नहीं रहती, क्योंकि 'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' केवल विषयता-रूप हैं, उनका धर्मवाचक शब्द द्वारा प्रतिपादन नहीं होता, वे तो ऊपर से समझने की चीजें हैं। ऐसी स्थिति में यदि उनसे सहित धर्म की

समानता नहीं है तो न रहे। इससे उपमा के निमित्तरूप धर्म—शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ—की समानता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उपमा में, उदासीन विशेषणों से युक्त धर्म की समानता अपेक्षित नहीं है, किंतु धर्म-वाचक शब्द के प्रतिपाद्य विशेषणों से युक्त धर्म की ही समानता अपेक्षित है।

सारांश यह कि—प्रार्थना आदि (धातु के अर्थ के विशेषण) धर्म-वाचक शब्द के प्रतिपाद्य होते हैं, अतः यदि वे, उपमान-उपमेय दोनों में घटित न हों, तो धर्म की साधारणता में बाधक होते हैं; पर उद्देश्यता अथवा विधेयता धर्मवाचक शब्द से प्रतिपाद्य नहीं होतीं, अतः वे धर्म की साधारणता में बाधक नहीं होतीं।

इसी तरह 'चंद्रवत् सुंदरं मुखम्—चाँद-सा सुंदर मुख' इस जगह भी 'सुंदरता' उपमान में अनुवाद्य है और उपमेय में विधेय, तथापि धर्म के समान होने में कोई हानि नहीं होती।

बिंब प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों की न्यूनाधिकता के विषय में एक विचार

आप कहेंगे—

नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः॥

नीली साड़ी के अञ्चल से ढँका हुआ मृगनयनी का मुख ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यमुना के गंभीर जल के अंदर प्रतिबिंबित हुआ मृगांक (चंद्रमा)।

इस पद्य में चंद्रमारूपी उपमान के लिये जो 'एणांक (मृगांक)' शब्द आया है, उसमें बहुव्रीहि समास है। तदनुसार उस शब्द का

अर्थ 'जिसमें मृगरूपी अंक (चिह्न) है' यह होता है। इस अवयवार्थ की प्रणाली से, उपमान के विशेषण रूप में, जो 'मृगरूपी अंक' प्रतीत होता है, वह किसका प्रतिबिंब होगा ? क्योंकि 'चंद्रमा' के उपमेय—मुख—के साथ कोई ऐसा विशेषण नहीं जो 'मृगरूपी अंक' का बिंब हो सके—इसकी समानता रखे। अतः 'एणाङ्क' शब्द द्वारा भासित होनेवाला यह 'मृगरूपी अंक' अधिकता उत्पन्न करने के कारण—अर्थात् जो बात बिंब में नहीं है उसे प्रतिबिंब में ले आने के कारण, दोषरूप हुआ। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि—समास की प्रक्रिया के अनुसार 'हरिण के नेत्र के समान नेत्र' इस तरह उपमेयवाचक 'हरिण-नयना (मृगनयनी)' शब्द के अवयवार्थ में, प्रतीत होनेवाले 'नेत्र' को बिंबरूप मान लिया जायगा और 'मृगरूपी अंक' को उसका प्रतिबिंब तो यह ठीक नहीं। कारण, वह 'नयन' शब्द बहुव्रीहि समास के वाच्य 'कांता' का विशेषण है और 'कांता' उपमेय है नहीं, उपमेय तो 'मुख' है। सो समास की प्रणाली से ज्ञात होनेवाला नयन, मुख का विशेषण न होने के कारण 'मृगरूपी अंक' का बिंब नहीं हो सकता।

इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि 'नेत्र' का, मुख का विशेषण होना, शब्द से प्रतिपादित नहीं होता, तथापि वह 'कांता' का विशेषण होने के कारण ही 'मुख में रहनेवाला' भी मान लिया जा सकता है। कारण, बिना मुख के बीच में पड़े 'नेत्र' का कांता का विशेषण होना अनुभवविरुद्ध है। आप कहेंगे—यह सब होते हुए भी, 'नयन' शब्द के समीपवर्ती शब्द से तो 'मुख' पदार्थ का प्रतिपादन हुआ नहीं; अतः 'नेत्र' (पूर्वोक्तरीत्या मानस-बोध में मुख का विशेषण हो जाने पर भी) शाब्दबोध में तो मुख का विशेषण हो नहीं सकता। तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि यहाँ शब्दार्थ के रूप में 'नेत्र' 'मुख' का विशेषण नहीं होता—यह ठीक है, तथापि 'मुख' को (कांता और नेत्र के) संसर्ग (संबंध) के अंतर्गत मानने में तो कोई बाधा है नहीं; सो पूर्वोक्त

नेत्र 'अपने से युक्त मुख' रूपी संबंध से 'कांता' का विशेषण हो जायगा। अर्थात् यद्यपि 'मुख' यहाँ किसी शब्द का अर्थ नहीं है, तथापि 'कांता' और 'नेत्र' के संबंध रूप में 'मुख' की 'नेत्रों से युक्त होने' के रूप में शाब्दी प्रतीति हो जाती है। सो संबंधरूप में प्रतीत होनेवाले 'मुख' का विशेषण बनकर 'नेत्र' बिंबरूप हो जाता है, क्योंकि किसी भी प्रकार से उपमेय में रहने का बोध ही बिंबरूप होने का निमित्त है—अर्थात् बिंब बनने के लिये किसी शब्द से प्रतिपादित होना आवश्यक नहीं है, किंतु जिसका किसी तरह उपमेय में रहना प्रतीत हो जाय वह बिंब माना जा सकता है।

आप कहेंगे कि—इस तरह संबंधरूप से नेत्र को उपमेय में रहनेवाला बना देने पर भी आप 'बिंब' को शब्द से आनन का 'प्रकार' (विशेषण) होना तो सिद्ध कर नहीं सके; क्योंकि संबंध की उपस्थिति शब्दजन्य नहीं मानी जाती, अतः वह 'प्रकार' नहीं हो सकता। तो दूसरा उत्तर यह है कि—पूर्वोक्त 'नेत्र' का जब 'कांता' के विशेषणरूप से शाब्दबोध हो चुकेगा तब 'मुख' का व्यंजना द्वारा अथवा मन द्वारा, नेत्र के विशेष्य रूप से बोध मान लिया जायगा—अर्थात् अभिधावाले बोध में 'नेत्र' के मुख के विशेषणरूप से न आने पर भी व्यंजना-जन्य अथवा मानसबोध में वैसा हो तब तो किसी प्रकार की बाधा है नहीं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—पूर्वोक्त वाक्य (पद्य) से उत्पन्न ज्ञान में उपमेय के विशेषणरूप में प्रतीत होनेवाला पूर्वोक्त 'नेत्र' बिंबरूप हो जाता है, सो उसके प्रतिबिंबरूप से चंद्रमा में रहनेवाले 'मृगरूपी अंक' का लाना आवश्यक ही है, अतः यहाँ 'आधिक्य' रूपी दोष नहीं है। इसी तरह 'आनन (नपुंसक)' और 'एणांक (पु०)'—इन उपमेय और उपमान वाचकशब्दों में लिंग का भिन्न होना भी दोष नहीं है; क्योंकि ऐसा लिंगभेद कविसंप्रदाय से सिद्ध है।

दोष भी दोष नहीं होते

सो इस तरह कवि-संप्रदाय से सिद्ध होने के कारण अथवा अन्य किसी प्रकार से पूर्वोक्त दोष यदि चमत्कार को कम न करते हों (तात्पर्य यह कि सहृदयों के हृदय में न खटकते हों) तो वे दोषरूप होते ही नहीं ।

जैसे—

नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते ।
इयं सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा ॥

यह मनुष्य, नई दुलहिन की तरह, आँगन में जाने को काँपता है और यह काठियावाड़ी स्त्री बड़े योद्धा की तरह उद्दण्ड है—किसी से नहीं डरती ।

(यहाँ पुरुष की स्त्री से और स्त्री की पुरुष से उपमा उद्वेजक न होने के कारण दोषरूप नहीं है ।)

इसी तरह अन्य स्थानों पर भी समझिए । शेष बातें 'स्मरणालंकार' और 'विकल्पालंकार' के प्रकरण में कहेंगे ।

यह है उपमा के निरूपण का संक्षेप ।

———

उपमेयोपमालंकार

उपक्रम

अब उपमा के ही एक भेद 'उपमेयोपमा' का निरूपण किया जाता है—

लक्षण

तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति का बोध—अर्थात् उन दोनों पदार्थों की परस्पर ही तुलना हो सकती है, अन्य किसी से नहीं, यह ज्ञान—जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला, परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का, सुंदर सादृश्य 'उपमेयोपमा' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

"तडिदिव तन्वी भवती भवतीवेयं तडिल्लता गौरी।

हे प्रियतमे! तू बिजली की तरह दुबली-पतली है और यह बिजली की रेखा तेरे समान गोरी है।"

इस परस्पर की उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये, लक्षण में, 'तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति का बोध जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला' इतना भाग लिखा गया है।

उपर्युक्त आधे पद्य में दो समान धर्म हैं—एक 'दुबली-पतली होना' और दूसरा 'गोरी होना'। इन दो समान धर्मों से पृथक् पृथक् दो उपमाएँ सिद्ध होती हैं। ऐसी भिन्न भिन्न समान धर्मवाली उपमाएँ तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति नहीं कर सकतीं। कारण यह है कि—एक धर्म द्वारा एक से दूसरे का सादृश्य निरूपित हो जाने पर उस धर्म द्वारा उसका दूसरे से सादृश्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है। ऐसी

दशा में उसी बात—अर्थात् दूसरे से उसके सादृश्य—का पुनः कथन, अपनी व्यर्थता मिटाने के लिये, तीसरे सदृश की निवृत्ति को आक्षिप्त कर देता है—अर्थात् उपमान से उपमेय की तुलना हो चुकने पर उपमेय से उपमान की पुनः तुलना करने से यह सिद्ध हो जाता है कि 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है'; क्योंकि कोई भी समझदार मनुष्य, बिना किसी कारण के, अर्थतः सिद्ध बात को फिर से नहीं दुहरा सकता। इस तरह एक समानधर्मवाली परस्पर उपमा में तीसरे सदृश का व्यवच्छेद हो जाता है, पर प्रस्तुत पद्य-खंड में यह बात नहीं हो सकती। कारण, दुबली-पतली होने' रूपी समान धर्म द्वारा बिजली से कामिनी का सादृश्य निरूपित हो जाने पर यद्यपि 'दुबली-पतली होने' रूपी समान धर्म द्वारा कामिनी से बिजली का सादृश्य अर्थतः सिद्ध हो जाता है, तथापि 'गोरी होने' रूपी समान धर्म द्वारा कामिनी से बिजली का सादृश्य सिद्ध नहीं हो पाता। ऐसी दशा में उपर्युक्त पद्यवाले सादृश्य के दुहराने का फल उन्हीं उपमान-उपमेयों का अन्य समानधर्म के द्वारा सादृश्य होता है, न कि तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति। सो यदि उतना भाग लक्षण में न लिखा जाता तो यह पद्यभाग भी उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

'परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का' यह लक्षण का भाग निम्नलिखित उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये लिखा गया है—

"सदृशी तव तन्वि ! निर्मिता विधिना नेति समस्त-संमतम्।
अथ चेन्निपुणं विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक्।

हे तन्वि ! तुम्हारे समान विधाता ने कोई दूसरी नहीं बनाई, यह तो सबकी मानी हुई बात है—इसके विरुद्ध तो किसी की संमति है नहीं, पर यदि बहुत सावधानी से सोचा जाय तो चाँदनी कुछ-कुछ बुद्धि में

आरूढ होती है—इतना-सा समझ पड़ता है कि 'चाँदनी कुछ तेरी तुलना के योग्य है।''

इस पद्य में जो चाँदनी के साथ सादृश्य है उसका फल तीसरे सदृश की निवृत्ति है—उससे यह सिद्ध होता है कि इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है। यदि उपर्युक्त भाग लक्षण में न लिखा जाता तो यह पद्य उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

लिंग-भेद, वचनभेद आदि दोषों से युक्त सादृश्य में अतिव्याप्ति न हो जाय—इसलिये लक्षण में सादृश्य को 'सुंदर' विशेषण दिया गया है।

उदाहरण

अच्छा, अब इसका उदाहरण सुनिए—

कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि! भवतीव कौमुदी।
अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाऽम्बुजं समम्*।

नायक कहता है—हे कातराक्षि! तू मुझे चाँदनी-सी प्रतीत होती है, और चाँदनी तुझ-जैसी। तेरा नेत्र कमल के तुल्य है और कमल तेरे नेत्र के समान।

उपमेयोपमा के भेद

उपमेयोपमा प्रथमतः दो प्रकार की है—एक उक्तधर्मा (जिसमें समानधर्म स्पष्ट शब्दों में लिखा हो) और दूसरी व्यक्तधर्मा (जिसमें

---

* नागेश कहते हैं—'तुलितम्' और 'समम्' इन उपमावाचक की विलक्षणता, आगे कही जानेवाली 'क्विप्' 'क्यङ्' आदि की विलक्षणता के समान, दूषित है।' बात भी ठीक है। अतः हमारी समझ से 'लोचनेन तुलितं च तेम्बुजम्' पाठ होता तो अच्छा था।

—अनुवादक।

समानधर्म व्यंजना से ज्ञात हो, लुप्त हो)। उनमें से उक्तधर्मा धर्मों के पूर्वोक्त अनुगामी आदि, भेदों से अनेक प्रकार की होती है।

अनुगामी धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

निखिले निगम-कदम्बे लोकेष्वप्येष निर्विवादोऽर्थः।
शिव इव गुरुर्गरीयान् गुरुरिव सोऽयं सदाशिवोऽपि तथा ॥

समग्र वेद-समूह में और लोक में भी यह बात बिना विवाद के सिद्ध है कि—शिव की तरह गुरु बहुत बड़े हैं और गुरु की तरह यह सदाशिव भी वैसे हैं।

(यहाँ 'बहुत बड़ा होना'-रूपी धर्म अनुगामी रूप से आया है।)

बिंबप्रतिबिंबभावापन्न धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

रमणीयस्तबकयुता विलसितवक्षोजशालिन्यः।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिकाः ॥

बगीचे में विहार करती स्त्रियों का वर्णन है। कवि कहता है—वे स्त्रियाँ, रमणीय पुष्प-गुच्छों से युक्त लताओं की तरह, और लताएँ, सुंदर स्तनों से शोभित स्त्रियों की तरह शोभित हुईं।

यहाँ परस्पर वस्तु-प्रतिवस्तु-भावापन्न 'रमणीयता' और 'सुंदरता' रूपी विशेषणों तथा 'युक्तता' और 'शोभितता (क्योंकि शोभितता का भी वस्तुतः 'युक्तता' ही अर्थ है)' रूपी विशेष्यों से संपुटित 'पुष्पों के गुच्छे' और 'स्तन' रूपी धर्म परस्पर बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न हुए हैं।

उपचरित धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

कुलिशमिव कठिनमसतां हृदयं जानीहि हृदयमिव कुलिशम्।
प्रकृतिः सतां सुमधुरा सुधेव हि प्रकृतिरिव च सुधा ॥

तुम दुष्टों के हृदय को वज्र की तरह कठिन समझो और वज्र को (दुष्टों के) हृदय की तरह। सत्पुरुषों का स्वभाव अमृत की तरह

अत्यंत मधुर होता है और अमृत (सत्पुरुषों के) स्वभाव की तरह होता है ।

(यहाँ वज्र का धर्म 'कठिनता' हृदय में और अमृत का धर्म 'अत्यंत मधुरता' स्वभाव में उपचरित (आरोपित) हैं ।)

केवल शब्दरूप धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

अविरतचिन्तो लोके वृक इव पिशुनोऽत्र पिशुन इव च वृकः ।
भारतमिव सच्चित्तं सच्चित्तमिवाऽथ भारतं सकृपम् ॥

इस संसार में चुगलखोर भेड़िया की तरह 'अविरतचिंत' (निरंतर चिंतावाला) रहता है—उसे कभी कल नहीं पड़ती और चुगलखोर की तरह भेड़िया 'अविरतचित' (भेड़ों में ध्यान लगाए) रहता है। एवं सत्पुरुषों का चित्त महाभारत की तरह 'सकृप' (कृपायुक्त) है और सत्पुरुषों के चित्त की तरह महाभारत 'सकृप' ('कृप' नामक आचार्य से युक्त) है ।

(यहाँ 'निरंतर चिंतित रहना' धर्म भेड़िया में नहीं बन पाता और 'भेड़ों में ध्यान लगाए रहना' धर्म चुगलखोर में नहीं बन पाता । इसी तरह 'कृपायुक्त होना' धर्म महाभारत में नहीं बन पाता और 'कृपाचार्य से युक्त होना' सत्पुरुषों के चित्त में नहीं बन पाता, अतः यहाँ 'अविरतचिंत' और 'सकृप' शब्दों को ही (जिनमें दोनों-दोनों अर्थों के प्रतिपादन की शक्ति है) धर्मरूप मानना पड़ता है । यह तो हुई उक्तधर्मा उपमेयोपमा की बात ।)

व्यक्तधर्मा उपमेयोपमा; जैसे—

वारिधिराकाशसमो वारिधिसदृशस्तथाऽऽकाशः ।
सेतुरिव स्वर्गङ्गा स्वर्गङ्गेवाऽन्तरा सेतुः ॥

कवि कहता है—समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान। आकाश के मध्य में सेतु की तरह स्वर्गंगा (छायापथ Milky way) है और समुद्र के मध्य में स्वर्गंगा की तरह सेतु है।

(यहाँ समुद्र और आकाश में 'अपारता' रूपी समानधर्म तथा सेतु और स्वर्गंगा में 'दुर्घटत्व' रूपी धर्म व्यंजना से प्रतिपादित होता है।)

यह तो हुआ उन स्थलों की उपमेयोपमा का विस्तार जहाँ वाक्यभेद स्पष्ट है—अर्थात् दोनों सादृश्य दो वाक्यों में पृथक् पृथक् लिखे गए हैं।

अब अर्थतः वाक्यभेद का उदाहरण सुनिए—

अभिरामतासदनमम्बुजानने नयनद्वयं जनमनोहरं तव।
इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वेधसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना॥

हे कमलमुखी ! सुंदरता के निवासस्थान और मनुष्यों का मन हर लेनेवाले तुम्हारे इस नयन-युगल की विधाता की इतनी बड़ी सृष्टि में, केवल परस्पर तुलना हो सकती है—अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं कि जिससे इसकी तुलना की जा सके।

यहाँ 'परस्पर तुलना हो सकती है' इस संक्षिप्त वाक्य से 'दाहिनी आँख की बाँई आँख से तुलना हो सकती है और बाँई आँख की दाहिनी आँख से' ये दो वाक्य निकलते हैं।

अन्य भेद

उपमा के समान उपमेयोपमा के भी पूर्णा, लुप्ता आदिक प्रायः सभी भेद हो सकते हैं। सुबुद्धि पुरुष इसी रीति से उनकी तर्कना कर सकते हैं, अतः यहाँ उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है।

चित्र-मीमांसा के लक्षण का खंडन

'चित्रमीमांसाकार' ने

"उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि ।
उपमेयोपमा सा स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्त्तिता ।

यदि दोनों (पदार्थ) क्रमशः उपमान और उपमेय हों तो वह उपमेयोपमा होती है। उसके दो भेद हैं।"

इस प्राचीनों के लक्षण को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति आदि से दूषित बताकर स्वयं यह लक्षण लिखा है—

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा ।
एकधर्माश्रया या स्यात् सोपमेयोपमा मता ॥

इसका अर्थ, सहृदयों को कठिनता न पड़े इस हेतु से, चित्रमीमांसाकार की बताई रीति से, एक-एक पद का कार्य दिखाते हुए, हम, संक्षेप से लिख देते हैं।

(अन्योन्येन =) परस्पर की प्रतियोगिता सहित (या उपमा =) जो उपमा (व्यक्त्या =) व्यंजनावृत्ति द्वारा (वा =) अथवा (वृत्त्यन्तरेण =) अभिधावृत्ति द्वारा (बोध्या =) ज्ञात होती हो एवं जो (एकधर्माश्रया =) एक धर्म द्वारा सिद्ध होती हो उस उपमा (सादृश्य) को 'उपमेयोपमा' माना जाता है—यह तो है इस पद्य का अन्वय के अनुसार अर्थ। अब पदकृत्य सुनिए—

इस लक्षण में 'अन्योन्येन' (जिसका अर्थ 'परस्पर की प्रतियोगिता सहित' है) विशेषण "यह और वह समान है" इस उपमामें अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया है। इस उपमा में यद्यपि एक

दूसरे के सादृश्य का प्रतियोगी* है—अर्थात् इस वाक्य से 'इसका सादृश्य उसमें' और 'उसका सादृश्य इसमें' इस तरह दोनों का दोनों में सादृश्य सिद्ध हो जाता है—किसी एक का किसी एक में ही नहीं; तथापि यहाँ प्रतियोगिता व्यंजना वृत्ति द्वारा ज्ञात होती है और उपमा ('समान' शब्द की) अभिधावृत्ति द्वारा, सो प्रतियोगितासहित उपमा का, अन्य वृत्ति की अपेक्षा से रहित एक वृत्ति द्वारा, बोध नहीं हो पाता; क्योंकि 'प्रतियोगिता' के ज्ञान के लिये अभिधा को व्यंजना की अपेक्षा रहती है और उपमा के ज्ञान के लिये व्यंजना को अभिधा की, और लक्षणानुसार होना चाहिए 'अन्य वृत्ति की अपेक्षा रहित एक वृत्ति द्वारा प्रतियोगिता-सहित सादृश्य का बोध' ।

आप कहेंगे—पद्य के अर्थ में तो 'अन्यवृत्ति की अपेक्षा से रहित' यह वृत्ति का विशेषण है नहीं, फिर आपने यह बात कैसे सिद्ध कर

---

* 'प्रतियोगी' और 'अनुयोगी' का अर्थ जानने के लिये इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि—'सादृश्य' का सदा दो वस्तुओं से संपर्क रहता है। उन दोनों में से एक वस्तु सादृश्य का निरूपण करनेवाली होती है और दूसरी आधार। जैसे 'चाँद-सा मुख' यहाँ 'चाँद' सादृश्य का निरूपण करनेवाला है और 'मुख' आधार; क्योंकि चाँद का सादृश्य मुख में बताया जा रहा है। निरूपण करनेवाला प्रतियोगी होता है और आधार अनुयोगी। अतः यहाँ चाँद सादृश्य का प्रतियोगी हुआ और मुख अनुयोगी। सारांश यह कि—जब किसी सादृश्य के प्रतियोगी-अनुयोगी जानने हों तब यह सोचो कि—किससे किसकी तुलना की जा रही है; जिससे तुलना की जाती हो वह प्रतियोगी होगा और जिसकी तुलना की जा रही हो वह अनुयोगी।

—अनुवादक।

डाली। तो इसका उत्तर यह है कि—लक्षण के '(वा =) अथवा' शब्द से यह बात कह दी गई है। अर्थात् 'अथवा' कहने का यहाँ यही अभिप्राय है कि या तो 'पूर्वोक्त प्रतियोगिता सहित उपमा' का केवल व्यंजना वृत्ति से ही प्रतिपादन होना चाहिए या अभिधावृत्ति से ही, एक वृत्ति में दूसरी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिए।

'एकधर्माश्रया (जिसका अर्थ 'एक धर्म द्वारा सिद्ध होती हो उस' है)' इस विशेषण का फल यह है कि 'रज से आकाश पृथ्वी की तरह हो गया और मेघों के समान गजों से पृथ्वी आकाश की तरह हो गइ' इस किसी पद्य केअर्थ में जो परस्पर की उपमा वर्णन की गई है उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, यहाँ दोनों उपमाओं का सिद्ध करनेवाला धर्म एक नहीं है। 'भूतल' को उपमान मानकर जो उपमा दी गई है उसमें 'रज' रूपी अनुगामी धर्म है और 'आकाश तल' को उपमान मानकर जो उपमा दी गई है उसमें 'मेघों के समान गज' रूपी बिंबप्रतिबिंब-भावापन्न धर्म है। सो वे दोनों धर्म भिन्न-भिन्न हैं।

'व्यक्त्या (व्यंजनावृत्ति के द्वारा)' यह विशेषण इस लिये दिया गया है कि—इस लक्षण के द्वारा व्यंग्य उपमेयोपमा का भी संग्रह हो जाय। यह है 'उपमेयोपमात्व' को सिद्ध करनेवाला लक्षण—अर्थात् जहाँ यह लक्षण घटित हो वह उपमा उपमेयोपमा होती है।"

'चित्र-मीमांसा-कार' के कथन का यही सारांश है।

पर इतना सब होने पर भी यह लक्षण ठीक नहीं हो पाया। कारण यह है कि—इस लक्षण के अनुसार तो

"अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः।
गवेषणेनाऽलमिहाऽपरेषामेषाऽपि तुल्या तव तावदस्ति।

हे गौरांगि ! 'मैं लता के सदृश हूँ (उसकी मुझसे तुलना की जा सकती है, मेरी किसी से नहीं)' यह महान् गर्व तू कभी न करना। इस विषय में दूसरों को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं, प्रथमतः तो यह (लता) भी तेरे सदृश है। तात्पर्य यह कि—यह तो बिना ढूँढ़े ही तेरे समान निकल आई, यदि ढूँढ़ा जाय तो न-जाने कितनी ऐसी निकल आवें।"

इस पद्य में भी उपमेयोपमा होने लगेगी, क्योंकि यहाँ भी परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा 'कृशता' आदि एक धर्म से सिद्ध और अभिधारूपी एक वृत्ति से बोधित होता है।

यदि आप कहें कि—यहाँ उपमा में परस्पर की प्रतियोगिता नहीं प्रतीत होती; क्योंकि पद्य के 'लता के समान' और 'तेरे समान' इन शब्दों से 'गौरांगी' आदि में लता आदि से संबंध रखनेवाले सादृश्य का आश्रय होना ही प्रतीत होता है, प्रतियोगी होना नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—ऐसा कहोगे तो लक्षण की **"मुखस्य सदृशश्चन्द्रश्चन्द्रस्य सदृशं मुखम्**—अर्थात् मुख के समान चंद्रमा है और चद्रमा के समान मुख" इस उपमेयोपमा में अव्याप्ति होगी—यहाँ उपमेयोपमा न हो सकेगी; क्योंकि यहाँ भी वही बात है। अतः विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि—ऐसे स्थलों पर शब्दतः प्रतियोगिता के प्रतीत न होने पर भी अर्थतः उसकी प्रतीति हो जाती है। ऐसी दशा में आपके लक्षण के अनुसार उपर्युक्त पद्य में उपमेयोपमा का होना अनिवार्य हो जाता है।

अब यदि आप कहें कि—"अहं लतायाः......" इस उपर्युक्त पद्य में हम उपमेयोपमा मान लेते हैं, बस, झगड़ा मिटा। सो यह हो नहीं सकता, क्योंकि उत्तरार्ध की उपमा का तात्पर्य तो केवल गर्व हटा देने में है—उससे तीसरे सदृश की निवृत्ति का प्रतिपादन नहीं होता। अत-

एव 'और भी तेरे समान हैं ही, पर उनके ढूँढ़ने से क्या फल ?' इस अर्थ का प्रतिपादक इस पद्य का उत्तरार्ध संगत होता है, अन्यथा वह असंगत हो जाय। और जब तक तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति नहीं हो तब तक उपमेयोपमा हो नहीं सकती। आप कहेंगे—'तीसरे सदृश की निवृत्ति हो वही उपमेयोपमा होती है' इस बात में ही क्या प्रमाण है ? तो इसका उत्तर यह है कि—"तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति ही उपमेयोपमा का जीवन है—जहाँ वह न हो वहाँ उपमोपमा होती ही नहीं" यह आलंकारिकों का सिद्धांत है—सभी आलंकारिकों ने इस बात को स्वीकार किया है। दूसरों की बात जाने दीजिए, यदि ऐसा न मानें तो आपने स्वयं ही जो "भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्" इस रघुवंश के पद्य में उपमेयोपमा के निवारण का परिश्रम किया है वह व्यर्थ हो जायगा।

अब यदि आप कहें कि—"अहं लतायाः......" इस पद्य में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'तीसरे सदृश की निवृत्ति जिसका फल हो' यह विशेषण और लगा देंगे, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, ऐसा करने से आपके अन्य सब विशेषण व्यर्थ हो जायँगे; क्योंकि जिन-जिन बातों को आप उन विशेषणों से हटाना चाहते हैं वे सब इसी एक विशेषण से हट जायँगी। यह तो हुई एक बात।

दूसरी बात यह है कि—आपके लक्षणों में "परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा एक वृत्ति मात्र से बोधित होनी चाहिए" यह कथन भी अयोग्य ही है; क्योंकि "खमिव जलं जलमिव खम् = जल आकाश के समान हो रहा है और आकाश जल के समान" इस उपमेयोपमा में आकाश और जल का जो सादृश्य के साथ अन्वय होता है उनमें प्रतीत होनेवाली प्रतियोगिता संसर्गरूप है, अतः वह किसी वृत्ति से प्रतिपादित नहीं होती, क्योंकि 'वृत्ति द्वारा ज्ञात होनेवाले पदार्थों का

संसर्ग वृत्ति द्वारा ज्ञात नहीं होता' यह नियम है—अर्थात् पदार्थों का बोध ही वृत्ति से होता है न कि पदार्थों के संबंधों का। अन्यथा संबंध भी विशेषण-रूप हो जायँगे, जो कि सिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध है। अतः यदि आप 'प्रतियोगितासहित उपमा का एक वृत्ति मात्र से बोधित होना' मानेंगे तो आपके हिसाब से "खमिव जलम्......" आदि में भी उपमेयोपमा न हो सकेगी* ।

अलंकारसर्वकार का खंडन

यह तो हुई 'चित्रमींमांसाकार' की बात। अब 'अलंकारसर्वस्वकार' को लीजिए। उन्होंने उपमेयोपमा का

"द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा—अर्थात् दोनों की क्रमशः उपमानता और उपमेयता होने पर उपमेयोपमा होती है।"

यह लक्षणा बनाया है। और लिखा है कि—"इस लक्षण में 'तस्मिन्' का अर्थ है 'उपमानता और उपमेयता होने पर' और 'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'एक साथ न होना—अर्थात् भिन्न-भिन्न वाक्यों से उपमानता और उपमेयता का प्रतिपादन होना।' अतएव उपमेयोपमा में वाक्यभेद हुआ करता है।" सारांश यह है कि 'अलंकारसर्वस्वकार' के हिसाब से 'यदि प्रथम वाक्य का उपमान दूसरे वाक्य में उपमेय और प्रथम वाक्य का उपमेय दूसरे वाक्य में उपमान हो तो उपमेयोपमा होती है। सो यह लक्षण भी ठीक नहीं। इस लक्षण में 'द्वयोः' पद व्यर्थ है। वह पद "गगनं गगनाकारम्—आकाश अकाश के-से आकारवाला है" इत्यादि अनन्वयालंकार में

---

* नागेश कहते हैं कि—'एक वृत्ति से बोधित होने' का अर्थ है 'अन्य किसी वृत्ति से बोधित न होना', अतः यहाँ कोई दोष नहीं; क्योंकि संसर्गों का बोध अन्य किसी वृत्ति से नहीं होता।

अतिव्याप्ति न होने के लिये लिखा गया है, क्योंकि वहाँ एक ही पदार्थ उपमेय और उपमान दोनो होता है. पर अनन्वयालंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति की शंका व्यर्थ है; क्योंकि वहाँ वाक्य-भेद नहीं होता, अतः पर्याय का अभाव होता है। अर्थात् जिस बात को वे 'द्वयोः' पद से हटाना चाहते हैं वह 'पर्यायेण' पद से ही हट जाती है, अतः 'द्वयोः' पद व्यर्थ है।

यदि स्पष्टता के लिये, अथवा दोनो के उपमान उपमेय होने की योग्यता सिद्ध करनेवाले 'लिंगभेद, वचनभेद आदि दोषो से रहित होने' के बोध के लिये, किंवा कवि-सप्रदाय की प्रसिद्धि की स्फूर्ति के लिये 'द्वयोः' पद का ग्रहण माना जाय तथापि एक तो पूर्वोक्त "अहं लतायाः......" पद्य से प्रतिपादित उपमा मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, और दूसरे

"तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तात्र-
त्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥

महाराज रघु के राजकुमार अज को स्वयंवर में जाना है। उसे जगाने के लिये बन्दीजनो के लड़के प्रातःकाल का वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं—(हे राजकुमार, सूर्योदय हो चुका है) इस कारण (हम चाहते हैं कि) इस समय साथ ही साथ सौंदर्यपूर्ण विकास के कारण ये दो वस्तुएँ परस्पर की तुलना को प्राप्त करें—एक दूसरी के समान बनें। कौन ? एक तो जिसके अंदर कोमल पुतली चंचल हो उठी है वह आपका नेत्र और दूसरा जिसके अंदर भौंरा विचलित हो उठा है वह कमल।"

इस कालिदास के पद्य में प्रतिपादित उपमेयोपमा में, जिसमें एक साथ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता आ जाती है, अव्याप्ति होगी। क्योंकि इस उपमेयोपमा में वाक्यभेद नहीं है—अर्थात् उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता भिन्न-भिन्न दो वाक्यों से नहीं वर्णित की गई है और आपके लक्षण के अनुसार वैसा अवश्य होना चाहिए।

यदि आप इस बात को यह कहकर टाल देना चाहें कि—उपर्युक्त कालिदासवाली उपमेयोपमा में ऊपरी तौर से शब्द ('परस्पर') के एक होने पर अंत में वाक्यभेद हो जाता है—अर्थात् 'परस्पर की तुलना को प्राप्त करें' इस एक वाक्य के अंततः विचार करने पर 'आपकी आँख पद्म की समानता को प्राप्त करे और पद्म आपकी आँख की समानता को' इस तरह दो भिन्न-भिन्न वाक्य बन जाते हैं, अतः कोई दोष नहीं। तथापि

> "सविता विधवति, विधुरपि
> सवितरति, दिनन्ति यामिन्यः।
> यामिनयन्ति दिनानि च
> सुखदुःखवशीकृते मनसि॥

अर्थात् जब मन सुख के वश में होता है तब सूर्य चंद्रमा की तरह (शीतल) हो जाता है और दिन रात्रि की तरह (शांतिप्रद) हो जाते हैं; और जब मन दुःख के वश होता है तब चंद्रमा सूर्य की तरह (प्रचंड) हो जाता है और रात्रियाँ दिन की तरह (अशांत और व्यग्रतामय) हो जाती हैं।"

इस किसी कवि के पद्य में जो परस्पर की—सूर्य आदि की चंद्रमा आदि के साथ और चंद्रमा आदि की सूर्य आदि के साथ—उपमा है,

उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। और आप यहाँ उपमेयोपमा तो कह नहीं सकते; क्योंकि यहाँ 'सुख के समय दुःखदायी भी सुखदायी और दुःख के समय सुखदायी भी दुःखदायी हो जाता है' केवल इतना-सा अर्थ कहना अभीष्ट है और इस कथन से 'तीसरे सदृश पदार्थ का निवारण', जो कि उपमेयोपमा का जीवन है, प्रतीत होता नहीं।

इसी तरह

"रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥

अर्थात् रथों की उड़ी हुई रजों से आकाश को भूतल के समान और मेघों के समान हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाता हुआ (राजा रघु दिग्विजय के लिये गया)।"

इस परस्पर की उपमा में भी अतिव्याप्ति हो जायगी।

अब यदि आप लक्षण में "अन्य सदृश अर्थात् तृतीय सदृश का निवारण जिसका फल हो" यह विशेषण अधिक लगावें, तो अंततः वही बात आ गई जो हम कह रहे हैं। अतः आपका लक्षण अपूर्ण ही है।

यह तो हुई मूल 'अलंकारसर्वस्व' की बात। अब उसकी टीका 'विमर्शिनी' के कर्त्ता ने जो इस पर विवेचन किया है उसका भी एक अंश सुनिए। वे कहते हैं—"वह वाक्य-भेद दो तरह का होता है—एक शाब्द (शब्दों से प्रतिपादित) दूसरा आर्थ (अर्थ से सिद्ध)। उनमें से शाब्द वाक्यभेद; जैसे—'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः···' इत्यादि। ···। इस (उपमेयोपमा) का परस्पर के अतिरिक्त अन्य उपमान का निवारण ही फल है। इसी कारण 'उपमेयेनोपमा (उपमेय के साथ—अर्थात् उपमेय को उपमान मानकर जो उपमा) हो उसे उपमेयोपमा (कहा जाता है)। इस तरह इस नाम की सार्थकता होती है।" सो

यह कथन निस्सार है, क्योंकि (उनके दिए उदाहरण) "रजोभिः स्यंदनोद्धूतैः···" इस पद्य में अन्य उपमान का निवारण नहीं प्रतीत होता। कारण, यहाँ दोनों उपमाओं में एक धर्म नहीं है; पहली उपमा धूलिरूप अनुगामी धर्म से सिद्ध होती है और दूसरी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न घन और गजरूप धर्म से। और अन्य उपमान का निवारण तभी हो सकता है जब दोनों उपमाओं में एक धर्म हो। सो वे महाशय यहीं न समझ पाए कि हमारा कथन हमारे ही उदाहरण में घटित होता है अथवा नहीं।

अलंकार-रत्नाकर का खंडन

'अलकाररत्नाकर' ने "परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा—परस्पर उपमान-उपमेय होने को उपमेयोपमा कहते हैं" यह लक्षण बनाकर "सविता विधवति···" इत्यादि पूर्वोक्त पद्य उदाहरण दिया है। पर यह उदाहरण "वह (अर्थात् परस्पर उपमान-उपमेय होना) अन्य उपमान के निषेध के लिये है" इस अपने ही कथन के विरुद्ध है, क्योंकि इस पद्य में अन्य उपमान का निषेध नहीं प्रतीत होता—यह बात हम पहले ही समझा चुके हैं। इतने पर भी यदि आप कहें कि—प्रतीत ही होता है; तो हम आपसे कहेंगे कि—आप कृपा करके अपने हृदय से दुबारा फिर पूछ लीजिए। वही उत्तर दे देगा।

अच्छा तो छोड़िए इस विवाद को।

'उपमेयोपमा' अलंकार कब कहलाती है ?

यह उपमेयोपमा जब किसी अर्थ को उत्कृष्ट बनाती है—उसे उपस्कृत करती है तब अलंकार कहलाती है, अन्यथा इसकी समाप्ति अपनी विचित्रता में ही हो जाती है। अर्थात् ऐसी दशा में केवल

उपमेयोपमा कहा जा सकता है, उपमेयोपमा अलंकार नहीं। यही बात अन्य अलंकारों में भी समझिए—अर्थात् वे भी जब किसी अन्य अर्थ को उपस्कृत करें तभी उन्हें अलंकार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

व्यंग्य उपमेयोपमा

अच्छा, अब व्यंग्य उपमेयोपमा का उदाहरण दिया जाता है—

गाम्भीर्येणाऽतिमात्रेण महिम्ना परमेण च ।
राघवस्य द्वितीयोऽब्धिरम्बुधेश्चाऽपि राघवः ॥

अर्थात् अत्यंत गंभीरता के कारण तथा परम महत्त्व के कारण रामचंद्र के लिये दूसरा (है तो) समुद्र है और समुद्र के लिये दूसरा (है तो) रामचंद्र।

यहाँ 'दूसरे' शब्द की 'सादृश्य से युक्त' अर्थ में शक्ति नहीं है, अतः सादृश्य व्यंग्य ही है। यदि आप इस स्थान पर लक्षणा मानें तो यह उदाहरण लीजिए—

सुधासमुद्रं तव रम्यवाणी वाचं क्षमाचन्द्र ! सुधासमुद्रः ।
माधुर्यमध्यापयितुं दधाते खर्वेतरामान्तरगर्वमुद्राम् ॥

राजा से कवि कहता है—हे भूमण्तल के चंद्र ! तुम्हारी रमणीय वाणी अमृत के समुद्र को और अमृत का समुद्र तुम्हारी वाणी को, मधुरता का पाठ पढ़ाने के लिये, भीतरी गर्व की महती मुद्रा को धारण करते हैं—खासा रंग-ढंग दिखाते हैं।

यहाँ वाणी आदि के द्वारा जो 'एक दूसरे को पाठ पढ़ाना' लिखा है वह बाधित है, अतः लक्षणा द्वारा उसका अर्थ यह ज्ञात होता है कि—वे एक तरह से परस्पर मधुरता पहुँचा रहे हैं। इस लक्षणा का

प्रयोजन होगा उस 'मधुरता के पहुँचाने' द्वारा सिद्ध होनेवाला 'परस्पर का उपमान-उपमेय होना'। उसी का नाम है 'उपमेयोपमा', सो वह यहाँ व्यंग्य है ही।

उपमेयोपमा के दोष

अब दोष सुनिए। 'उपमा के जितने दोष पहले बताए जा चुके हैं, और जो विस्तार के भय से नहीं बताए जा सके, वे सब उपमेयोपमा में भी दोष समझने चाहिए; क्योंकि यह भी एक तरह की उपमा ही है, उससे भिन्न नहीं है' इसके अतिरिक्त '(उपमेयोपमा में जो दो उपमाएँ होती हैं उनका) एक-दूसरी से विलक्षण होना—उनमें किसी प्रकार का भेद होना' भी एक दोष है। जैसे—

कमलमिव वदनमस्या वदनेन समं तथा कमलम्।

अर्थात् इस (स्त्री) का मुख कमल-सा है और कमल इसके मुख के तुल्य है।

यहाँ 'इव (सा)' शब्द से प्रतिपादित होने के कारण प्रथम उपमा श्रौती है और 'सम (तुल्य) शब्द से प्रति-पादित होने के कारण दूसरी आर्थी। यह इन दोनों में विलक्षणता है।

कमलति वदनं तस्या वदनं कमलायते जगति।

(अर्थ वही)

यहाँ एक उपमा 'क्विप्' प्रत्यय से प्रतिपादित है और दूसरी 'क्यङ्' प्रत्यय से। यह विलक्षणता है। इसी तरह यदि इस पद्य में एक तरफ 'पद्मं वदनायते' अथवा 'कमलं वक्त्रायते' बना दिया जाय, तो उपमान-वाचक और उपमेय-वाचक शब्दों की विलक्षणता हो जायगी।

इस तरह विविध प्रकार से होनेवाली विलक्षणता, यदि सहृदयों के हृदय को उद्वेग पहुँचानेवाली हो तो, उसे दोष समझना चाहिए।

—* उपमेयोपमा समाप्त *—

अनन्वयालंकार

लक्षण

दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो उस वर्णन में आनेवाला और एक ही उपमान उपमेयवाला सादृश्य 'अनन्वय' कहलाता है। वह यदि किसी अन्य अर्थ का उपस्कारक हो तो अलंकार होता है, अन्यथा शुद्ध अनन्वय।

लक्षण का विवेचन

"लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभातिभूभृतः शिखरम्।
दावज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव समये॥

लाल-पीले फूलों से ढँकी पहाड़ की चोटी ऐसी प्रतीत होती है, जैसी कि (वही) किसी समय दावानल की ज्वालाओं से व्याप्त हुई प्रतीत होती थी।"

इस पद्य में 'लाल-पीले फूलों से ढँकी पहाड़ की चोटी' की तुलना 'किसी समय दावानल की ज्वालाओं से व्याप्त' अपने आप के साथ की गई है। ऐसे सादृश्य में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये सादृश्य को 'दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो उस वर्णन में आनेवाला' यह विशेषण दिया गया है।

अथवा इस विशेषण का उदाहरण इस पद्य को समझिए—

"नखकिरणपरम्पराभिरामं किमपि पदाम्बुरुहद्वयं मुरारेः।
अभिनवसुरदीर्घिकाप्रवाहप्रकरपरीतमिव स्फुटं चकास्ते॥

भगवान् का अनिर्वचनीय चरण-कमल-युगल, नख-किरणों की पंक्ति से मनोहर होकर, स्पष्टतया ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे गंगा के नवीन प्रवाह-समूह से व्याप्त हो।"

यहाँ भी 'नख-किरणों की पंक्ति से मनोहर भगवान् के चरण-कमलों' की तुलना 'गंगा के नवीन प्रवाह-समूह से व्याप्त' अपने ही आपसे की जा रही है। इस समय भगवान् के चरण-कमल का गंगाके प्रवाह के साथ संबंध नहीं है, सो गंगा की उत्पत्ति के समय वाले चरण-कमल को उपमान बताने के लिये गंगा के प्रवाह के समूह का 'नवीन' विशेषण लगाया गया है। यहाँ सादृश्य के वर्णन का फल दूसरे सदृश का निवारण' नहीं, क्योंकि, इस वर्णन से वह बात सिद्ध नहीं होती, अतः इस लक्षण में सादृश्य का उक्त विशेषण चरितार्थ है।

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥

(अर्थ देखो पृ० ४)

इस कल्पित उपमानवाली उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में सादृश्य को 'एक ही उपमान उपमेयवाला' यह विशेषण दिया गया है। इस पद्य में मिथ्या उपमान की कल्पना से सिद्ध होता है कि इस उपमेय का सच्चा उपमान नहीं है। सो ऐसी उपमा से भी 'दूसरे सदृश के निवारण' की प्रतीति हो जाती है। यदि यह विशेषण न दिया होता तो लक्षण की ऐसी उपमा में अतिव्याप्ति हो जाती।

उदाहरण

'अनन्वय' का उदाहरण 'पीयूषलहरी (गंगालहरी)' नामक मेरे बनाए गंगा स्तोत्र में है—

कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि संतप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः ।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरानूरीकर्त्तुं त्वमिव जननि ! त्वं विजयसे ॥

हे जननि ! जिन लोगों ने छोटे-छोटे पाप-समूह किए हैं और उसी समय जिनका मन संतप्त हो उठा है उन लोगों का उद्धार करने के लिए तो त्रिलोकी में तीर्थों के झुण्ड हैं—उन्हें छुटकारा दिलानेवालों की कमी नहीं। पर जिन लोगों के चरित्र, जहाँ तक प्रायश्चित्तों की पहुँच है उस मार्ग का उल्लंघन कर चुके हैं, उन मनुष्यों का स्वीकार करने के लिये तू ही तेरे समान उत्कृष्ट है—इस विषय में तेरी तुलना किसी से नहीं हो सकती।

अथवा जैसे—

इयति प्रपञ्चविषये तीर्थानि कियन्ति सन्ति पुण्यानि ।
परमार्थतो विचारे देवी गङ्गा तु गङ्गेव ॥

इस जगत् में कितने ही तीर्थ पवित्र हैं—उनकी पवित्रता में किसी को संदेह नहीं, पर वास्तविक विचार करने पर गंगा देवी गंगा के ही समान है—उसकी तुलना तो अन्य किसी से हो नहीं सकती।

पहले पद्य में अनुगामी धर्म वाच्य है और इस पद्य में व्यंग्य है—यह पहले पद्य से इस पद्य में विशेषता है। इस पद्य में 'तु (तो)' शब्द अन्य तीर्थों से विलक्षणता का प्रतिपादन करता हुआ श्रीगंगा में 'भगवान् वासुदेव के स्वरूप होने' रूपी धर्म को अभिव्यक्त करता है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में श्रीगंगा के प्रेम का उपस्कारक होने के कारण यह अनन्वय अलंकाररूप है।

अनन्वय में बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म नहीं होता

अनन्वयालंकार में बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म तो होता नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो किसी धर्म से युक्त अपने से की गई तुलना का अन्य धर्म से युक्त अपने साथ अन्वय होने में कोई बाधा न रहेगी और तब अन्य सदृश का निवारण न होने के कारण ऐसी जगह अनन्वय ही न हो सकेगा, क्योंकि जहाँ सादृश्य का अन्वय बाधित हो और दूसरे सदृश का निवारण होता हो वहीं तो अनन्वयालंकार होता है। अतः बिंब-प्रतिबिंब भावापन्न धर्म होने पर अनन्वयालंकार का होना असंभव है।

'अनन्वय' के भेद

'अनन्वय' प्रथमतः दो प्रकार का है—'पूर्ण' और 'लुप्त'। पूर्ण अनन्वय उपमा की तरह छहों* प्रकार का हो सकता है। जैसे—

१—गंगा हृद्या यथा गंगा   २—गंगा गंगेव पावनी।

३—हरिणा सदृशो बंधुः   ४—हरितुल्यः परो हरिः।

५—गुरुवद्गुरुराराध्यो   ६—गुरुवद्गौरवं गुरोः।

(१—गंगा गंगा-सी सुंदर है, २—गंगा सी पवित्र है, ३—हरि के समान बंधु हरि है, ४—हरि के समान उत्कृष्ट हरि है, ५—गुरु गुरु की तरह सेव्य है, ६—गुरु का गौरव गुरु का सा है।)

(यहाँ प्रथम पाद में श्रौत वाक्यगत अनन्वय, दूसरे में श्रौत समासगत, तीसरे में आर्थ वाक्यगत, चौथे में आर्थ समासगत, पाँचवें में 'तेन तुल्यम्.....' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण आर्थ

---

* ये भेद केवल संस्कृतवालों के जानने के हैं, हिंदी में ऐसे भेद नहीं हो सकते।

—अनुवादक।

तद्धितगत और छठे पाद में 'तत्र तस्येव' 'वति' प्रत्यय होने के कारण श्रौत तद्धितगत अनन्वयालंकार है।)

लुप्त भेदों में भी धर्मलुप्त अनन्वय पाँचों प्रकार का—अर्थात् श्रौत वाक्यगत, आर्थ वाक्यगत, श्रौत समासगत, आर्थ समासगत और आर्थ तद्धितगत—हो सकता है। जैसे कि पूर्वोदाहृत डेढ़ पद्य में धर्मवाचक पदों को उड़ाकर उनके स्थान पर अन्य पद रख देने से—अर्थात् उस डेढ़ पद्य को यों बना देने से—

गङ्गा राजन् यथा गङ्गा, गङ्गा गङ्गेव सर्वदा।
विष्णुना सदृशो विष्णुर्हरितुल्यः सदा हरिः॥
गुरुवद् गुरुरास्तेऽस्मिन् मण्डले गुरुवद् गुरोः।

(इसमें अन्य पादों का अर्थ तो स्पष्ट और पूर्वोक्तप्राय है। तृतीय पाद का अर्थ—'गुरुजी के (अर्थात् गुरुजी के प्रदेश के) समान' इस गुरुजी के प्रदेश में गुरुजी के समान गुरुजी हैं—अन्य कोई उनके सदृश नहीं है।')

वाचकलुप्त अनन्वय; जैसे—

रामायमाणः श्रीरामः सीता सीतामनोहरा।
ममान्तःकरणे नित्यं विहरेतां जगद्गुरू॥

राम के समान आचरण करनेवाले श्रीराम और सीता के समान मनोहर सीता—दोनों जगत् के गुरु (माता-पिता), मेरे अंतःकरण में, निरंतर विहार करते रहें।

इस पद्य में क्रमशः 'क्यङ्' प्रत्यय के स्थल में तथा समास में वाचक का लोप हुआ है।

इसी तरह—

लङ्कापुरादतितरां कुपितः फणीव
निर्गत्य जातु पृतनापतिभिः परीतः।
क्रुद्धं रणे सपदि दाशरथिं दशास्यः
संरब्धदाशरथिदर्शमहो ददर्श।

लंका के युद्ध का वर्णन है—किसी समय, सेनापतियों से व्याप्त रावण ने, अत्यंत कुपित सर्प की तरह, लंकापुरी से निकलकर, तत्काल, क्रुद्ध रामचंद्र के समान क्रुद्ध रामचंद्र को, रण में, आश्चर्य से देखा।

इस पद्य में 'कर्म-णमुल् (प्रत्यय)' में वाचक का लोप हुआ है।

इसी तरह 'कर्तृ-णमुल' आदि में भी वाचक-लुप्त अनन्वय की तर्कना कर लीजिए।

धर्मवाचक-लुप्त अनन्वय; जैसे—

अम्बरत्यम्बरं यद्वत् समुद्रोऽपि समुद्रति।
विक्रमार्क महीपाल! तथा त्वं विक्रमार्कसि।

जैसे आकाश आकाश का-सा आचरण करता है और समुद्र समुद्र का-सा (क्योंकि उनकी बराबरी का कोई नहीं है), वैसे ही हे विक्रमार्क राजा! तू भी विक्रमार्क के समान ही आचरण करता है (तेरी बराबरी का भी कोई नहीं है)।

यहाँ वाक्यार्थ के अंगरूप तीन अनन्वय आए हैं। उन तीनों ही में धर्म और वाचक दोनों का लोप है और मुख्य वाक्यार्थ तो 'मालोपमा' ही है, जो कि इन तीनों अनन्वयों के फलरूप अनुपमता को समान-धर्म मानकर सिद्ध होती है। आप कहेंगे—आपने उपमा के उदाहरणों

में तो, जिसमें अनन्वय-मूलक अनुपमता समानधर्म-रूप हो ऐसी मालोपमा लिखी नहीं। हम कहते हैं—यह आपका कथन ठीक है, पर बिना अनन्वय के समझे ऐसी मालोपमा का समझना कठिन पड़ता, और अब सहज में समझी जा सकती है; अतः इस मालोपमा का उदाहरण यहीं लिखा गया है। आप मालोपमा के भेदों में यह एक भेद और समझ लीजिए।

धर्मोपमान-वाचक-लुप्त अनन्वय; जैसे—

एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे।
केनोपमीयतां तज्ज्ञै रामो रामपराक्रमः।

देवता, असुर और मनुष्यों सहित इस इतने बड़े जगत् में, राम के स्वरूप को समझनेवाले लोग, राम के पराक्रम के समान पराक्रमवाले राम की, किससे उपमा दें। जब उनके पराक्रम के समान पराक्रम वाला कोई है ही नहीं तो फिर उस (पराक्रम) की उपमा बने कैसे ?

इस पद्य में वाचक, धर्म और उपमान तीनों का लोप हैं; क्योंकि यहाँ वाचक और धर्म की तरह उपमान-वाचक राम-पराक्रम शब्द भी अनिर्दिष्ट है।

अनन्वयालंकार में 'उपमानलुप्त' आदि अन्य भेदों के उदाहरण असंभव होने के कारण, और यदि संभव हों तो सुंदर न होने के कारण, यहाँ नहीं लिखे गए हैं।

'रत्नाकर' का खण्डन

'अलंकार-रत्नाकर' में लिखा है—"उस, उसके एक देश (हिस्से) अथवा उसी का (किसी तरह) भिन्न मानकर उपमेय के साथ जो सादृश्य होता है उसे अनन्वय कहा जाता है। इसका अभिप्रय यह है

कि—अनन्वय तीन प्रकार का है; १—उपमेय को ही उपमान रूप में कल्पित करके ऊपर से प्रतीत होनेवाली (अवास्तविक) समानधर्मता का ले आना; २—उसी तरह उपमेय के एक देश को उपमान के रूप में कल्पित कर लेना; और ३—उपमेय को ही प्रतिबिंबित आदि के कारण भिन्न मानकर उपमान रूप में कल्पित कर लेना।

उनमें से पहला; जैसे—"युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथितप्रतापः—अर्थात् युद्ध में अर्जुन अर्जुन के सदृश प्रथित प्रतापवाला है, उसका सानी कोई नहीं।"

दूसरा; जैसे—

एतावति प्रपञ्चे सुन्दर-महिला-सहस्रभरितेऽपि।
अनुहरति सुभग! तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य॥

नायक मित्र से कहता है—हे सुभग! इतना बड़ा संसार यद्यपि सहस्रों सुंदर महिलाओं से परिपूर्ण है; पर उस (नायिका) का वामार्ध (बायाँ हिस्सा) दक्षिणार्ध (दाहिने हिस्से) की (ही) समानता करता है—अन्य किसी स्त्री का अंग ऐसा नहीं जिससे उसे उपमा दी जा सके।

तीसरा; जैसे—

गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र! मैत्री-
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते।
तत् त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्नभित्ति-
स्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि॥

हे गजेंद्रवदन (गणेश)! ऐरावत आदि (दिग्गज) आपकी मित्रता (समानता) को लेश मात्र से भी नहीं सीख पाए—उनमें

क्या योग्यता है कि वे आपकी तुलना में आ सकें। अतः हम आपसे पूछते हैं कि—आप, कैलाश पर्वत की रत्नमय दीवारों में जो आपके प्रतिबिंब होते हैं उनके यूथपति कैसे बन जाते हैं ? यह समझ में नहीं आता कि जब बड़े बड़े दिग्गजों की आपसे किंचित् भी तुलना नहीं हो सकती तब वे प्रतिबिंब आप के झुंड में कैसे सम्मिलित हो जाते हैं ?

इन तीनों भेदों में अन्य उपमान का अभाव प्रतीत होता है, अतः अनन्वय तीन प्रकार का है।"

सो यह कुछ नहीं। यदि अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति मात्र से ही अनन्वय होने लगे तो "स्तनाभोगे पतन् भाति (पृ० १४७)" इस पद्य में दिखाई गई कल्पितोपमा भी अनन्वयरूप हो जायगी एव अनन्वय की 'यद्यर्थातिशयोक्ति (देखो 'अतिशयोक्ति प्रकरण') में भी अतिव्याप्ति होने लगेगी। इस आपत्ति को दूर करने के लिये यदि आप यह बात मानें कि—'जिसका फल अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति हो और जिसमें उपमान-उपमेय एक हो ऐसे सादृश्य को अनन्वय कहा जाता है', तो फिर हम आपसे पूछते हैं कि—वामार्ध और दक्षिणार्ध, जो भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं हैं, उनके सादृश्य को आप अनन्वय का भेद कैसे बता रहे हैं ?

आप कहेंगे—हमारे लक्षण का तात्पर्य यह है कि—वह (उपमेय), उसका एक देश और उसका प्रतिबिंब जिसका प्रतियोगी हो वह सादृश्य अन्वय कहलाता है। ऐसी दशा में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति कहाँ रही ? सभी बातें तो लक्षण में संगृहीत हो गईं। तो हम कहते हैं कि—आपका यह तात्पर्य भ्रांतिपूर्ण है—आप यही नहीं समझ पाए कि अनन्वय कहते किसे हैं ? 'अनन्वय' शब्द का योगशक्ति द्वारा यह अर्थ होता है कि—जिसका अन्वय न हो सके, अर्थात् जो वस्तुतः बाधित होने पर भी केवल दूसरे की उपमानता निवृत्त करने के लिये ही

प्रयुक्त किया गया हो ऐसा सादृश्य अनन्वय कहलाता है। यह अर्थ एक-देशों की परस्पर तुलना करने में घटित नहीं हो पाता; क्योंकि किसी भी व्यक्ति के एक हिस्से से दूसरे हिस्से की तुलना करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। सो ऐसा सादृश्य 'अनन्वय' पद का वाच्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि—"गगनं गगनाकारम्......" इत्यादि अनन्वय में जब उपमेय को ही उपमानरूप में रखा जाता है तब उपमेय से भिन्न उपमान का अभाव प्रतीत होने द्वारा उपमेय की अनुपमता सिद्ध होती है, पर प्रकृत पद्य में जब 'वामार्ध' रूपी उपमेय का 'दक्षिणार्ध' रूपी उपमान निर्दिष्ट है तब उसका अनुपम होना सरासर विरुद्ध है—अपने से भिन्न उपमान के प्राप्त होते हुए किसी को अनुपम कैसे कहा जा सकता है? रही यह बात कि—इस कथन से कामिनी की तो अनुपमता प्रतीत होती है। सो इस बात में कोई संदेह नहीं। पर वह अनुपमता की प्रतीति अनन्वय का फल नहीं हो सकती। कारण, इस सादृश्य का उपमेय कामिनी नहीं है और उपमेय से अतिरिक्त की अनुपमता सिद्ध करनेवाले सादृश्य को अनन्वय कहा नहीं जा सकता।

'अलंकार-सर्वस्वकार' का खंडन

और जो अलंकार-सर्वस्वकार ने लिखा है कि—("एतावति प्रपञ्चे......") "यह पद्य अनन्वय की ध्वनि होगा—अर्थात् इस पद्य में अनन्वय व्यंग्य है, अन्यथा अलंकार की ध्वनि का कोई विषय ही न रहेगा।" सो यह कथन भी निस्सार है। कारण, यह लिखा जा चुका है कि—उपमान का निषेध जिसका फल हो और जिसके उपमान, उप-मेय अभिन्न हों वह सादृश्य अनन्वय का स्वरूप है। सो वैसा सादृश्य, प्रस्तुत पद्य में प्रतिपादित 'वामार्ध' और 'दक्षिणार्ध' में तो बनता नहीं—

यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है। रही कामिनी के उपमान के निषेध की बात, सो उसकी प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, पर वहाँ भी अनन्वय का स्वरूप 'जिसके उपमान और उपमेय अभिन्न हो वह सादृश्य' नहीं प्रतीत होता। और बिना उस स्वरूप की प्रतीति के इस व्यंग्य को अनन्वयरूप कहा कैसे जा सकता है? यह कोई नियम तो है नहीं कि—सभी अनुपमता की प्रतीतियो के पूर्व 'जिनके उपमान और उपमेय अभिन्न हों ऐसे सादृश्य' की प्रतीति हो ही, क्योंकि कल्पितोपमा, अतिशयोक्ति और असमालंकार की ध्वनि में अनुपमता प्रतीत होती है, पर वहाँ वैसे सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। अतः इस पद्य में अनन्वय का लेश भी नहीं है—इस बात में अब कोई संदेह नहीं रह जाता।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने लिखा है—"यह अनन्वय व्यंग्य भी है। जैसे—

अद्य या मम गोविन्द! प्रीतिस्त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवाऽऽगमनात्पुनः॥

हे गोविंद! आज आपके मेरे घर पधारने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता, किसी समय जब आप ही पुनः पधारें तब हो सकती है।

यह, घर पर आए श्रीकृष्ण के प्रति, विदुर का वाक्य है। इसमें 'यह आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता, बहुत समय के अनंतर, फिर भी आपके आगमन से ही हो सकती है, अन्य किसी वस्तु से नहीं' इस कहने के ढंग से यह अभिव्यक्त होता है कि—'आपके आगमन की प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता है, अन्य किसी वस्तु से उत्पन्न प्रसन्नता वैसी नहीं हो सकती।"

सो यह भी ठीक नहीं। 'इस कारण, आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता के दूसरी बार आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता समान है' यह प्रतीति सर्वजनसिद्ध है—इस कथन में किसी को कोई बाधा नहीं प्रतीत होती। बात यह है कि—श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता एक सामान्य वस्तु है और उसके अंग हैं समय समय पर उत्पन्न हुई दो प्रसन्नताएँ। इन दोनों प्रीतियों को भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न मानने में कोई बाधा नहीं। ऐसी दशा में इन प्रीतियों का सादृश्य बाधित नहीं कहा जा सकता और सादृश्य के बाधित हुए बिना 'अनन्वय' शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ यहाँ घटित होगा नहीं, फिर यहाँ अनन्वय बताना कहाँ तक ठीक है? आपने स्वयं ही उपमा प्रकरण में लिखा है कि—"अपने सादृश्य का अन्वय अपने आप में नहीं हो सकता, अतः इसे अनन्वय कहा जाता है।" अब आप ही बताइए कि—जब पूर्वोक्त रीति से सादृश्य का अन्वय हो गया तो यहाँ अनन्वय हुआ कैसे? यहाँ उपमेय है एक विशेष प्रकार की प्रीति, उसकी जब दूसरी वैसी ही प्रीति से तुलना की जा रही है तो 'अन्य सदृश का निवारण' तो बाधित हो ही गया—अर्थात् यह तो रहा नहीं कि इस प्रीति के समान अन्य प्रीति नहीं है। सो यहाँ तो अनन्वय का लेश भी नहीं रह जाता।

अब यदि सामान्य प्रीति की, जो कि इन दोनों प्रीतियों की अंगिरूप है, अनुपमता को लेकर यहाँ अनन्वय की अभिव्यक्ति मानी जाय तो यह भी उचित नहीं। कारण, सामान्य प्रीति यहाँ उपमेय नहीं, किंतु विशेष प्रीति है, अतः वह उसका उपमान नहीं बन सकती। विशेष प्रकार की प्रीतिरूपी उपमेय का उपमान भी विशेष प्रकार की प्रीति ही हो सकती है; सामान्य प्रीति नहीं। सो यह उदाहरण "अनुहरति सुभग तस्याः......" इस पूर्वोक्त उदाहरण के तुल्य ही हो गया। जो दोष उस उदाहरण में बताए गए हैं वे ही यहाँ भी आ जायँगे।

यदि कहो कि—कहीं-कहीं अवयवों की उपमा भी अवयवी की अनुपमता की व्यंजक हुआ करती है—ऐसा देखा जाता है; अतः इन दोनों अंगरूप विशेष प्रीतियों द्वारा प्रतीत सामान्य प्रीति को, कृष्ण के आगमन से उत्पन्न सामान्य प्रीति के सदृश, मान लेंगे; और इस तरह विशेष प्रीतियों की समानता के मध्य में सामान्य प्रीति की सामान्य प्रीति के साथ सदृशता की कल्पना कर लेंगे, तो यह बात सहृदयों के हृदय में आती नहीं; क्योंकि ऐसी कल्पना सहृदयता के विरुद्ध है।

अब यदि कहो कि—हम तो 'रत्नाकर' ने जो अनन्वय के भेद बताए हैं, उन्हीं में से "अनुहरति सुभग तरथाः......" वाले भेद को व्यंग्य बता रहे हैं तो यह भी ठीक नहीं। कारण, वह भेद अनन्वय का है ही नहीं, हम उसमें पहले ही दोष दिखा चुके हैं। आप कहेंगे—आपने दोष दिखा दिया इससे क्या हुआ; हमने थोड़े ही दोष दिखाया है—हम तो 'रत्नाकर' वाले भेदों को मानेंगे। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, आपने उन भेदों का अनन्वयप्रकरण में कहीं प्रतिपादन नहीं किया है, यदि आपको वे भेद स्वीकृत होते तो आप क्यों न उन्हें लिखते? अतः यह अनन्वय ध्वनि का उदाहरण कुछ नहीं।

अनन्वय की ध्वनि

'अनन्वय' की ध्वनि का उदाहरण तो यह है—

पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसाल! मधुपेन।

हे आम! भौंरे ने कोकिलों से पूछा और आसपास के सब वृक्ष देख डाले; पर तुम्हारी समानता को उसने भेद-संबंध से (अर्थात् तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी में) न पाया।

यहाँ 'भेद-संबंध से न पाया' इस कथन से यह सिद्ध होता है कि—अभेद संबंध से सादृश्य का, जिसे अनन्वय कहा जाता है—अर्थात् तेरे समान तू ही है इसका, ज्ञान उसे हो गया। अतः यहाँ 'अनन्वय' व्यंग्य है।

अथवा जैसे—

नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया
पुराणां संहर्त्तुः सुरधुनि ! कपर्दोऽधिरुरुहे।
कया वा श्रीभर्त्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै-
स्तुलालेशो यस्यां तव जननि ! दीयेत कविभिः ॥

हे सुरधुनि—हे गंगे ! पर्वतों से निकलनेवाली नदियों में से कौन ऐसी है, जिसने शिवजी के जटाजूट पर आरोहण किया हो और कौन ऐसी है जिसने भगवान् श्रीपति के चरण कमलों को अपने जलों से धोया हो कि जिसे, हे जननि, कवि लोग, तुम्हारी तुलना का लेश (भी) दे सकें।

यहाँ 'तुम्हारे अतिरिक्त कौन ऐसी नदी है जिसने श्रीपति के चरण-कमल को जलों से धोया हो, जिसे कि कवि लोग तुम्हारी तुलना का लेश भी दे सकें' इस अर्थ से तुमने तो जल से श्रीरमण का चरण-कमल धोया ही है, अतः तुम्हारे साथ तुम्हारी तुलना की जा सकती है' यह अर्थ अभिव्यक्त होता है, जो कि अनन्वय रूप है और जिसकी समाप्ति श्रीगङ्गा की अनुपमता में होती है। यह अर्थ 'यस्याम्' पद के अर्थ रूप 'इतर (अतिरिक्त)' पद के प्रभाव से अभिव्यक्त होता है।

अनन्वय समाप्त

———

असमालंकार

लक्षण

उपमा के सर्वथा ही निषेध को 'असम' नामक अलंकार कहते हैं।

विवेचन

यह अलंकार यद्यपि 'अनन्वय' में व्यंग्य रहता है, तथापि वहाँ अनन्वय के चमत्कार का पोषक होने के कारण, जिस तरह रूपक, दीपक आदि में (सादृश्य के व्यंग्य होने पर भी) उपमा को पृथक् अलंकार नहीं कहा जा सकता उस तरह, इसे भी पृथक् अलंकार नहीं कहा जा सकता। पर (सादृश्य के) निषेध के वाच्य होने पर, निषेध के स्वतंत्रतया चमत्कारी होने के कारण, यह पृथक् अलंकार कहलाता है।

उदाहरण

भूमीनाथ शहाबदीन ! भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवत्प्रपञ्चविषये नाऽस्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

हे शहाबदीन पृथ्वीपते ! गुणसमूह के कारण तुम्हारे समान, इस भूत और वर्त्तमान सृष्टि में (कोई) नहीं है, यह तो क्या कहें; यह तो बिना कहे ही सिद्ध है। पर यदि विधाता नए कारणों से पुनः नई सृष्टि तैयार करे, तो भी तुम्हारी (तुलना तो कहीं रही) तुलना के लेश को भी धारण करनेवाला मनुष्य हो ही नहीं सकता।

अथवा जैसे—

भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः ।
न भविष्यति, नास्ति, नाऽभवन्नृप ! यस्ते भजते तुलापदम् ॥

हे राजन् ! यद्यपि त्रिलोकी देवों, मानवों और दानवों से परिपूर्ण है तथापि वह, जो तुम्हारी समानता का स्थान प्राप्त करे, न था, न है और न होगा ।

इन दोनों उदाहरणों में 'असम', राजा की स्तुति का उपस्कारक होने के कारण, अलंकाररूप है ।

'असम' और 'उपमान-लुप्ता उपमा' में भेद

असमालंकार में उपमान का सर्वथा निषेध होता है और उपमान-लुप्ता में किसी स्थान अथवा किसी समय पर उपमान का निषेध होता है, अतः इन दोनों का विषय एक नहीं हो सकता । आप कहेंगे—'उपमान-लुप्ता' की तरह 'असम' को भी उपमा का ही एक भेद क्यों नहीं मान लेते, पृथक् अलंकार क्यों मानते हो ? इसका उत्तर यह है कि—इस अलंकार में उपमान का सर्वथा ही निषेध होता है, अतः सादृश्य की स्थिति न होने के कारण इस जगह उपमा का लेश भी नहीं है, उपमा का भेद मान लेना तो दूर की बात है ।

'रत्नाकर' का खंडन

रत्नाकर ने लिखा है—

"ढुँढुँणंतो हि मरीहसि कण्टककलिआइँ केअइवणाइँ ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर ! भमन्तो ण पाविहिसि ।

हे भौंरे ! तू काँटों से घिरे केतकी के जंगलों को ढूँढ़ता-ढूँढ़ता मर रहेगा; पर, भ्रमण करता हुआ तू, मालती के पुष्प के समान (अन्य कोई पुष्प) न पावेगा ।

यह उपमान-लुप्ता उपमा नहीं है, कारण, उपमान-लुप्ता उपमा वहाँ होती है जहाँ उपमान के रहते हुए भी उसका ग्रहण न किया गया हो, न कि उपमान का निषेध किया गया हो, किंतु 'असम' अलंकार है।"

सो झूठी बात है। "हे भौंरे! तू भ्रमण करता हुआ भी मालती के पुष्प के समान (पुष्प) न पावेगा" इस कथन से यह बोध होता है कि—'किसी जगह वैसा पुष्प भले ही रहे, पर तुझे तो दुर्लभ ही है,' अतः उपमान का सर्वथा निषेध न होने के कारण, यहाँ उपमान-लुप्ता उपमा ही हो सकती है, असमालंकार नहीं। अन्यथा 'मालती के पुष्प के सदृश नहीं है' यही कहा गया होता, 'नहीं पावेगा' यह नहीं।

'अनन्वय' को पृथक् अलंकार क्यों माना जाता है?

आप कहेंगे—'अनन्वय' में चमत्कार-जनक अंश है 'उपमान के निषेध की प्रतीति' और उपमान के निषेध का नाम ही है 'असमालंकार'। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'असमालंकार' के ध्वनित करने से ही 'अनन्वय' में चमत्कार बन पाता है। सो अनन्वय के वर्णन को असमालंकार ध्वनित करनेवाली वस्तु के रूप में ही मानकर काम चल जाता है, फिर उसे अलग अलंकार मानने की क्या आवश्यकता है? तो इसके उत्तर में हम आपसे पूछते हैं कि—'दीपक' आदि अलंकारों में भी उपमा की अभिव्यक्ति से ही चमत्कार बन पाता है—यदि सादृश्य की अभिव्क्ति न हो तो उनमें और क्या चमत्कार रह जाता है? फिर उन्हें क्यों पृथक् अलंकार माना जाता है? बात दोनों जगह बराबर है।

आप कहेंगे—यद्यपि 'दीपक' आदि में उपमा व्यंग्य होती है, तथापि वह गुणीभूत (अप्रधान) होती है और वाच्य अर्थ प्रधान होता है; पर 'अनन्वय' में तो अपनी समानता अपने साथ सर्वथा नहीं बन पाती, अतः वहाँ असमालंकार का ध्वनित होना ही प्रधान हो

जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे 'दीपक', 'समासोक्ति' आदि अलंकारों में गुणीभूत (अप्रधान) व्यंग्य के रहने पर भी उनके अलंकार होने में कोई न्यूनता नहीं आती; इसी तरह 'अनन्वय' में प्रधान व्यंग्य के विद्यमान होने पर भी अलंकार होने में क्या बाधा है? जब अप्रधान व्यंग्य के रहने से किसी वस्तु का अलंकार होना नहीं रुक सकता तो प्रधान व्यंग्य के रहने से वह रुक जाय यह कहाँ की बात है? और 'अनन्वय' को वाच्य अलंकार कहना भी ठीक है; क्योंकि अनन्वय का शरीर जो 'अपने साथ अपनी तुलना' है, वह तो ही वाच्य है, व्यंग्य है नहीं।

आप कहेंगे—'दीपक' आदि अलंकारवाले काव्यों में व्यंग्य के गुणीभूत (अप्रधान) होने के कारण उन्हें यदि 'गुणीभूतव्यंग्य (मध्यम काव्य), माना जाता है तो माना जाय। पर किसी अलकार-प्रधान काव्य का ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) होना कहीं नहीं देखा गया। तात्पर्य यह कि—कुछ अलंकार ऐसे हैं जिनमें व्यंग्य गुणीभूत रूप से रहता है, अतः उन्हें चित्रकाव्य (मध्यम) न मानकर गुणीभूत-व्यंग्य (उत्तम) माना जा सकता है; पर कोई ऐसा नहीं जो अलंकार-प्रधान होने पर भी ध्वनि (उत्तमोत्तम) कहा जा सके, किंतु अनन्वया-लंकार प्रधानतया ध्वनित होता है, सो ऐसी दशा में अनन्वयालंकारवाले काव्य को 'ध्वनि' रूप मानना पड़ेगा, जो कि एक अश्रुतपूर्व है। तो हम कहते हैं—ज़रा आँखें खोलकर देखिए, 'पर्यायोक्त' और 'सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि अलंकारप्रधान काव्यों का ध्वनिरूप होना स्पष्ट है। अतः यह शंका व्यर्थ है।

प्राचीनों का मत

प्राचीन आचार्य 'असम' को भिन्न अलकार नहीं मानते। (उनका कहना है कि—उपमा के निषेध से उपमेय का उत्कर्ष सिद्ध होता है,

जो कि व्यतिरेकालंकार का विषय है, अतः असमालंकार को व्यतिरेकके अंतर्गत ही मानना चाहिए। पर यह कथन ठीक नहीं; कारण व्यतिरेक में साधर्म्य रहता है (देखिए 'व्यतिरेक प्रकरण')। पर 'असम' में साधर्म्य (सादृश्य) का लेश भी नहीं होता; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।)

व्यंग्य 'असम'

व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाला 'असमालंकार' जैसे--

मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीश ! वाचंयमे
न वर्णयति मामयं कविरिति क्रुधं मा कृथाः ।
चराचरमिदं जगज्जनयतो विधेर्मानसे
पदं न हि दधेतरां तव खलु द्वितीयो नरः ॥

हे राजन् ! मैं आपकी उपमा देने में चुप हूँ, इसलिये आप यह समझकर कि 'यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता' क्रोध न कीजिएगा। बात असली यह है कि—इस चराचर जगत् के उत्पन्न करनेवाले विधाता के मन में तुम्हारी जोड़ का कोई मनुष्य स्थान ही न पा सका। बनाना तो दूर, पर वह सोच भी न सका कि आपकी जोड़ का कोई हो सकता है।

यहाँ 'जो (तुम्हारी जोड़ का) इतने समय तक विधाता के मनमें न आ सका, वह कोई प्रमाण न होने के कारण आगे भी न आ सकेगा' इस कथन से 'ऐसा कोई सर्वथा ही नहीं है, यह प्रतीत होता है, जो कि 'असम' रूप है। यद्यपि यह असम व्यंग्य है, तथापि राजा की स्तुतिरूपी प्रधान व्यंग्य का उपस्कारक होने के कारण 'अलंकार' रूप ही है, प्रधान व्यंग्य नहीं।

प्रधानतया ध्वनित होतेवाला 'असम'; जैसे—

सदसद्विवेकरसिकैरालोक्य समस्तलोकमथ कविभिः ।
गणिता गगनलतादेर्गणनायां तन्वि ! तव सदृशी ॥

हे तन्वि ! सच्चे और झूठे पदार्थों के विवेचन के रसिक कवियों ने सारे संसार के देख चुकने के बाद तुम्हारी-जैसी को 'आकाशलता' आदि की गणना में गिना है—अर्थात् जैसे 'आकाशजन्य लता' दुनिया में नहीं है; वैसे ही तेरे सदृश भी कोई नहीं हो सकती ।

असमालंकार के भेद

यह 'असम' कहीं उपमान के निषेध से होता है और कहीं साक्षात् उपमा के ही निषेध से । उनमें से पहले भेद का उदाहरण दिया जा चुका है । दूसरा भेद, जैसे—

पूर्णमसुरै रसातलममरैः स्वर्गो वसुन्धरा च नरैः ।
रघुवंशवीरतुलना तथापि खलु निरवकाशैव ॥

अर्थात् पाताल असुरों से परिपूर्ण है, स्वर्ग देवों से और पृथिवी मनुष्यों से, तथापि रघुवंशवीर—श्री रामचंद्र—की तुलना को तो अवकाश है ही नहीं ।

इसी प्रकार पूर्ण और लुप्त होने के कारण असमालंकार के भी भेदों की, यथासंभव, तर्कना कर ली जानी चाहिए ।

असमालङ्कार समाप्त

——

उदाहरणालंकार

लक्षण

सामान्य रूप से निरूपित अर्थ का सरलता से बोध होने के लिये, उसके एक देश का निरूपण करके, सामान्य पदार्थ और उसके एक देश का, शब्द से उक्त अंगांगिभाव 'उदाहरण' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

'अर्थांतरन्यास' अलंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिये, इस लक्षण में, 'शब्द से उक्त' यह विशेषण दिया गया है क्योंकि उसमें सामान्य-विशेष के रहने पर भी उनके संबंध के बोधक इव आदि शब्द नहीं रहते। काव्यों में वा, इव, यथा, निदर्शन और दृष्टांत आदि शब्दों से अंगागिभाव की उक्ति स्पष्ट है—उसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। आप कहेंगे—'इव' और 'यथा' शब्द तो 'साहश्य' के वाचक हैं, अतः उनके द्वारा विशेष और सामान्य जिसका स्वरूप है (अर्थात् विशेष अंग है और सामान्य अंगी) उस अंगांगिभाव की अभिधा द्वारा उक्ति हो नहीं सकती। तब 'इव' आदि शब्द अगांगिभाव का प्रतिपादन किस वृत्ति के द्वारा करेंगे ? तो हम कहते हैं—लक्षणा वृत्ति के द्वारा; क्योंकि जहाँ अभिधा बाधित हो वहाँ लक्षणा का साम्राज्य है-उसे रोकनेवाला कोई नहीं। अन्यथा 'इव' आदि का अर्थ तो 'संभावना' भी नहीं होता, फिर 'इव' आदि को उत्प्रेक्षा का बोधक मानना भी कठिन हो जायगा। अतः यह मानना चाहिए कि—जैसे 'इव' आदि शब्दों से लक्षणाद्वारा संभावना का बोध होता है, वैसे ही अंगांगिभाव का भी बोध हो सकता है, इसमें कोई बाधा नहीं।

उदाहरण

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥

अमित (बेशुमार) गुणवाला भी पदार्थ एक दोष के कारण निंदित हो जाता है; जैसे समग्र रसायनों (आयु, बल आदि बढ़ानेवाले औषधों) का राजा लहसुन उग्र गंध के कारण (निंदित हो गया है) ।

इस पद्य में 'पदार्थ' और 'लहसुन' की उपमा नहीं कही जा सकती; क्योंकि उनमें सामान्यविशेषभाव है—'लशुन' 'पदार्थ' से भिन्न नहीं, किंतु वह भी एक प्रकार का पदार्थ ही है, अतः उन दोनों में सादृश्य उल्लसित नहीं होता । यदि सामान्य और विशेष का परस्पर सादृश्य हो सकता तो इस अलंकार में जैसे 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है वैसे ही 'सदृश' आदि शब्दों का भी प्रयोग हो सकता । पर ऐसा होता नहीं ।

यह तो हुआ 'इव' शब्दवाला उदाहरण । अब 'यथा' शब्दवाला उदाहरण सुनिए; जैसे—

अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति ।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा ॥

अत्यंत बलवानों से चपलता करनेवाला कुबुद्धि पुरुष नष्ट हो जाता है; जैसे त्रिपुरारि (शिव) के विषय में वीरता रखनेवाला—उन्हें वीरता दिखानेवाला घमंडी कुसुमायुध (कामदेव) ।

यहाँ 'शिव' और 'वीरता' रूपी विशेष पदार्थों के सामान्य पदार्थ हैं 'अत्यंत बलवान्' और 'चपलता'; एवं 'घमंड' और 'कामदेव' रूपी विशेष पदार्थों के सामान्य पदार्थ हैं 'कुबुद्धि' शब्द में गौण-रूप

से आई हुई 'बुरी बुद्धि' और प्रधान रूप से आया हुआ 'बुरी बुद्धिवाला'।

'निदर्शन' दृष्टांत' आदि शब्दों से भी इस अलंकार का उदाहरण बनाया जा सकता है; जैसे—

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोत्र रसः॥

आपत्ति में पड़ा हुआ (भी) अच्छे गुणोंवाला पदार्थ अत्यंत उपकार ही करता है। इस बात का निदर्शन है मूर्च्छित* अथवा मृत पारा।

अथवा इस पद्य का निर्माण 'निदर्शन' शब्द के स्थान पर 'दृष्टांत' शब्द रखकर भी किया जा सकता है—अर्थात् 'निदर्शनं पारदोऽत्र रसः' के स्थान पर 'दृष्टान्तः पारदोऽत्र रसः' पढ़ो तो यही पद्य 'दृष्टान्त' वाले उदाहरणालंकार का उदाहरण हो जाता है।

एक बात

इस अलंकार के विषय में इतनी बात समझ लेने की है कि—जब 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब 'सामान्य पदार्थ' की प्रधानता रहती है और एक वाक्य होता है और जब 'निदर्शन' आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब 'विशेष पदार्थ' की प्रधानता रहती है और दो वाक्य होते हैं।

शाब्दबोध

अच्छा, अब उदाहरणालंकार के उदाहरणों का शाब्दबोध सुनिए।

१—जिन लोगों के सिद्धांत से 'आख्यात' (तिङन्त, 'भवति' आदि

---

* संस्कृत पारा के बुभक्षित आदि भेदों में मूर्छित भी एक भेद है।

क्रियावाचक पद) के प्रयोगस्थल में क्रिया की प्रधानता मानी जाती है, उन (वैयाकरणादिकों) के हिसाब से

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।
सकलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ।

इस पद्य का शाब्दबोध

"अमित गुणवाला पदार्थ जिसका कर्त्ता है और एक दोष जिसका कारण है वह निंदित होना ऐसा (सामान्य पदार्थ) है, जिसका समग्र रसायनों का राजा लहसुन जिसका कर्त्ता है और उग्र गंध जिसका कारण है वह निंदित होना अंग (एक विशेष पदार्थ) है ।"

यह होगा । और जो लोग ऐसे स्थल पर प्रथमांत पद के अर्थ को विशेष्य (प्रधान) मानते हैं उन (नैयायिकादिक) के मत से इस पद्य का शाब्दबोध होगा

"उग्र गंध जिसका कारण है ऐसे निंदित होने (क्रिया) का आश्रय (आधार) समग्र रसायनों का राजा लहसुन जिसका अंग है वह अमित गुणवाला सामान्य पदार्थ, जिसका एक दोष कारण है उस निंदित होने (क्रिया) का आश्रय है ।" यह ।

इनमें से प्रथम शाब्दबोध को सरल शब्दों में

समग्र रसायनों के राजा लहसुन का उग्र गंध के कारण निंदित होना, अमित गुणवाले पदार्थ के एक दोष के कारण निंदित होने का एक अंश (उदाहरण) है ।

यों कहा जा सकता है और दूसरे शाब्दबोध को सरल शब्दों में—

उग्र गंध के कारण निंदित होनेवाला समग्र रसायनों का राजा लहसुन, एक दोष के कारण निंदित होनेवाले (पदार्थ) का एक अंश (उदाहरण) है ।

यों कहा जा सकता है।

आप कहेंगे—पूर्वोक्त पद्य में 'निंदित होना' रूपी क्रिया का केवल एक बार (सामान्य पदार्थ के साथ) प्रयोग हुआ है, पर आपने शाब्दबोध में उस क्रिया का दो बार (सामान्य पदार्थ के साथ और विशेष पदार्थ के साथ) प्रयोग किया है; यह क्यों ? इसका उत्तर यह है कि—विशेष वाक्य के अर्थ में क्रिया का अन्वय ढूँढ़ना पड़ता है—अर्थात् सामान्य पदार्थवाली क्रिया का विशेष पदार्थ के साथ अन्वय किए बिना निर्वाह नहीं; कारण, ऐसे उदाहरणों में सामान्य पदार्थ के हेतु से विशेष पदार्थ का हेतु भिन्न होता है—जो हेतु सामान्य पदार्थ में होता है वही विशेष पदार्थ में नहीं होता; जैसे पूर्वोक्त पद्य में सामान्य पदार्थ में हेतु है 'एक दोष' और विशेष पदार्थ में हेतु है 'उग्र गंध'। ऐसी दशा में दूसरे (विशेष पदार्थवाले) हेतु के अन्वय के लिये क्रिया का दुहराना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया जाय और केवल विशेष पदाथ का सामान्य पदार्थ के साथ अन्वय कर दिया जाय तो बात नहीं बनेगी; क्योंकि विशेष पदार्थ का हेतु लटकता ही रह जायगा; कारण, एक ही क्रिया में दो भिन्न-भिन्न हेतुओं का अन्वय असंभव है, अतः विशेष पदार्थ के साथ हेतु का अन्वय करने के लिये क्रिया दुहराई गई है।

२—यही बात 'यथा' शब्दवाले स्थल पर, जैसे—

'अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति ।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा ॥'

इत्यादि के शाब्दबोध में, भी समझ लेनी चाहिए। अर्थात् वहाँ भी 'यथा' शब्द का अर्थ 'अंग' होता है और शेष सब बात वही है।

३—अब रही 'निदर्शन', 'दृष्टांत' आदि पदोंवाले वाक्यों के शाब्दबोध की बात। सो भी सुनिए। प्रकृत में ऐसे शब्दोंवाला उदाहरण है—

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः॥

यह पद्य। नैयायिकों के मत से इस पद्य के शाब्दबोध की प्रक्रिया यों है। पहले लिखा जा चुका है कि—'निदर्शन' आदि शब्दों से घटित उदाहरणों में दो वाक्य होते हैं। उनमें से पहले वाक्य का शाब्दबोध होगा "आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला पदार्थ उपकार के अनुकूल कृति (यत्न) से युक्त (होता है)" यह और दूसरे वाक्य का शाब्दबोध होता है "(अत्र =) इस बात में मूर्च्छित अथवा मृत पारा (निदर्शन =) एकदेश (अंग) है" यह। इनमें से इस दूसरे वाक्य के अर्थ का पहले वाक्य का अर्थ विशेषण होता है—अर्थात् पहले वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य के अर्थ में विशेषण रूपसे जुड़ जाता है। सारांश यह कि दोनों वाक्यों का मिलकर (अर्थात् पूरे पद्य का) **शाब्दबोध** यह होता है कि

आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला (पदार्थ) उपकार के अनुकूल यत्न से युक्त (होता है), इस (सामान्य) अर्थ का मूर्छित अथवा मृत पारा अंगरूप (एक उदाहरण) है।

इस शाब्दबोध को सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है—

अपत्ति में पड़ा हुआ अच्छे गुणोंवाला पदार्थ उपकार ही करता है, इस बात का एक उदाहरण है मूर्च्छित अथवा मृत पारा।

यह तो हुआ नैयायिकों के मत से शाब्दबोध। अब वैयाकरणों को लीजिए। उनके हिसाब से पहले वाक्य का शाब्दबोध होता है "आपत्ति

में आए हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला पदार्थ जिसका कर्ता है वह उपकार के अनुकूल क्रिया" यह। और दूसरे वाक्य का शाब्दबोध होता है "(अत्र =) इस पहले वाक्य के अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पारा (निदर्शन =) एकदेश (अंग) है।" सारांश यह कि वैयाकरणों के हिसाब से पूरे पद्य का शाब्दबोध यह होता है कि—

आपत्ति में आए हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला पदार्थ जिसका कर्ता है उस उपकार के अनुकूल क्रिया रूपी (सामान्य) अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पारा अंगरूप है।

इस शाब्दबोध को सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि—

आपत्ति में आए हुए अच्छे गुणोंवाले पदार्थ द्वारा उपकार किए जाने का एक उदाहरण है मूर्च्छित अथवा मृत पारा।

एक शंका और उसका समाधान

यहाँ आप एक शंका कर सकते हैं। आप कहेंगे—वैयाकरणों के शाब्दबोध में पहले वाक्य का अर्थ है क्रिया (उपकार करना) और दूसरे वाक्य का अर्थ है द्रव्य (पारा), एवं दूसरे वाक्य के अर्थ को पहले वाक्य के अर्थ का अंग बताया गया है। सो ठीक नहीं। भला, क्रिया का अंग द्रव्य कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि 'पारा' वास्तव में 'अच्छे गुणोंवाले पदार्थ' (द्रव्य) का अंग है, न कि क्रिया का। तथापि 'पारा' जिसका अंग है वह 'अच्छे गुणोंवाला पदार्थ' इस वाक्य में क्रिया का विशेषण होकर आया है, अतः क्रिया के विशेषण का अवयव होने के कारण वह क्रिया का भी अवयव कहा जा सकता है, क्योंकि जैसे प्रधान (विशेष्य) का अवयव विशिष्ट (विशेषणों सहित पूरे वाक्यार्थ) का अवयव होता है, वैसे ही विशेषणों का अवयव भी विशिष्ट का अवयव हो सकता है—अर्थात् यद्यपि यहाँ 'पारा' रूपी विशेष पदार्थ 'क्रिया' रूपी विशेष्य का अंग

नहीं हो सकता, तथापि विशेषणों सहित विशेष्य (विशिष्ट) का अंग होने में तो कोई बाधा है नहीं। जैसे कि 'घड़ा ला' इस वाक्य के अंतर्गत 'घड़ा' रूपी सामान्य पदार्थ का एक अंग 'नीला घड़ा' पूरे वाक्यार्थ का अंग हो जाता है, यदि ऐसा न होता तो 'घड़ा ला' इस वाक्य से श्रोता 'नीले घड़े' के साथ 'लाना' क्रिया का संबंध न समझ पाता, और न वैसा घड़ा लाता ही। सारांश यह कि आप केवल विशेष्य का अंग समझकर हमें दोष दे रहे हैं, पर हम 'पारा' को विशेष्य का अंग नहीं, किन्तु विशिष्ट का अंग बता रहे हैं, और वैसा हो सकता है, अतः कोई दोष नहीं।

'विकस्वरालङ्कार' के खंडन के लिये उदाहरण

अर्थिभिश्छिद्यमानोऽपि स मुनिर्न व्यकम्पत।
विनाशेऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति, द्रुमो यथा।

याचकों (देवताओं) द्वारा काटे जाते हुए भी वह मुनि (दधीचि) कंपित नहीं हुए। ठीक ही है, जो उन्नत होता है वह विनाश होने पर भी स्थिरता नहीं छोड़ता; जैसे वृक्ष; काटते जाइए पर चूँ न करेगा।

यहाँ, जिसका दधीचि ऋषि आलंबन हैं, उनके अलौकिक चरित का श्रवण उद्दीपन है और इस पद्य का प्रयोग अनुभाव है—वह, इस पद्य के निर्माता की (दधीचि ऋषि के विषय में) रति (प्रेम) प्रधान है; और उसमें, जिसका याचक आलंबन हैं, उनके द्वारा की गई याचना का श्रवण उद्दीपन है एवं शरीर के छेदन की अनुमति अनुभाव है और जिसे 'धृति' रूपी संचारी भाव ने पुष्ट किया है वह मुनि का उत्साह गौण हो गया है। उस उत्साह के उत्कर्षरूप में स्थित और इस पद्य के तृतीय तथा आधे चतुर्थ (अर्थात् ३॥)

चरण ("विनाशेऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति") द्वारा प्रतिपादित 'अर्थांतरन्यास (अलंकार)' को स्पष्टीकरण द्वारा अलंकृत करता है चतुर्थ चरण के एक भाग में आया हुआ ("द्रुमो यथा" यह) उदाहरणालंकार।

(साराश यह कि पूर्वोक्त उदाहरणों में माने हुए उदाहरणालंकार से ही जब यहाँ भी काम चल सकता है तो फिर 'कुवलयानंद' में बताया गया 'विकस्वरालंकार' पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं।)

यही बात—

"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

'कुमार-संभव' में हिमालय का वर्णन है—अनंत रत्नों के उत्पत्ति-स्थान हिमालय के सौभाग्य को हिम (बरफ) नष्ट न कर पाया। कारण, एक दोष गुणों के समूह में डूब जाया करता है, जैसे चंद्रमा की किरणों में कलंक।"

इस कालिदास के पद्य में भी समझनी चाहिए। अर्थात् वहाँ भी यही उदाहरणालंकार है।

अर्थान्तरन्यास से भेद

आप कहेंगे—यह अलंकार जब 'अर्थांतरन्यास' से मिश्रित ही पाया जाता है, तब क्यों न इसे 'अर्थांतरन्यास' का ही एक भेद मान लिया जाय? अतिरिक्त अलंकार मानने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर यह है कि इस अलंकार में 'अवयवावयविभाव' के बोधक 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है और सामान्य (जैसे 'गुणसमूह में एक दोष') और विशेष (जैसे 'चंद्रमा की किरणों में कलंक') दोनों पदार्थों का एक ही विधेय (जैसे 'डूबना' क्रिया) में अन्वय होता है;

पर अर्थांतरन्यास में ऐसा नहीं होता। यह बात अर्थांतरन्यास के भेद से इस अलंकार में विलक्षणता उत्पन्न कर देती है, अतः इसे पृथक् अलंकार मानना पडता है। इस बात को हम अर्थांतरन्यास के प्रकरण में अच्छी तरह सिद्ध करेंगे।

प्राचीनों का मत

प्राचीन विद्वानों का तो यह भी कथन है कि—"यह अलंकार अतिरिक्त नहीं है; क्योंकि यह उपमा से गतार्थ हो जाता है। आप कहेंगे—सामान्य और विशेष में (तो अभेद संबंध होता है) भेद-विशिष्ट साहश्य तो होता नहीं; फिर यहाँ उपमा कैसे होगी? तो इसका उत्तर यह है कि—"कोई भी सामान्य बिना विशेष के नहीं होता, सामान्य होगा तो विशेष अवश्य होगा" यह नियम है; अतः यह मानना पड़ेगा कि बिना किसी विशेष के सामान्य प्रकृत में प्रयुक्त नहीं हो सकता—अर्थात् प्रकृत सामान्य के गर्भ में कोई न कोई विशेष अवश्य रहता है, सो उस विशेष को लेकर अन्य विशेष के साथ सामान्य (विशेषरूप में पर्यवसन्न) का साहश्य होने में कोई बाधक नहीं है। अतः यह मानना चाहिए कि 'इव' आदि शब्दों से प्रथमतः सामान्य विशेषभाव की प्रतीति होने पर भी वह सामान्यविशेषभाव अंततोगत्वा दो विशेषों के साहश्य के रूप में परिणत होकर ही विश्राम पाता है—उसका बिना साहश्य के रूप में परिणत हुए निर्वाह नहीं।"

उदाहरणालङ्कार समाप्त

— —

स्मरणालंकार

लक्षण

सादृश्य के बोध द्वारा उद्‌बुद्ध संस्कार के फलस्वरूप (प्रयोज्य) स्मरण को 'स्मरणालंकार' कहते हैं।

उदाहरण

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डध्वनि-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम्।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो! को न क्षितीश! स्मरेत्।

कवि कहता है—हे पृथ्वीनाथ! दोनों भुजदंडों से कुंडल के समान गोल किए सुंदर धनुष की प्रचंड ध्वनि से उद्दंड शत्रु-समूह को नष्ट कर देनेवाले तुम्हें, संग्राम के मध्य में देखकर, कौन ऐसा पुरुष होगा, जो, विलोल गांडीव धनुष से निकले बाण-समूह की ज्वालावली के नृत्य से भ्रष्ट होते खांडव (इंद्र के वन) को देखकर रुष्ट पांडव (अर्जुन) का स्मरण न करे—युद्ध के समय आपको देखकर देखनेवाले को वैसे अर्जुन का स्मरण हो ही आता है।

अथवा जैसे—

भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावलं
भवन्तमरिमण्डलक्रथन! पश्यतः सङ्गरे।
अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो
न कस्य हृदयं झगित्यधिरुरोह देवेश्वरः॥

हे शत्रु-मंडल के नाशक ! भुजाओं से घुमाए जाते पट्टिश (एक-शस्त्र) के द्वारा मत्त हाथियों का अच्छी तरह दलन करनेवाले तुम्हें, युद्ध में देखते हुए, वज्र की प्रबल चोटों से निस्संकोच विंध्याचल का तोड़नेवाला देवराज—इन्द्र—किसके हृदय में तत्काल आरूढ़ नहीं हो जाता।

इन दोनों पद्यों में राजा के विषय में कवि का प्रेम प्रधान है और प्रकृत स्मरण उसे उत्कृष्ट बनाता है, अत; यह स्मरण अलंकार-रूप है। हाँ इतनी विशेषता अवश्य है कि—पहले पद्य में स्मरण वाच्य है और दूसरे पद्य में ('हृदय में आरूढ होने' पद से) लक्ष्य। इन पद्यों में जो वीर-रस है वह भी प्रधान (कवि के प्रेम) को उत्कृष्ट बनाता है, अतः अलंकार-रूप ही है।

लक्षण का विवेचन

एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्प-
मालोक्य संगरगतं कुरुराजसैन्यम्।
सस्मार तल्पमहिपुङ्गवकायकान्तं
निद्रां च योगकलितां भगवान् मुकुन्दः॥

महाभारत युद्ध का वर्णन है। कवि कहता है—एक होते हुए प्रलय के समुद्र के समान, युद्ध में आई हुई कुरुराज—दुर्योधन—की सेना देखकर भगवान् श्रीकृष्ण को सर्पराज—शेषजी—के शरीर से (बनी) सुंदर शय्या का और योग-निद्रा का स्मरण हो आया।

यहाँ यद्यपि 'शय्या' और निद्रा' का स्मरण, शय्या और निद्रा के साहश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार का फल-स्वरूप नहीं है; क्योंकि भगवान् ने यहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी जो शय्या अथवा निद्रा के सदृश हो। तथापि सेना में समुद्र का साहश्य देखने के कारण समुद्र का

संस्कार उद्‌बुद्ध होने से समुद्र का स्मरण उत्पन्न हुआ और उस स्मरण के अधीन है यह शय्या तथा निद्रा का स्मरण, इस कारण यह स्मरण भी किसी सादृश्य के देखने से उद्‌बुद्ध संस्कार का फलस्वरूप हो ही जाता है। इस तरह परंपरया स्मरण होने पर भी लक्षण में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती; क्योंकि लक्षण में यह कहना तो अभीष्ट है नहीं कि—सादृश्य जिसका स्मरण हो उसका संबंधी होना चाहिए, किंतु यह अभीष्ट है कि—सादृश्य चाहे किसी से सबंध रक्खे, पर वह सादृश्य द्वारा, साक्षात् अथवा परंपरया, किसी तरह, उद्‌बुद्ध संस्कार का फलस्वरूप होना चाहिए।

सो इस तरह, इस पद्य में जो वाच्यरूप से आए हैं उन 'शय्या' तथा 'निद्रा' के स्मरणो का और उनके कारणरूप से आक्षिप्त समुद्र के स्मरण का, समान रूप से, संग्रह हो जाने के लिये (अर्थात् इस लक्षण द्वारा सादृश्य से साक्षात् संबंध रखनेवाले स्मरण का ही नहीं, किंतु परंपरया संबंध रखनेवाले स्मरण का भी संग्रह हो जाने के लिये) लक्षण में उत्पन्न होनेवाला' शब्द छोड़कर 'फलस्वरूप' (प्रयोज्य) शब्द लाया गया है।

कुछ लोगों का यह भी कथन है कि—"सदृश के ज्ञान से उद्‌बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न, और सदृश के विषय में होनेवाला ही स्मरण अलंकार-रूप होता है। अतः उपर्युक्त पद्य में शेषजी और निद्रा का स्मरण अलंकार-रूप नहीं है।*

*** नागेश लिखते हैं कि—इस मत में पूर्व मत से दो बातें विशेष हैं—एक तो 'फलस्वरूप होने' के स्थान 'पर उत्पन्न होने' का निवेश, दूसरे 'सदृश के विषय में होने' का निवेश, ऐसा करके उन्होंने यह सार निकाला है कि—शेष-शय्या और निद्रा का स्मरण यद्यपि समुद्र के स्मरण से उत्पन्न हो सकता है, तथापि 'सदृश के विषय में' भी**

प्रत्युदाहरण

और स्मरणालंकार के विषय में एक विशेष बात

इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः।
परिवर्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमानं वदनाम्बुजं स्मरामि।

नायक कहता है—यहीं से अपने घर गई और बड़ी-बूढ़ियों से घिरी वनिता के, गरदन फिराए और भौंह नीचे किए मुसक्याते मुख कमल का स्मरण कर रहा हूँ।

इस पद्य में जिस स्मरण का वर्णन है वह चिंता द्वारा उद्‌बुद्ध संस्कार का फलस्वरूप है, सादृश्य द्वारा उद्‌बुद्ध संस्कार का नहीं; अतः अलंकार नहीं कहा जा सकता। और व्यंग्य नहीं है—वाच्य है—अतः भाव भी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह—

नहीं है, अतः ऐसे स्मरण को अलंकार नहीं कहा जा सकता। पर यह मत अरुचिपूर्ण है और अरुचि का कारण यह है कि—एक तो ऐसी दशा में इस लक्षण में 'सदृश के विषय में होनेवाला' यह विशेषण निष्फल हो जाता है; क्योंकि 'सदृश के ज्ञान से उद्‌बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न स्मरण' असदृश के विषय में होता नहीं; और दूसरे, 'समुद्र का स्मरण' तो 'सदृश का ज्ञान' हुआ ही; क्योंकि स्मरण भी ज्ञानरूप है और समुद्र सेना के सदृश है। एवं उस 'समुद्र के स्मरण' के द्वारा शय्या आदि के स्मरण के अनुकूल संस्कार का उद्‌बोधन होता ही है, अतः शेष-शय्या आदि का स्मरण फिर भी 'सदृश के ज्ञान से उद्‌बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न' हो गया। सो ऐसा लक्षण बनाने पर भी शय्या और निद्रा का स्मरण अलंकार-रूप हो ही जायगा, अतः यह सब प्रयास व्यर्थ है।

दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम् ।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्ग्याः स्मरामि संगं चिरमङ्गनायाः ॥

नायक अपने मित्र से कहता है—अत्यंत श्वाससमूह से आलस्य-युक्त शरीरवाली अंगना के, जिसमें गरदन का जोड़ किंचित् झुका हुआ और स्नेहपूर्ण नेत्र-कमल थोड़े-से मिंचे हुए थे ऐसे, संग को स्मरण करता हूँ।

इस जगह भी स्मरण न भाव है, न अलंकार। क्योंकि व्यभिचारी (प्रथमानन में बताए हुए हर्षादिक ३४ में से एक) व्यंग्य होने पर ही 'भाव' कहलाता है, वाच्य होने पर नहीं; जैसे कि "सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः (प्रथमानन)" इत्यादि में। कारण, आलंकारिकों का यह सिद्धांत है कि—जब स्मरण सादृश्यमूलक हो तब 'निदर्शना' आदि की तरह अलकार होता है तथा सादृश्यमूलक न हो और व्यंग्य हो तब 'भाव' होता है और यदि ये दोनों ही बातें न हों तो 'केवल वस्तुरूप' होता है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने तो लिखा है कि—

"स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृतिः सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥

जिसका मूल सादृश्य हो और जो किसी भिन्न वस्तु (फिर वह सदृश हो अथवा असदृश) के विषय में हो वह स्मृति 'अव्यंग्यत्व' विशेषण से युक्त हो—अर्थात् व्यंग्य न हो तो 'स्मरणालंकार' कहलाती है। जैसे—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्षीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥

रघुवंश में दशरथ की मृगया का वर्णन है। कवि कहता है—घोड़े के समीप में भी उड़ते सुंदर पंखोंवाले मयूर को उसने अपने बाण का लक्ष्य न बनाया। बात यह थी कि मयूर के देखते ही उसका चित्त, रति के कारण उन्मुक्तबंधन और विविध वर्ण की पुष्प-मालाओं से व्याप्त, प्रिया के केशपाश का स्मरण हो आया।

अथवा जैसे—

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ता-
दम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काश्चिदुत्तरन्ती-
मस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥

'माघ-काव्य' में जल-क्रीड़ा' का वर्णन है। कवि कहता है—भगवान् कृष्ण ने, स्वर्ग-वासियों को भी विस्मित कर देनेवाली किसी नायिका को, जब, सुंदर कर में चंचल कमल लिये, लक्ष्मी की तरह, अपने सामने जल से निकलती देखा, तो उन्हें समुद्र-मंथन का स्मरण हो आया—उनकी आँखों के आगे लक्ष्मीजी के प्रादुर्भाव का दृश्य नाचने लगा।

इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में सदृश पदार्थ (मोर के पंख) के देखने से उसके सदृश (प्रिया के विविध पुष्पमय केशपाश)

की स्मृति हुई है और दूसरे उदाहरण में सदृश पदार्थ (कमल हाथ में लिए नायिका) के देखने से उसके सदृश लक्ष्मी से संबंध रखनेवाले समुद्र-मंथन की स्मृति हुई है। दोनों जगह सादृश्यमूलक और भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली स्मृति समान ही है। अतएव (अर्थात् यह लक्षण सदृश की स्मृति में भी काम दे और सदृश के संबंधी की स्मृति में भी) लक्षण में सदृश और असदृश दोनों को समान रूप से प्रतिपादित करनेवाले 'भिन्न वस्तु' शब्द का ग्रहण सार्थक है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो केवल सदृश वस्तु के विषय की स्मृति का ही ग्रहण होता और इस तरह दूसरे उदाहरण में स्मरणालंकार के लक्षण की अव्याप्ति हो जाती।

सौमित्रे ! ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते ! चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता ? धत्ते कुरङ्गं यतः,
क्वाऽसि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने ! चन्द्रानने जानकि ॥

हनुमन्नाटक में सीता के वियोग के समय, राम लक्ष्मण की उक्ति-प्रत्युक्ति है। राम ने कहा—लक्ष्मण वृक्ष के नीचे चलो; क्योंकि चंड-किरण—सूर्य—उदय हो रहा है। लक्ष्मण ने कहा—रघुपते, रात के समय सूर्य की क्या बात, यह तो चंद्रमा उदय हो रहा है। राम ने कहा—वत्स, तुमने यह कैसे समझ लिया कि यह चंद्रमा है ? लक्ष्मण ने कहा—क्योंकि वह मृग को धारण कर रहा है (सूर्य में मृग कहाँ से आवेगा)। यह कहते ही राम ने कहा—हाय ! मृगनयनी ! चंद्र-मुखी ! प्रियतमे ! जानकी ! तुम कहाँ हो !

यहाँ भी यद्यपि (लक्ष्मण के मुख से) सुने 'मृग' पद से मृग के नेत्रों की स्मृति हुई और उस स्मृति के कारण उन नेत्रों के सदृश सीता

के नेत्रों की तथा उन नेत्रों से संबंध रखनेवाली सीता की स्मृति हुई है, तथापि यह स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है। ऐसी स्मृति में लक्षण की अतिव्यप्ति न होने के लिये "अव्यंग्य" विशेषण दिया गया है।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न श्रान्ताऽसि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद् बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः॥

कवि राजा की स्तुति में कहता है—'चौतरफ़ बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और बड़े-बड़े समुद्र दिखाई दे रहे हैं, (हे भगवति!) इन सबको धारण करती हुई भी तू कुछ भी न थक पाई, तुझे प्रणाम है'—इस तरह, आश्चर्य के कारण, ज्योंही पृथ्वी की बार-बार स्तुति का प्रस्ताव करता हूँ, त्योंही (जो इस पृथ्वी को भी धारण करती है उस) आपकी भुजा का स्मरण हो आया, फिर क्या था, ज़बान बंद हो गई—मारे आश्चर्य के मैं तो हक्का-बक्का सा हो गया, यही न सूझ पड़ा कि मैं आपके विषय में क्या कहूँ!

यहाँ जिसकी स्तुति की जा रही है उस पृथ्वी से संबंध रखनेवाले राजा की स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है, अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं है; किंतु संचारिभावरूप स्मृति राजा के विषय में रतिरूपी भाव का अंग हो गई है, अतः 'प्रेयान्' अलंकार है। यहाँ अतिव्याप्ति न होने के लिये स्मृति को 'जिसका मूल सादृश्य हो' यह विशेषण दिया गया है।"

सो यह सब कथन सुंदरता से शून्य है—इसमें कोई ऐसी बात नहीं जो विद्वानों का चित्त लुभा सके। देखिए, सबसे पहले तो जो अप्पय-

दीक्षित ने यह लिखा है कि—"सदृश और असदृश जो केशपाश और समुद्र-मंथन हैं उन दोनों के संग्रह होने के लिए लक्षण में 'भिन्न वस्तु' शब्द का ग्रहण सार्थक है।" सो यह ठीक नहीं। कारण, 'सादृश्य-मूलक स्मृति को स्मरणालंकार कहा जाता है' इतने कथन से ही केशपाश के स्मरण की तरह समुद्र-मंथन के स्मरण का भी संग्रह हो सकता है, अतः 'भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली' यह विशेषण निरर्थक है। पहले पद्य में सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न होने के कारण और दूसरे पद्य में सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्बुद्ध होने के कारण सादृश्यमूलकता समान ही है। अर्थात् एक जगह सादृश्य साक्षात् मूल है, दूसरी जगह परंपरया; पर स्मृति का मूल सादृश्य होने में तो कोई बाधा है नहीं, क्योंकि 'सादृश्यमूलक' कहने से 'सदृश-पदार्थ के विषय में होनेवाली' यह अर्थ तो निकलता नहीं कि जिससे 'समुद्र-मंथन के स्मरण' का संग्रह न होगा, अतः 'भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली' यह विशेषण निरर्थक* ही है।

अब दूसरी बात लीजिए। आपने लिखा है कि—"सौमित्रे! ननु सेव्यतां तरुतलम्..." इस पद्य में स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है, सो उस स्मृति में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'स्मृति' को 'अव्यंग्य' यह विशेषण दिया गया है।" सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'स्मृति'

---

* नागेश कहते हैं—'सादृश्य' के संबंधी नियत होते हैं, अतः संबंधी की आकांक्षा होने पर नियमतः उपस्थित 'स्मरण किए जानेवाले के सदृश' का ही उसके साथ अन्वय होगा, न कि असदृश का। ऐसी दशा में 'सादृश्यमूलक' कहने से सदृश की स्मृति का ही सग्रह होगा, सदृश के संबंधी की स्मृति का नहीं; अतः 'भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली' यह विशेषण सार्थक है।

अलंकार्य* नहीं है; किंतु जिसका जानकी आलंबन है, रात्रि का समय उद्दीपन है, संताप आदि अनुभाव है और उन्मादरूपी व्यभिचारी भाव पोषक है वह 'विप्रलंभ शृंगार', प्रधान होने के कारण, अलंकार्य है। प्रकृत स्मति तो उसे उत्कृष्ट करनेवाली है अतः अलंकाररूप है, सो उसे हटाने के लिए 'अव्यंग्य' विशेषण देना सर्वथा अनुचित है और यह तो आप कह नहीं सकते कि—'व्यंग्य होने' और 'अलंकार होने में परस्पर विरोध है—जो व्यंग्य हो वह अलंकार हो ही न सके; क्योंकि नित्यव्यंग्य—अर्थात् जो कभी वाच्य होते ही नहीं उन—रस, भाव आदि को भी दूसरे के अंगरूप होने पर अलंकार माना जाता है। रही यह बात कि 'प्रधान व्यंग्य अलंकार-रूप नहीं हो सकता' सो यह वस्तुतः ठीक है, और अतएव—प्रधान व्यंग्य की निवृत्ति के लिये—हमने प्रथमतः ही यह कह दिया है कि "सभी अलंकारों के लक्षणों में 'उपस्कारक' विशेषण देना चाहिए—अर्थात् अलकार तभी कहला

---

* नागेस कहते हैं—"प्रकृत पद्य में 'हाय! कहाँ है' इन पदों से प्रधानतया स्मृति ही अभिव्यक्त होती है; अतः ब्याहे जाते नौकर के साथ चलनेवाले राजा की तरह अथवा "शठेन विधिना निद्रा दरिद्री कृतः (प्रथमानन)" इत्यादिक में 'शठ' आदि पदों से अभिव्यक्त असूया की तरह स्मृति ही प्रधान होने से वही अलंकार्य है। वह किसी को अलंकृत नहीं करती, प्रत्युत 'विप्रलंभ' उसे अलंकृत करता है, अतः उसके अलंकार्य होने में कोई बाधा नहीं।"

पर यह बात हमें नहीं जँची। कारण, जिस प्रकरण का यह पद्य है उस पूरे प्रकरण का व्यंग्य विप्रलंभ है, अतः उस रस का अंग स्मृति हो यही उचित है और कवि ने भी उसे पुष्ट करने के लिए ही यह पद्य लिखा है। सहृदय लोग जरा इस बात को सोच देखें।

—अनुवादक।

सकता है जब वह किसी अन्य को उपस्कृत करे।" पर यहाँ स्मृति प्रधान व्यंग्य नहीं है, किंतु अंगरूप है अतः अप्पयदीक्षित के इस कथन में कोई तत्त्व नहीं।

तीसरी बात अप्पयदीक्षित ने यह लिखी है कि—"अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः ... इस पद्य में, स्मृतिरूपी संचारी भाव राजा के विषय में होनेवाली रति का अंग है, अतः प्रेयान् अलंकार है।" सो यह बात भी नहीं बन सकती। बात यह है कि—जब कोई भाव किसी दूसरे भाव आदि का अंग हो तभी 'प्रेयान्' अलंकार होता है। पर प्रकृत पद्य में स्मृति 'भाव' रूप ही नहीं है; कारण, स्मृति का वाचक 'स्मृ' धातु पद्य में विद्यमान है, अतः यह वाच्य है और वाच्य व्यभिचारी को 'भाव' कहना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर "**व्यभिचार्यञ्जितो भावः**—अर्थात् व्यंग्य व्यभिचारी भाव कहलाता है" इस ('काव्य-प्रकाश' के) सिद्धांत का विरोध होता है।

काव्यप्रकाशकार ही नहीं, किंतु अलंकारसर्वस्वकार भी यही कहते हैं। उनका कथन है कि—

'प्रेयान्' अलंकार का विषय तो सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से उद्बोधित स्मृति है और सो भी विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने पर; जैसे '**अहो! कोपेऽपि कान्तं मुखम्**—अर्थात् आश्चर्य है कि उसका मुख कोप में भी मनोहर था' इत्यादिक में। अपने वाचक शब्द से प्रतिपादित होने पर 'स्मृति' भावरूप नहीं होती; जैसे—

'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥

पुष्पक विमान द्वारा लंका से लौटते समय पंचवटी के किसी स्थल को दिखाते हुए भगवान् राम सीता से कह रहे हैं—'यहाँ, गोदावरी के किनारे-किनारे शिकार खेलकर लौटा हुआ और लहरियों के वायु से खेद-रहित किया गया मैं, जो, एकांत में तुम्हारी गोदी में शिर रखकर वेतस के घरों में शयन करता था उस शयन का स्मरण कर रहा हूँ—इस स्थल के देखते ही उस शयन की स्मृति जग उठी !'

इत्यादिक में जहाँ कि 'स्मृ' धातु द्वारा स्मरण का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।"

अब यदि आप कहें कि—हमारे हिसाब से "भावादिक का अंग-रूप भाव होना" 'प्रेयान्' अलंकार का लक्षण नहीं है, किंतु "भावादिक का अंगरूप केवल संचारी होना" ही है। ऐसा मानने से, वाचक शब्द-द्वारा प्रतिपादित होने के कारण स्मरण के भावरूप न होने पर भी संचारी होने में तो कोई बाधा है नहीं, अतः प्रकृत पद्य में 'प्रेयान्' अलंकार कहना विरुद्ध नहीं। तो हम कहते हैं—तब आपको 'दूसरे का अंगरूप स्थायी (रति आदि) रसालंकार कहा जाता है, न कि अभिव्यक्त होनेवाला' यह मानने में भी कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जो बात वहाँ है वही यहाँ भी है। यदि आप कहें कि—हाँ; तो आपके हिसाब से

"चराचरोभयाकारजगत्कारणविग्रहम् ।
कल्पान्तकालसंक्रुद्धं हरं सर्वहरं नुमः ॥

हम, स्थावर-जंगम दोनों रूपवाले जगत् के कारणस्वरूप और प्रलय-काल में कुपित सब के संहार करनेवाले शिव की स्तुति करते हैं।"

यहाँ क्रोध के, वाचक शब्द (संक्रुद्ध') प्रतिपादित होने पर भी 'देवता के विषय में प्रेम का अंग स्थायी' होने में तो कोई बाधा है

नहीं, अतः 'रसालंकार' होना चाहिए। यदि आप कहें कि—हमें यह भी स्वीकृत है; तो आपकी बात मानी नहीं जा सकती; क्योंकि ऐसा मानना सिद्धांत से विरुद्ध है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि—जिस तरह अभिव्यक्त स्थायी जब अन्य का अंग होता है तब 'रसालंकार' होता है, वैसे ही अभिव्यक्त ही संचारी जब भावादिक का अंग हो तब 'प्रेयान्' अलंकार होता है। ऐसी दशा में पूर्वोक्त पद्य में वाच्य स्मृति को लेकर 'प्रेयान्' अलंकार नहीं कहा जा सकता; किंतु पूर्वार्ध द्वारा अभिव्यक्त पृथिवी के विषय की रति, उत्तरार्ध द्वारा अभिव्यक्त राजा के विषय की रति का अंग हो गई है, इसे लेकर यहाँ 'प्रेयान्' अलंकार का सच्चा कहना उचित है। जैसा कि इस पद्य के विषय में मम्मट भट्ट ने कहा है कि—"यहाँ पृथिवी के विषय में होनेवाला रतिरूपी भाव राजा के विषय में होनेवाले रति-भाव का अंग है।"

अच्छा, मम्मट भट्ट को भी जाने दीजिए। पर बड़ा भारी आश्चर्य तो यह है कि आप अपने बनाए 'कुवलयानंद' नामक निबंध को भी भूल गए। उसमें स्वयं आपने भी तो लिखा है—"विभाव और अनु-भाव से अभिव्यक्त 'निर्वेद' आदिक भाव जहाँ किसी दूसरे का अंग हो जाता है वहाँ 'प्रेयान्' अलंकार होता है।" अतः आपका यह सब लेख गड़बड़ ही है।

'अलंकार-सर्वस्व' और 'अलंकाररत्नाकर' के लक्षण का विचार

और जो 'अलंकार-सर्वस्व' तथा 'अलंकाररत्नाकर' में स्मरणालंकार का लक्षण लिखा है कि—"सदृश के अनुभव से अन्य किसी वस्तु की स्मृति का नाम स्मरणालंकार है।" सो यह लक्षण भी नहीं हो सकता।

कारण, इस लक्षण की सदृश के स्मरण से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न स्मरण में अव्याप्ति है—अर्थात् स्मरण से उत्पन्न स्मरण इस लक्षण के अंतर्गत नहीं हो सकता; क्योंकि इस लक्षण में 'सदृश का अनुभव' ही लिखा गया है, स्मरण नहीं। स्मरण से उत्पन्न स्मरण का उदाहरण जैसे—

सन्त्येवाऽस्मिन् जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्॥

इस जगत् में यद्यपि बहुतेरे पक्षी रमणीय रूपवाले हैं, तथापि उनमें से मेरे हृदय पर तो सबसे अधिक प्रभाव चातकों का ही पड़ता है। जो आँखों के सामने आते ही अपने मित्र मेघ का स्मरण करवाते हैं, जिससे कृष्णनामक एक अनिर्वचनीय ब्रह्म स्मृति में आरूढ हो जाता है।

यहाँ चातक के दिखाई देने से, दो संबंधियों में से एक का ज्ञान होने के कारण दूसरे संबंधी जलधर का स्मरण हो आता है, जो कि भगवान् श्रीकृष्ण के सदृश है। उस स्मरण से भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण होता है और वह श्रीकृष्ण का स्मरण वक्ता का जो श्रीकृष्ण में प्रेम है उसका अंग हो गया है। सो इस स्मरण को स्मरणालंकार मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। पर यह उदाहरण लक्षण के अंतर्गत नहीं होता, अतः लक्षण में न्यूनता होना स्पष्ट है। हाँ, यदि 'सदृश का अनुभव' के स्थान पर 'सदृश का ज्ञान' लिख दिया जाय तो यह लक्षण भी संगृहीत हो सकता है—इसे भी मानने में कोई बाधा नहीं रहती। यह है संक्षेप।

स्मरणालंकार की ध्वनि

अच्छा, अब इस अलंकार की ध्वनि का उदाहरण सुनिए। जैसे—

इदं लताभिः स्तवकानताभिर्मनोहरं हन्त ! वनान्तरालम्।
सदैव सेव्यं, स्तनभारवत्यो न चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः।

हर्ष है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लताओं से मनोहर यह वन का मध्य-भाग सदैव सेवन करने योग्य है; किन्तु यदि स्तनों के भार से युक्त युवतियाँ हृदय हरण न कर लें।

यहाँ 'फूलों के गुच्छों' से झुकी लताओं द्वारा स्तनों के भार से युक्त युवतियों का स्मरण प्रधान है; क्योंकि वह अन्य किसी को उपस्कृत नहीं करता; यह वाक्य उस स्मरण के चमत्कार में ही समाप्त हो जाता है। और वह स्मरण व्यंग्य भी है; कारण, 'स्तनों' और 'फूलों के गुच्छों' रूपी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न साधारण धर्म के वाच्य होने पर भी उसके द्वारा सिद्ध सादृश्यमूलक स्मरण किसी शब्द से वाच्य नहीं, अतः इस पद्य को स्मरणालंकार की ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं।

रहा मूल के "युवत्यः" शब्द के विषय में यह प्रश्न कि 'युवति' शब्द ह्रस्व इकारांत है, अतः प्रथमा के बहुवचन में उसका रूप "युवतयः" होना चाहिए, "युवत्यः" नहीं; सो यह कुछ है नहीं, क्योंकि *"सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्" इस वार्त्तिक से "ङीष्" प्रत्यय कर देने पर "युवती" शब्द दीर्घांत भी हो सकता है।

---

* यु धातु से शतृप्रत्यय करने के अनंतर ङीप् प्रत्यय से भी युवती शब्द सिद्ध हो सकता है, अतः इतने क्लेश की कोई आवश्यकता नहीं। — नागेश

अथवा जैसे—

इदमप्रतिमं पश्य सरः सरसिजैर्वृतम् ।
सखे ! मा जल्प नारीणां हृदयानि दहन्ति माम् ॥

एक प्रेमी से उसके मित्र ने कहा—कमलों से भरे इस अनुपम सरोवर को देखिए। प्रेमी ने कहा—मित्र, बात न करो; (इसे देखते ही) मुझे नारियों के नयन जलाए देते हैं।

यहाँ पर कमलों के ज्ञान के वशीभूत कमलों के सदृश नेत्रों की स्मृति प्रधानतया ध्वनित होती है।

स्मरणालंकार में दोष

इस स्मरणालंकार में उपमा के जितने दोष हैं प्रायः वे सभी दोष हैं; पर स्मरणालंकार का विशेषरूपेण दोष है 'सादृश्य का किसी शब्द से प्रतिपादित होना—अर्थात् पद्य में सादृश्य के (चाहे किसी तरह) प्रतिपादक किसी शब्द का आ जाना। कारण; ऐसा नियम है कि—इस अलंकार में सादृश्य व्यंग्य ही होना चाहिए, वाच्य कभी नहीं। जैसे कि—

उपकारमस्य साधोर्नैवाऽहं विस्मरामि जलदस्य ।
दृष्टेन येन सहसा निविशते नवघनश्यामः ॥

मैं इस सज्जन जलद का उपकार भूलता ही नहीं, जो कि दिखाई देते ही नव-घन-श्याम (नवीन मेघ के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण) को उपस्थित कर देता है—वे बिना स्मरण हुए रहते ही नहीं।

यहाँ भगवान् का मेघ से सादृश्य, स्मरण के द्वारा, अपने आप प्रतीत हो रहा है। वह सादृश्य, 'घनश्याम' शब्द के प्रयोग से वाच्य-वृत्ति में लेकर कदर्थित कर दिया गया है—उसकी कक्षा कम कर दी

गई है। हाँ, यदि यहाँ "नवघनश्यामः" शब्द के स्थान पर "देवकी-तनयः" शब्द कर दिया जाय तो पद्य निर्दोष हो सकता है।

साधारणधर्म के विषय में विचार

'स्मरणालंकार' में सादृश्य के सिद्ध करनेवाले साधारण धर्म के साक्षात् ग्रहण करने और न करने की व्यवस्था उपमा की तरह ही है। जैसे कि—

१—उपमा में कहीं साधारण धर्म नियमतः व्यंग्य होता है, अतः ऐसे धर्म का साक्षात् ग्रहण कहीं भी होना ही न चाहिए, जैसे 'शंख की तरह श्वेत कांतिवाला'। यहाँ श्वेतता रूपी साधारणधर्म उपमेय के विशेषण 'कांति' का विशेषण होकर आया है। उसका यद्यपि उपमान के साथ साक्षात् संबंध नहीं है, तथापि समीपवर्त्ती होने के कारण वही उपमान का भी साधारण धर्म बन जाता है। ऐसी जगह उपमान में उसका व्यंग्य रहना ही उचित है—अर्थात् 'श्वेत शंख की तरह श्वेत कांतिवाला' यह कहना उचित नहीं।

२—'शंख के समान श्वेत' इत्यादिक में तो 'श्वेतता आदि साधारणधर्म वाच्य बनाया जाता है, पर तब, जब कि अनेक धर्मों में से यह समझना कठिन हो जाता है कि—यहाँ इसी धर्म के द्वारा सादृश्य है अथवा अन्य किसी धर्म के द्वारा, क्योंकि सर्वत्र ही उपमान और उपमेय से समानरूप में संबंध रखनेवाला 'श्लिष्ट शब्द'रूपी अथवा अन्य कोई कवि का अनभिप्रेत धर्म भी उपमा का प्रयोजक हो सकता है, न कि प्रसिद्ध धर्म ही। अतः उस अनभिप्रेत धर्म को प्रकृत उपमा का प्रयोजक न समझ लिया जाय इसलिये कवि के अभिप्रेत धर्म का ग्रहण आवश्यक हो जाता है।

अथवा जैसे 'कमल-सा सुंदर मुख' इत्यादि में 'सुंदरता' आदि

धर्म। यहाँ भी 'सुंदरता' आदि का ग्रहण केवल इसी दृष्टि से है कि इससे भिन्न धर्म उपमा का प्रयोजक न मान लिया जाय।

कहीं ऐसे सुप्रसिद्ध धर्मों को वाच्य नहीं भी बनाया जाता है—उन्हे श्रोताओं की बुद्धि पर ही छोड़ दिया जाता है; क्योंकि ऐसी जगह प्रसिद्धि के प्रबल होने के कारण वक्ता को अन्य किसी धर्म की उपस्थिति नहीं हो पाती। जैसे—'कमल-सा मुख' इत्यादि में 'सुंदरता' आदि।

३—हाँ, जो धर्म अप्रसिद्ध हो उसका साक्षात् ग्रहण आवश्यक है; अन्यथा यदि लोग उस धर्म को न समझ पाए तो कवि का उपमा बनाने का प्रयास व्यर्थ हो जायगा। जैसे—नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटाः—अर्थात् वे योद्धा मेघों के समान प्रतीत होते हैं; क्योंकि जैसे मेघ 'बलाकाराजिता' (बगुलों की पंक्ति से शोभित) हैं वैसे ही वे भी 'बलाकाराजित' (बल और आकार के कारण किसी से न जीते गए) हैं।" इत्यादि में ('बलाकाराजित' आदि) श्लिष्ट शब्द-रूपी धर्म। यदि इस धर्म को स्पष्ट शब्दों में न लिखा जाय तो लोग समझ ही न पाएँगे कि मेघों और योद्धाओं में क्या समानधर्म है। अतः ऐसे अप्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण आवश्यक है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि (उपमा में) कुछ साधारण धर्म ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण नहीं होना चाहिए, कुछ ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका ग्रहण होना ही चाहिए। यह है सहृदयों का संमत व्यवहार। यही बात स्मरणालंकार के विषय में भी समझनी चाहिए; क्योंकि इस अलंकार को भी जीवन देनेवाली उपमा ही है। सारांश यह कि—स्मरणालंकार में भी साधारणधर्म तीनों प्रकार का हो सकता है।

उपमा के साधारणधर्मों की तरह स्मरणालंकार के भी साधारण-धर्म अनुगामी आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से

अनुगामी धर्मवाले स्मरणालंकार का वर्णन "स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्" इत्यादि पद्य में किया जा चुका है और

बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाला स्मरणालंकार "भुजभ्रमित-पट्टिश......" इत्यादि पद्य में वर्णन किया जा चुका है। वहाँ 'वज्र' और 'पट्टिश तथा 'पहाड़ों' और 'हाथियों' का बिंब-प्रतिबिंब-भाव है।

उपचरित धर्म; जैसे—

क्वचिदपि कार्ये मृदुलं क्वापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते।
को न स्मरति नराधिप! नवनीतं किञ्च शतकोटिम्॥

राजन्! किसी काम में कोमल और किसी काम में कठिन आपके हृदय को देखकर कौन ऐसा मनुष्य है जो मक्खन और वज्र को याद नहीं करता।

अथवा जैसे—

अगाधं परितः पूर्णमालोक्य स महार्णवम्।
हृदयं रामभद्रस्य सस्मार पवनात्मजः॥

अगाध और चौतरफ भरे महासमुद्र को देखकर हनुमान् को भगवान् रामचंद्र के हृदय का स्मरण हो आया।

यहाँ पर 'कोमलता' आदि धर्म उपचरित (आरोपित) हैं। इन दोनों उदाहरणों में परस्पर यह विशेषता है कि—एक जगह अनुभव किए जाते हृदय में स्मरण किए जाते 'मक्खन' आदि के सादृश्य की सिद्धि हुई है और दूसरी जगह स्मरण किए जानेवाले हृदय में अनुभव

किए जानेवाले समुद्र के सादृश्य की, क्योंकि सादृश्य अनुभूयमान और स्मर्यमाण दोनों प्रकार की वस्तुओं से संबंध रखता है।

केवल शब्दात्मक धर्म; जैसे—

ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाऽहमाकर्णयामि नियमेन।
आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः।

कवि कहता है—जब मैं ऋतुराज वसंत को सुनाता हूँ कि वह 'भ्रमरहित' (भौरों का हितकारी) है; तभी भगवान् व्यास मुनि अवश्य ही मेरे स्मृति-पथ में आरूढ़ हो जाते हैं; क्योंकि वे भी भ्रम-रहित (यथार्थ ज्ञाता) हैं।

यहाँ पर 'भ्रमरहित' शब्द व्यासजी और वसंत दोनों में साधारण-धर्मरूप है।

इसी तरह सुबुद्धि पुरुषों को साधारण धर्मों के अन्यान्य भेद भी तर्कित कर लेने चाहिएँ। यहाँ तो उनकी तरफ संकेत मात्र किया गया है

इति स्मरणालंकार

———

रूपकालंकार

उपक्रम

अब जिन अलंकारों में अभेद प्रधान है उनमें से रूपकालंकार का निरूपण किया जाता है।

लक्षण

उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को आगे रखकर, शब्द द्वारा निश्चित की जानेवाली, उपमेय (मुख आदि) में उपमान (चंद्र आदि) की एकरूपता (अभेद) को रूपक' कहते हैं। वह रूपक यदि (किसी अन्य का) उपस्कारक (शोभा जनक) हो तो रूपकालंकार कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

"उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर" इस विशेषण का फल यह है कि उक्त लक्षण की अपह्नुति, भ्रांतिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि अपह्नुति में उपमेयतावच्छेक का स्वेच्छा से ही निषेध कर दिया जाता है, भ्रांतिमान् में भ्रांति के उत्पन्न करनेवाले दोष द्वारा उपमेयतावच्छेदक का ज्ञान रोक दिया जाता है और अतिशयोक्ति और निदर्शना का मूल साध्यवसाना लक्षणा है (जिसमें उपमेयतावच्छेदक का आगे रखना बन नहीं सकता) अतः इनमें उपमेयतावच्छेदक का पुरस्कार नहीं होता।

"शब्द के द्वारा" इस विशेषण का फल यह है कि—जब हम मुख को प्रत्यक्ष देखने के समय 'यह मुख चंद्रमा है' इस तरह का आहार्य (बाधित जानते हुए कल्पित) निश्चय करें, तब उस निश्चय में आने-

वाली मुख के साथ चंद्रमा की एकरूपता से रूपक का भेद हो गया; क्योंकि वह एकरूपता शब्द के द्वारा निश्चित नहीं, किंतु इच्छा और इंद्रिय के द्वारा निश्चित हुई है।

"निश्चित की जानेवाली" इस विशेषण का फल यह है कि—'मुख मानो चंद्र है' इस संभावनारूप उत्प्रेक्षा का निवारण हो जाता है; कारण, इस वाक्य में चंद्रमा से एकरूपता का निश्चय नहीं, किंतु संभावना है।

लक्षण में जो 'उपमान' 'उपमेय' शब्द आए हैं, उनसे सादृश्य प्राप्त हो जाता है, इस कारण "मनोरम रमणी मुख है" इत्यादि शुद्ध (बिना सादृश्य के) आरोप में आनेवाली एकरूपता की निवृत्ति हो जाती है।

आप कहेंगे—और सब तो ठीक; पर इस शुद्ध आरोपवाली एकरूपता को हटाने की क्या आवश्यकता? इसे रूपक मानने में क्या आपत्ति है? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—सादृश्यमूलक ही एकरूपतारूपक कहलाती है, अन्यथा नहीं। अतएव तो कहते हैं कि—

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। (मम्मट)

अर्थात् जो उपमान और उपमेय का अभेद है वही रूपक है।" और

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। (दंडी)

अर्थात् उपमा में से ही जब 'भेद' हटा दिया जाता है, तब वह रूपक कहलाने लगती है।"

तात्पर्य यह कि—भेद और अभेद दोनों को लिए हुए सादृश्य उपमा कहलाता है और जहाँ उसमें से भेद हटा दिया जाय—केवल अभेद रह जाय, वहाँ रूपक हो जाता है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सादृश्यमूलक अभेद का ही नाम रूपक है, अतः शुद्ध अभेद को रूपक न मानना उचित है।

अभेद किन-किन रूपों में आता है

यह सादृश्यमूलक अभेद काव्यों में तीन प्रकार से आया करता है—संबंधरूप से, विशेषणरूप से और विशेष्यरूप से। जहाँ उपमान और उपमेय दोनों एक विभक्ति में आवें वहाँ यह अभेद 'संबंधरूप' से रहता है और अन्यत्र किसी शब्द के अर्थरूप में आता है, अतः कहीं विशेषणरूप से रहता है और कहीं विशेष्यरूप से। इसका विवेचन आगे उदाहरणों में किया जायगा।

'रत्नाकर' का खंडन

'रत्नाकर' ने लिखा है—"सादृश्य के कारण अथवा अन्य किसी संबंध के कारण भिन्न पदार्थों की समानाधिकरणता (एक विभक्ति में आना आदि) का सभी निरूपण रूपक कहलाता है। अर्थात् जहाँ कहीं दो भिन्न पदार्थों को अभेद संबंध से आए देखो वहाँ रूपक समझ लो। कारण, ऐसे सभी अभेदों का मूल सारोप लक्षणा है। वह जैसी सादृश्यमूलक अभेद में होती है वैसी ही अन्य-संबंध-मूलक अभेद में होती है। उसके समान होने के कारण सादृश्यमूलक अभेद की तरह अन्य-संबंध-मूलक अभेद भी यहाँ (रूपक में) लिया जाना चाहिए। इस कारण प्राचीनों का यह दुराग्रह ही है कि—'उपमान और उपमेय के अभेद का नाम ही रूपक है, कार्य-कारण के अभेद का नहीं।"

'रत्नाकर' का यह कथन ठीक नहीं। कारण, एक तो ऐसी दो भिन्न पदार्थों की समानाधिकरणता अपह्नुति आदि में भी होती है, अतः आपके लक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। दूसरे, आपने ही पहले लिखा है कि—"सादृश्यमूलक स्मरण का नाम स्मरणालंकार है, चिंतादिमूलक स्मरण का नहीं।" अब आप जरा सोचिए कि—यदि

आप सादृश्यमूलक न होने पर भी कार्य-कारण में कल्पित तादृप्य को रूपक मानते हैं, तो फिर जिसका मूल सादृश्य न हो, किंतु चिंतादिक हो उस स्मरण की भी अलंकारता आपको स्वीकृत होना उचित है। आप कहेंगे—ऐसा करने से स्मरण को जो 'भाव' रूप बनाया जाता है, उसके लिये कोई स्थान न रहेगा। सभी स्मरण तो अलंकार-रूप हो गए, फिर भावरूप स्मरण कहाँ से आवेगा? पर यह ठीक नहीं। कारण, 'भाव' होने के लिये व्यंग्य स्मरण विद्यमान है। अर्थात् ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं कि व्यंग्य स्मरण 'भाव' कहलाता है और वाच्य स्मरण अलंकार। फिर आप चिंतादिमूलक स्मरण को स्मरणालंकार क्यों नहीं मानते? अब यदि आप कहें कि—ऐसा मानना संप्रदाय-विरुद्ध है, तो फिर रूपक में भी वही बात है। जो अभेद सादृश्यमूलक न हो उसे रूपक मानना भी संप्रदाय-विरुद्ध है। अतः बिना सोचे-समझे प्राचीनों की परिपाटी में अड़ंगा लगाना अच्छा नहीं।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने लिखा है—

"बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥

अर्थात् जब विषयी (उपमान), बिंब (जिसके प्रतिबिंब रूप से उपमान का विशेषण आवे ऐसे उपमेय के विशेषण) से रहित, विषयि-बोधक से भिन्न शब्द द्वारा बोधित, और न छिपाए गए विषय (उपमेय) का उपरंजक बनता है तब रूपक होता है।

यहाँ, 'बिंब से रहित' इस विषय के विशेषण से

'त्वत्पादनख-रत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥

रत्न-सदृश आपके चरण-नखों का जो अलते (महावर) से साफ करना (रँगना) है यह चंदन के लेप से चंद्रमा का श्वेत बनाना है।

इस निदर्शना की निवृत्ति हो जाती है क्योंकि यहाँ 'साफ करना' रूपी विषय 'अलता' आदि बिंब से युक्त है।

'भिन्न शब्द के द्वारा बोधित' इस विशेषण से जिसमें विषय का विषयी के द्वारा ही ग्रहण रहता है, अलग नहीं, उस

'कमलमनम्भसि, कमले च कुवलये, तानि कुमुदतिकायाम्।

बिना जल के कमल (मुख) है, कमल में दो कुमुद (आँखें) हैं और वे सब एक सोने की लता (सुंदरी) में हैं।' इत्यादि अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि अतिशयोक्ति में विषय 'भिन्न शब्द से बोधित' नहीं रहता, किंतु विषयी के अंदर घुसा रहता है।

'उपरंजक बनता है' इसका अभिप्राय है 'ताद्रूप्य के आहार्य निश्चय का विषय होना—अर्थात् वस्तुतः वैसा न होना जानते हुए भी स्वेच्छया वैसा कल्पित कर लेना'। इससे ससंदेह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम और भ्रांतिमान् अलंकारों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति निवृत्त हो जाती है। कारण, ससंदेह और उत्प्रेक्षा में तो निश्चय ही नहीं होता—वहाँ तो संदेह और संभावना ही रहती है, समासोक्ति में केवल व्यवहार का आरोप होता है—विषयी का नहीं, और परिणाम में विषयी (उपमेय) ही विषय (उपमान) के ताद्रूप्य का विषय होता है, न कि विषय विषयी के ताद्रूप्य का—अर्थात् रूपक से बिलकुल विपरीत होता है; अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। रहा 'भ्रांतिमान्' सो उसमें प्रवृत्ति (काम करने लगने) तक भी विद्यमान अथवा कल्पित भ्रम का ही वास्तविक वर्णन होता है, अतः उस ताद्रूप्य के निश्चय को आहार्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसका बाध कवि को अभीष्ट नहीं—वह तो

उसे ज्यों का त्यों ही रखना चाहता है। अतः यह लक्षण बिलकुल ठीक है।"

पर ऐसा नहीं है। प्रथम तो "त्वत्पादनखरत्नानाम् (पृ० १९६)" इत्यादि पद्य में लिखी निदर्शना की निवृत्ति के लिये जो आपने उपमेय को 'बिंबरहित' विशेषण दिया है सो युक्तिरहित ही है। कारण, यहाँ "मुखचंद्र" आदि अन्य रूपकों के समान श्रौत (शब्दप्रतिपादित) आरोप होने पर भी यदि यह कहा जाता है कि 'यह रूपक नहीं, किंतु निदर्शना है' तो फिर 'मुखचंद्र' इसे भी निदर्शना ही कहिए और रूपक की मर्यादा रखने के लिये लगाई लँगोटी दूर हटाइए अन्य सब अलंकारों को भी आनंद से उसके दायरे में ला घुसाइए। जब इस उदाहरण और उस उदाहरण में कुछ भी भेद नहीं तब यहाँ निदर्शना कैसे है सो आप ही जानें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिये यदि यही मान लिया जाय कि "त्वत्पादनखरत्नानाम्..." इस प्रद्य में निदर्शना ही है, तो हम आप से पूछते हैं कि यहाँ 'पदार्थ-निदर्शना' है अथवा 'वाक्यार्थनिदर्शना।' यदि आप यहाँ 'पदार्थनिदर्शना' बतावें तो यह संभव नहीं; क्योंकि वह वहीं होती है जहाँ एक पद के अर्थ का अन्य पद के अर्थ में आरोप किया जाय। सो यहाँ है नहीं। कारण यहाँ तो बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न पदार्थों से बने वाक्यार्थों का ही अभेद प्रतीत होता है। और न 'कुवलयानंद' के 'निदर्शना-प्रकरण' में आपके बताए मार्ग के अनुसार कि—"किसी पद के अर्थरूप धर्मी में अन्य पद के अर्थ रूपी धर्म के भेद से आरोप को 'पदार्थ निदर्शना' कहते हैं" वही निदशना है, क्योंकि यहाँ किसी धर्मी में धर्मका भेद से आरोप नहीं, किंतु दो भिन्न-भिन्न धर्मों के अभेद का वर्णन है।

अब यदि 'वाक्यार्थ-निदर्शना मानो तो वह भी नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसा मानने से वाक्यार्थरूपक का उच्छेद हो जायगा—उस

बेचारे को कहीं जगह न रहेगी। यदि आप यह स्वीकार करें कि—हम 'वाक्यार्थ-रूपक' नहीं मानते, तो हमें भी यह कहने में क्या आपत्ति होगी कि—हम 'वाक्यार्थ-निदर्शना' नहीं मानते। आप कहेंगे—यह तो आपका अड़ंगा हुआ—आपने कोई व्यवस्था तो बताई नहीं। सो यह बात भी नहीं, क्योंकि हम निदर्शना-प्रकरण में यह मार्ग बनानेवाले हैं कि—एक तो रूपक में अभेद श्रौत होता है और निदर्शनामें अर्थप्राप्त और दूसरे रूपक उद्देश्य-विधेय-भाव का स्पर्श करता है—उसमें एक का उद्देश्य और दूसरे का विधेय होना स्पष्ट दिखाई देता है, पर निनर्शना में उद्देश्य-विधेय-भाव नही होता। इस तरह सब व्यवस्था बन जाती है। अतः यहाँ वाक्यार्थ-रूपक ही है, वाक्यार्थ-निदर्श नहीं। यदि वाक्यार्थ-निदर्शना का उदाहरण बनाना है तो इस पद्य को यों बनाइए—

त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति पावकैः।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥

जो मनुष्य रत्नसदृश आपके चरण-नखों को अलते से रँगता है वह चंदन के लेप से चंद्रमा को श्वेत बनाता है।

यहाँ यद्यपि कर्त्ताओं का अभेद शब्द से प्रतिपादित है तथापि क्रियाओं का अभेद वैसा नहीं है और उसी के ऊपर सारा भार है—वाक्यार्थ का पर्यवसान वहीं जाकर होता है, अतः यहाँ निदर्शना ही है।

अब कदाचित् आप यह कहें कि—यदि "त्वत्पादनखरत्नानाम् (पृ० १९९)" यह उदाहरण निदर्शना में न होता तो अलंकारसर्वस्वकार इस उदाहरण को उस प्रकरण में क्यों लिखते? तो हम कहते हैं—बहुत ठीक, उन्होंने आपको धोखा दिया है। आप तो प्रामाणिक पुरुष ठहरे, अतः बिना किसी के कहे आप थोड़े ही कहते

हैं—आपकी पुस्तकों में तो दूसरे की नकलमात्र रहती है, अपने-आप तो कुछ सोचते-विचारते हैं नहीं; सो उनकी भ्रान्ति को आपने भी रगड़ मारा। अतः यह कुछ उत्तर नहीं हुआ।

दूसरे, आपने जो यह लिख मारा है कि—"रूपक में बिंब-प्रतिबिंब-भाव नहीं है" सो भी भ्रांति से ही लिखा है। आप अलंकार-सर्वस्व की टीका 'विमर्शिनी' में दिया गया बिंब-प्रतिबिंब-भाव से रूपक का उदाहरण, लीजिए—

"कन्दर्पद्विप-कर्ण-कम्बुमलिनैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं
संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रतेः।
व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संछाद्यमानोदरं
पश्यैतच्छशिनः सुधा-सहचरं बिम्बं कलङ्काङ्कितम्॥

चंद्रोदय का वर्णन है। नायक नायिका से कहता है—मद के मलिन जलों से चिह्नित—शंख-सा (श्वेत)—कामदेव के हाथी का कान, जिसमें अंजन-समूह की कालिमा का अंश लग गया है ऐसा रति (कामदेव की स्त्री) का गल-तकिया और जिसका भीतरी भाग भौंरों से आच्छादित है वह आकाशवृक्ष के पुष्पों का गुच्छ, ऐसा सुधा का साथी (एकदम श्वेत) और कलंक से अंकित यह चंद्रबिंब देखिए।'

और साथ ही वहाँ यह लिखा है कि—"यहाँ 'कलंक' और 'मद जल' आदि पदार्थों में बिंबप्रतिबिंब-भाव बनाया गया है और 'चिह्नित' तथा 'अंकित' पदार्थों की शुद्ध समानरूपता (वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव) है।"

इसलिये इस समय इस विषय को छोड़िए—इतना सब कह देने के बाद इस विषय पर अधिक बल लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

यह तो हुआ आपके लक्षण में लिखे "बिंब से रहित" इस विशेषण पर विचार। अब "भिन्न शब्द द्वारा बोधित" इस विशेषण को लीजिए। इस विषय में हम आपसे पूछते हैं कि "शब्द द्वारा बोधित" कहने से आपका क्या अभिप्राय है? 'चाहे किसी रूप में शब्द द्वारा बोधित हो गया हो' यह, अथवा 'उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) के रूप में शब्द से उच्चारित (बोधित) हो' यह? यदि आप पहला पक्ष स्वीकार करें—अर्थात् 'चाहे किसी रूप में शब्द द्वारा उच्चारित (बोधित) हो' यह अर्थ समझें, तब तो आपके लक्षण की "सुन्दरं कमलं भाति लतायामिदमद्भुतम्—लता में यह अद्भुत और सुंदर कमल सुशोभित हो रहा है।" इस (रूपकातिशयोक्ति) में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि यहाँ "सुंदर" पद के द्वारा 'सुंदरत्व' रूप से (क्योंकि 'सुंदरत्व' का संबंध लक्ष्य अर्थ—मुख—के साथ भी है) और "(इदम्=)यह" पद से उपमेय–मुख–का प्रतिपादन हो रहा है। यदि आप कहें कि यहाँ 'सुंदर' पद के अर्थ का आरोप किए जानेवाले—कमल—में ही अन्वय है, मुखरूपी उपमेय में नहीं, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि यहाँ 'कमल' पद से, लक्षणा द्वारा, कमल के रूप में प्रधानरूप से मुख की ही उपस्थिति होती है—अर्थात् यहाँ 'कमल' शब्द का अर्थ केवल कमल नहीं, किंतु कमलरूप मुख है। अतः 'सुंदर' आदि पदार्थों का अन्वय मुख में ही होना उचित है, विशेषण रूप बने हुए कमल में नहीं।

अब यदि आप कहें कि—"जिस किसी रूप में शब्द से उच्चारित उपमेय को उद्देश्य बनाकर उसमें जहाँ उपमान की एकरूपता का विधान किया जाय" यह भी हमारे लक्षण का वाक्यार्थ है—अर्थात् 'उपमेय का उद्देश्य होना और उपमान का विधेय होना' भी हमारे लक्षण में सम्मिलित है और प्रकृत उदाहरण में 'सुंदरता' से अवच्छिन्न

(मुख आदि) को उद्देश्य करके उसमें कमल की एकरूपता का विधान किया नहीं गया है, इसलिये अतिव्याप्ति न होगी, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, "मुखचन्द्रवस्तु सुन्दरः—मुखचंद्र सुंदर है" इत्यादि रूपक में अव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनों के लिये अलग - अलग विभक्तियाँ नहीं आई हैं और बिना अलग-अलग विभक्ति के—अर्थात् समासांतर्गत पदों में—उद्देश्य-विधेय-भाव हो नहीं सकता ; क्योंकि उद्देश्य विधेय होने के लिये भिन्न विभक्ति का होना आवश्यक है। अतः यों मानने पर भी आपका छुटकारा नहीं ।

अब यदि आप दूसरा पक्ष लें—अर्थात् "शब्द द्वारा उच्चारित" का अर्थ 'उपमेयतावच्छेदक रूप से शब्द द्वारा उच्चारित' यह मानें; तो "न छिपाए गए" इस उपमेय के विशेषण की व्यर्थता होगी; क्योंकि अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) का निषेध रहता है—उसमें स्पष्ट लिखा रहता है कि "यह मुख नहीं किंतु चंद्र है"; सो वहाँ उपमेय के उपमेयतावच्छेदक रूप से शब्द द्वारा उच्चारित न होने से ही लक्षण नहीं जाता, फिर "न छिपाए गए" यह विशेषण किस मर्ज की दवा है ? दूसरे जो आपने "उपरंजक बनता है" की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "ताद्रूप्य के आहार्य निश्चय का विषय होना" सो यहाँ 'निश्चय' का विशेषण 'आहार्य्य' भी व्यर्थ हो जायगा। यह विशेषण आपने भ्रांतिमान् अलंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया है पर वहाँ एक प्रकार के दोष (भ्रांति) द्वारा रोक दिए जाने के कारण उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श ही नहीं है—यदि उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श हो जाय तो फिर भ्रम ही काहे का ? अतः वह अर्थ मानने से आपका एक लक्षणवाला और एक व्याख्या वाला यों दो विशेषण व्यर्थ हुए जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि आपको वह अर्थ अभीष्ट नहीं ।

इतने पर भी यदि "शब्द द्वारा उच्चारित" का पूर्वोक्त द्वितीय अर्थ मान ही लिया जाय, तथापि "कुवलयानंद" में आपकी बताई

"नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी-मुखम् ।

अर्थात् यह (सामने दिखाई देनेवाला चंद्रमा) चंद्रमा नहीं है। तो चंद्रमा क्या है ? प्रियतमा का मुख।"

इस अपह्नुति में आपके लक्षण की अतिव्याप्ति हुए बिना न रहेगी। क्योंकि यहाँ 'चंद्रमा' (उपमान) में चंद्रत्व (उपमानतावच्छेदक) का निषेध होने पर भी आरोप का विषय (उपमेय) जो मुख है, वह नहीं छिपाया गया है। सो यहाँ उपमेय के उपमेयतावच्छेदक रूप से शब्द द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण, आपके लक्षणानुसार, अपह्नुति नहीं, किंतु रूपक होना चाहिए और आप यह तो कह नहीं सकते कि— पूर्वोक्त कुवलयानंद के उदाहृत पद्य में रूपक ही है; क्योंकि आप ही की उक्ति का विरोध होता है। सारांश यह कि—यद्यपि "शब्द द्वारा उच्चारित" विशेषण का द्वितीय अर्थ मानने पर काम बन सकता था तथापि आपका पिंड नहीं छूट सकता; क्योंकि आपने कुवलयानंद में अपह्नुति का एक मिथ्या उदाहरण देकर आफत बटोर ली है।

और जो आपने यह लिखा है कि—"इसी में यदि 'अव्यंग्य' विशेषण और बढ़ा दें तो यही लक्षण अलंकार-रूप रूपक का हो जायगा", सो भी उचित नहीं। कारण, 'व्यंग्य होने' और 'अलंकार होने' में परस्पर विरोध नहीं है—अर्थात् ऐसा कोई नियम नहीं कि जो व्यंग्य हो वह अलंकार न हो। रही प्रधान रूपक में अतिव्याप्ति न होने की बात; सो उसके लिये 'उपस्कृत करनेवाला।' विशेषण की आवश्यकता है, न कि 'व्यंग्य न हो' इस विशेषण की, जैसा कि हम बार-बार कह चुके हैं। अतः अप्पयदीक्षित का यह लक्षण गड़बड़ ही है।

'काव्य-प्रकाश' के लक्षण पर विचार

प्राचीनों (काव्यप्रकाशकारादिकों) ने लिखा है—

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अर्थात् उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक कहा जाता है" सो यह भी विचारणीय है, क्योंकि अपह्नुति आदि में उपमान-उपमेय का अभेद अनुभव-सिद्ध है, अतः उन अलंकारों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि आप कहें कि—लक्षण की "उपमान और उपमेय का अभेद" इस उक्ति से यह अर्थ कि "उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को आगे रखकर उसमें उपमानतावच्छेदक (चंद्रत्व आदि) से अवच्छिन्न (चंद्र आदि) का अभेद" प्राप्त हो जाता है और अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का पुरस्कार होता नहीं (क्योंकि उपमेय का निषेध होता है), अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। सो भी नहीं। कारण, ऐसी दशा में भी 'नूनं मुखं चन्द्रः—मुख मानो चंद्र है' इत्यादिक उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को आगे रखकर ही मुख आदि का निरूपण होता है, अपह्नुति की तरह उसका निषेध नहीं किया जाता।

आप उत्तर देंगे—"प्रकृतं यन्निषिध्याऽन्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः—अर्थात् उपमेय का निषेध करके उसे उपमान सिद्ध करना अपह्नुति कहलाता है।" और "संभवानमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्—अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में संभावना उत्प्रेक्षा कहलाती है।" (तात्पर्य यह कि (अभेद होने पर भी) जहाँ निषेध हो वहाँ अपह्नुति होती है और जहाँ संभावना हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है, इत्यादि स्पष्ट लिख दिया गया है; अतः अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि रूपक के बाधक हैं। वे जिन-जिन विषयों (निषेध, संभावना आदि) को ले

लेंगे, उनसे अतिरिक्त 'मुख चंद्र है' इत्यादिक (केवल अभेद) रूपक का विषय होगा। जैसे—यज्ञ के समय 'कुश का बर्हि होना चाहिए' ऐसा लिखा है, पर जब अभिचार (मारणादिक) करना हो तब 'सरकंडे का बर्हि होना चाहिए' यह लिखा है; ऐसी जगह 'सरकडे के बर्हि' का विषय छोड़कर अन्यत्र 'कुश का बर्हि' होता है। अथवा जैसे—व्याकरण में जहाँ 'च्लि' को 'क्स' आदेश होता है, उसे छोड़कर अन्यत्र 'सिच्' आदेश होता है। कारण, 'सरकंडे का बर्हि' और 'क्स' आदेश क्रमशः 'कुश के बर्हि' और 'सिच्' के बाधक हैं—जहाँ वे होंगे वहाँ ये नहीं हो सकते। लोक में भी हम देखते हैं; जैसे—'ब्राह्मणों को दही देना और कौंडिन्य को तक्र' यह कहने पर यह सिद्ध हो जाता है कि जिसे तक्र देना है उससे अतिरिक्तों को दही दिया जायगा। ठीक वही बात यहाँ है—अर्थात् जहाँ निषेध अथवा संभावना वाला अभेद होगा वहाँ अपह्नुति और उत्प्रेक्षा होगी और जहाँ केवल अभेद होगा वहाँ रूपक। अतः उपर्युक्त शंका कुछ नहीं।

हम कहते हैं—आपके दृष्टांत विषम हैं—दृष्टांतों वाली बात यहाँ फिट् नहीं बैठती। बात यह है—(आपके दृष्टांतों में) विशेष शास्त्र (विशेष विधान) इस बात को समझाता है कि—सामान्य शास्त्र (सामान्य विधान) का विषय अपने विषय से अतिरिक्त है—अर्थात् जहाँ विशेष शास्त्र न लगे वहाँ सामान्य शास्त्र लगता है। इस बात के मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं। पर प्रकृत में यह बात नहीं। यहाँ लक्षण रूपक का धर्म है—अर्थात् एक विशेष वस्तु है। वही धर्म यदि उत्प्रेक्षादिक में हो तो उसे उस विषय से हटाकर दूसरे विषय को समझायेगा कौन ?—अर्थात् यहाँ रूपक नहीं है और उत्प्रेक्षा ही है यह बात कैसे सिद्ध की जा सकेगी, क्योंकि विशेष धर्म सामान्य धर्म को हटाकर रहता हो—यह बात नहीं होती। उदाहरण के लिए;

जैसे—'घटत्व' घड़े का धर्म है; वह घड़े में से 'पृथिवीत्व' अथवा 'द्रव्यत्व' धर्म को निकालकर अन्य विषय (केवल घटत्व) को समझा देने का सामर्थ्य नहीं रखता—घड़े में 'घटत्व के होने से कोई यह नहीं कह सकता कि इसमें 'पृथिवीत्व' अथवा 'द्रव्यत्व' धर्म नहीं है। सो अपह्नुति और उत्प्रेक्षा में निषेध और संभावना को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि यहाँ अभेद नहीं है और यदि अभेद है तो उनमें आपको रूपक भी मानना पड़ेगा; क्योंकि आपके लक्षणानुसार जहाँ उपमान और उपमेय का अभेद होगा वहाँ रूपक होगा ही। अतः इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है।

आप कहेंगे—उत्प्रेक्षा तो संभावनारूप है और रूपक है अभेदरूप; फिर 'अभेद होना' जो रूपक का लक्षण है उसकी उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी कैसे? वे तो सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। हम कहते हैं—जब उत्प्रेक्षा में संभावना और अभेद दोनों पाए जाते हैं तो जैसे आप अभेद से युक्त संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं वैसे हम संभावना से युक्त अभेद को उत्प्रेक्षा कहेंगे। इसमें कोई प्रमाण तो है नहीं कि संभावना को ही प्रधान माना जाय और अभेद को गौण।

दूसरे, रूपक का ऐसा लक्षण बनाने से आपको एक आपत्ति और उठानी पड़ेगी। उत्प्रेक्षा में उपमेय के अभेद के हिसाब से रूपक का और संभावना के हिसाब से उत्प्रेक्षा का—इस तरह दो अलंकारों का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि आप दोनों में से एक का भी व्यवहार हटा नहीं सकते।

अब यदि आप कहें कि—हम अभेद के साथ 'निश्चित किया जानेवाला' विशेषण और लगा देंगे, अतः संभावना आदि वाला अभेद रूपक न कहा जा सकेगा, तो जो कुछ हम कह रहे हैं अंत में आप भी वहीं आ पहुँचे। बस, खतम मामला।

रूपक के भेद

रूपक के प्रथमतः तीन भेद हैं—सावयव, निरवयव और परंपरित। सावयव रूपक दो प्रकार का है—समस्त-वस्तु-विषय और एकदेशविवर्त्ती। निरवयव रूपक भी दो प्रकार का है—केवल रूपक और माला रूपक। परंपरित रूपक चार प्रकार का है—केवल श्लिष्ट परंपरित, मालारूप श्लिष्ट परंपरित, केवल शुद्ध परंपरित और मालारूप शुद्ध परंपरित। इस तरह रूपक आठ प्रकार का कहा जाता है।

१—सावयव रूपक

लक्षण

जिन रूपकों के सिद्ध करने में एक दूसरे की अपेक्षा हो—ऐसे रूपकों के समूह का नाम 'सावयव रूपक' है।

समस्त-वस्तु-विषय का लक्षण

जिस सावयव रूपक में सब उपमान शब्द द्वारा प्रतिपादित हों—किसी को अर्थतः आक्षिप्त न करना पड़े—वह समस्त-वस्तु-विषय कहलाता है।

एकदेसविवर्त्ती का लक्षण

जिस सावयव रूपक में, किसी अवयव में उपमान शब्दतः प्रतिपादित हो और कहीं अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता हो, वह 'एकदेशविवर्त्ती कहलाता है। यह रूपक एकदेश—अर्थात् जहाँ उपमान का शब्दतः ग्रहण न हो उस अवयवभूत रूपक—में अपने स्वरूप को छिपाए रहता है; अतः उसकी स्थिति अन्यथा—अर्थात् जिनमें शब्दतः उपमान लिखा गया हो उन रूपकों से भिन्न—होती है, अतः एकदेशविवर्त्ती है। अथवा यों कहिए कि—यह रूपक एक देश में—अर्थात् जहाँ शब्दतः उपमान का ग्रहण हो वहाँ—विशेष रूप से स्पष्टतया वर्त्तमान रहता है—अन्यत्र अस्पष्ट रूप से, अतः इसे 'एकदेशविवर्त्ती' कहा जाता है।

उदाहरण

समस्त-वस्तु-विषय सावयव रूपक; जैसे—

सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे ।
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकाऽसि नाऽत्र संदेहः ॥

हे सुंदरि ! तू पूरे चंद्रमावाली पूर्णिमा है—इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि तेरे अंदर अत्यंत निर्मल मोती तारे हैं, सफेद साड़ी-रूपी चाँदनी का चमत्कार है और मुख परिपूर्ण चंद्रमा है ।

रूपक की विधेयता और अनुवाद्यता

सावयव रूपक समूह-रूप होता है । यद्यपि उसके सभी अवयवों का परस्पर समर्थित होना अथवा समर्थित करना समान होता है; क्योंकि सभी को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है; अतः उनमें से किसी को समर्थ्य और किसी समर्थक नहीं कहा जा सकता, तथापि इस पद्य में कवि को पूरे चंद्रमावाली पूर्णिमा के रूपक का ही समर्थ्य होना अभिप्रेत है—अर्थात् अन्य रूपकों द्वारा कवि इसी रूपक का समर्थन करना चाहता है । सो, इस दृष्टि से, इस पद्य में पूर्णिमा का रूपक समर्थ्य—अर्थात् प्रधान—है और अन्य रूपक समर्थक—अर्थात् अंगभूत—हैं ।

ऐसी दशा में, समर्थक रूपकों के अनुवाद्य होने पर भी, क्योंकि उनके उपमान-उपमेयों में पृथक् विभक्तियाँ नहीं सुनाई देतीं, समर्थ्य रूपक के विधेय होने के कारण, क्योंकि वहाँ उपमान उपमेयों में पृथक् विभक्तियाँ सुनाई देती हैं, समर्थ्य रूपक को लेकर समूह-रूप सावयव रूपक को भी यहाँ विधेय माना जाता है । जैसे योद्धाओं के समूह के अंतर्गत किसी मुख्य योद्धा के जय अथवा पराजय द्वारा योद्धाओं के

समूह का जय अथवा पराजय समझ लिया जाता है। सारांश यह कि—सावयव रूपक में सामर्थ्य रूपक विधेय होने से समग्र सावयव रूपक को विधेय माना जाता है और उसके अंग रूप रूपकों के अनुवाद्य होने की कोई परवा नहीं की जाती।

"व्योमाङ्गणे सरसि नीलिमदिव्यतोये
तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन्।
आभाति षोडशकलादलमङ्कभृङ्गं
सूराभिमुख्यविकचं शशिपुण्डरीकम्।

गगनांगण सरोवर है। इसमें नीलापन दिव्य जल है। यह सरोवर तारावली-रूपी (कमलों की) डोड़ियों (अविकसित पुष्पों) सुशोभित है और इसमें सूर्य के सम्मुख होने के कारण खिला हुआ चंद्रमा रूपी श्वेत-कमल शोभित हो रहा है, जिसकी सोलह कलाएँ पँखुड़ियाँ हैं और कलंक भौंरा है।

यह सावयव रूपक अनुवाद्य ही है; क्योंकि यहाँ समर्थ्य रूपक 'शशिपुंडरीक' में भी उपमान-उपमेयों में पृथक् विभक्तियाँ नहीं हैं। इस पद्य में वर्णनीय पूर्ण-चंद्रमा का सूर्य के सम्मुख होना—अर्थात् पूर्णिमा के दिन सूर्य के सामने आना—ज्यौतिषशास्त्र से सिद्ध है; अतः यह शंका न करिएगा कि सूर्य के सम्मुख रहने पर चंद्रमा का विकास कैसे होगा?

एकदेशविवर्त्ती सावयव रूपक; जैसे—

भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसंतप्तवपुषो
बलादुन्मील्य द्राङ् निगडमविवेकव्यतिकरम्।

विशुद्धेऽस्मिन्नात्मामृतसरसि नैराश्य-शिशिरे
विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः ॥

संसार उष्णकाल की तेज धूप है। उसके समूह से शरीर को तपाए हुए पुण्यवान् पुरुष, अविवेक के बखेड़े रूपी बेड़ी को, बलात्, तत्काल तोड़कर, आशा-रहितता के कारण शीतल और अत्यंत शुद्ध इस आत्मा-रूपी अमृत-सरोवर में पापसमूह (मलिनता) को नष्ट करके गोते लगाते हैं।

यहाँ 'बेड़ी' आदि सार्थी रूपकों द्वारा सुकृतियों में गज का रूपक आक्षिप्त किया जाता है। (तात्पर्य यह कि—गज का रूपक यहाँ शब्दतः प्रतिपादित नहीं है—अर्थाक्षिप्त है, अतः यह रूपक एकदेशविवर्त्ती है।)

अथवा जैसे—

रूप-जला चलनयना नाभ्यावर्त्ता कचावलि-भुजङ्गा।
मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणी तरङ्गिणी विषमा ॥

यह युवती वह विषम नदी है जिसमें सज्जन डूब जाते हैं। इसमें रूप जल है, चंचल नेत्र हैं, नाभि आवर्त्त है और केशों की पंक्ति सर्प है।

पहले पद्य में जिसे कवि सामर्थ्य मानता है उस गज के रूपक का आक्षेप है; और इस पद्य में समर्थक माने हुए चंचल नेत्रों में मीन-रूपक का आक्षेप है। (तात्पर्य यह कि—सामर्थ्य अथवा समर्थक दोनों रूपकों में से किसी भी प्रकार के रूपक का आक्षेप होने पर एकदेश-विवर्त्ती रूपक होता है—उनमें से सामर्थ्य के आक्षेपवाले रूपक का उदाहरण है प्रथम पद्य समर्थक के आक्षेपवाले रूपक का उदाहरण है दूसरा पद्य।)

रूपकों का समूह भी रूपकालंकार कहला सकता है

यद्यपि सावयव रूपक रूपकों का समूहरूप है, तथापि उसमें एक

विशेष प्रकार का चमत्कार होने के कारण, उसे रूपकालंकार के भेदों की गिनती में (अर्थात् एक पृथक् भेद) गिना जाता है। जैसे यदि कोई मोती के गहने गिनने बैठे तो वह जैसे नक-बेसर के एक मोती को एक गहना गिनता है वैसे ही 'मौक्तिक-मञ्जरी' आदि मोतियों के समूह-रूप गहनों को भी मोती का गहना गिनेगा, अन्यथा 'मालोपमा' आदि को भी उपमा के भेद गिनते समय न गिना जा सकेगा; क्योंकि वे भी समूह-रूप हैं। अतः जो यह शंका की जाती है कि—"जैसे गायों के भेद—कपिला आदि—के गिनते समय गायों का झुंड उनकी गिनती में नहीं गिना जाता, वैसे ही रूपकों के भेदों की गणना प्रस्तुत होने पर रूपक के समूह रूप 'सावयव रूपक' को गिनना उचित नहीं" सो उड़ गई।

सावयवरूपक और मालारूपक का भेद

इसी तरह सावयव रूपक भी समूह रूप है और माला रूपक भी, अतः इस रूप से इनमें विशेषता न होने पर भी, परस्पर भेद है।

२—निरवयव रूपक

निरवयव केवल रूपक, जैसे—

बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते॥

संसार में ज्ञान दीपक की लौ है, जिसके द्वारा सब प्रकाशित होता है और अज्ञान अँधेरी रात है, जिसके कारण कुछ नहीं सूझ पाता।

यहाँ दो रूपक हैं—'ज्ञान का दीपक की लौ होना' और 'अज्ञान का अँधेरी रात होना'। दोनों 'परस्पर सापेक्ष रूपकों के समूह रूप' न होने से निरवयव हैं और मालारूप (अर्थात् एक उपमेय में अनेक रूपक) न होने से केवल हैं।

निरवयव मालारूपक; जैसे—

> धर्मस्याऽऽत्मा भागधेयं क्षमायाः
> सारः सृष्टेर्जीवितं शारदायाः ।
> आज्ञा साक्षाद् ब्रह्मणो वेदमूर्त्ते-
> राकल्पान्तं राजतामेष राजा ॥

यह राजा धर्म का आत्मा है, क्षमा का भाग्य है, सृष्टि का सार है, सरस्वती का जीवन है और वेद-स्वरूपी साक्षात् ब्रह्म (अर्थात् सर्वनियन्ता) की आज्ञा है । यह राजा प्रलय तक विराजमान रहे ।

यह रूपक एक उपमेय में अनेक पदार्थों का आरोपरूप है—अर्थात् इस रूपक में एक उपमेय (राजा) पर अनेक उपमान आरोपित किए गए हैं, अतः यह मालारूप है और वे रूपक एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, अतः निरवयव हैं ।

३—परंपरित रूपक

लक्षण

जहाँ आरोप ही अन्य आरोप का निमित्त हो—अर्थात् एक आरोप को सिद्ध करने के लिये अन्य आरोप किया गया हो वह 'परम्परित रूपक' होता है ।

श्लिष्ट परम्परित और शुद्ध परम्परित

परंपरित रूपक में भी—जिस रूपक को कवि समर्थक के रूपमें कहना चाहे, वह यदि श्लेष (अनेकार्थ) मूलक हो तो 'श्लिष्ट परंपरित' होता है (अन्यथा 'शुद्ध परंपरित') ।

उदाहरण

श्लिष्ट परंपरित केवल रूपक; जैसे—

अहितापकरणभेषज नरनाथ ! भवान् करस्थितो यस्य ।
तस्य कुतो-हि-भयं स्यादखिलामपि मेदिनीं चरतः ॥

हे नरनाथ ! आप 'अहितापकरणभेषज' (शत्रुओं का अपकार करना ही साँपों को ताप पैदा करना है उसके औषध) हैं । आप जिसके हाथ में स्थित हैं—पक्ष में हैं, उसे समग्र पृथिवी में फिरते हुए भी '(ऽ) हि भयम्' (साँपों का भयरूप निश्चय ही भय) कैसे हो सकता है ?

यहाँ 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों के ताप उत्पन्न करने' का और 'राजा' में 'औषध' का—इस तरह दो आरोप किए गए हैं। यद्यपि ये दोनों ही आरोप वस्तुतः एक दूसरे के समर्थक हो सकते हैं, अर्थात् जब 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' का आरोप किया जाय तब 'राजा' में 'औषध' का आरोप किया जा सकता है, और जब 'राजा' में 'औषध' का आरोप किया जाय तब 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' का आरोप किया जा ससता है; अतः इनमें से किसी एक को समर्थ्य अथवा समर्थक नहीं कह सकते, तथापि श्लेष के कारण 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' के आरोप द्वारा 'राजा' में 'औषध' का आरोप कवि को अभिप्रेत है, न कि राजा में औषध के आरोप द्वारा पूर्वोक्त श्लेष मूलक आरोप का समर्थन । अतएव भंगश्लेष द्वारा सिद्ध किया गया ('कुतोहिभयं स्यात्' इस वाक्य से प्रतिपादित) भय का अभाव संगत हो सकता है, अन्यथा यदि 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' का समर्थन ही कवि को अभिप्रेत होता तो यहाँ भंगश्लेष द्वारा 'भय का अभाव' लिखने की आवश्यकता न रहती ।

श्लिष्ट परंपरित मालारूपक; जैसे—

कमलावासकासारः क्षमाभृतिफणीश्वरः ।
अयं कुवलयस्येन्दुरानन्दयति मानवान् ॥

यह (राजा) 'कमलावास' (कमलों के निवास; वस्तुतः—कमला=लक्ष्मी के निवास) के कारण सरोवर है; 'क्षमा' (पृथ्वी; वस्तुतः—क्षमा) के धारण करने के कारण शेषनाग है और 'कुवलय' (रात्रिविकासी कमलों; वस्तुतः—भूमण्डल) का चन्द्रमा है । (अतः) मनुष्यों को आनंदित कर रहा है ।

शुद्ध परंपरित केवल रूपक; जैसे—

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति तावत् प्रतिभटपृतनावर्त्तिनः क्षत्रवीराः ।
यावन्नायाति राजन्! नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्त्ते!
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥

हे राजन्! हे काल-सदृश भयंकर स्वरूपवाले! आपके शत्रु की सेना में रहनेवाले क्षत्रिय वीर, जब तक, भोले शत्रुओं के प्राणरूप दूध के पीने से चिकनी चमक वाला आपका खड्गरूपी भुजंग आँखों के सामने नहीं आता, तब तक यों कहते रहते है कि—मेरे सामने युद्ध में देवता कौन हैं, दैत्य कौन हैं अथवा मनुष्य कौन हैं—क्या कोई मेरे सामने टिक सकता है ? (पर जहाँ आपके खड्ग को देखा कि सिट्टी गुम !)

यहाँ भी कवि को खड्ग में भुजंग के आरोप का प्राणों में दूध के आरोप द्वारा समर्थन अभीष्ट है ।

शुद्ध परंपरित मालारूपक; जैसे—

प्राची सन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणेर्मानमाणिक्यकान्ति-
र्ज्वालामाला कराला कवलितजगतः क्रोधकालानलस्य ।
आज्ञा-कान्ता-पदाम्भोरुह-तल-विगलन्मञ्जुलाक्षारसाभा
क्षोणीन्दो ! संगरे ते लसति नयनयोरुद्भटा शोणिमश्रीः ॥

हे भूमिचंद्र ! जो उदय हो रहे (आपके) प्रताप सूर्य की पहली संध्या (प्रातःकाल) है, जो अभिमानरूपी माणिक्य की कांति है, जो जगत के खा जानेवाले क्रोधरूपी प्रलयानल की भयंकर ज्वाला-माला है और जिसकी क्रांति आज्ञारूपी कामिनी के चरण-कमल से गिरते लाक्षा-रस की कांति के सदृश है, वह आपके नेत्रों की अरुणता की अद्भुत शोभा, युद्ध में, शोभित हो रही है ।

सावयव रूपक और शुद्ध परंपरित रूपक में क्या भेद है ?

यद्यपि सावयव रूपक में भी एक आरोप अन्य आरोप का उपाय-रूप (समर्थक) होता है, तथापि वहाँ आरोप के बिना (केवल) कवि-समय-सिद्ध सादृश्य द्वारा भी अन्य आरोप की सिद्धि हो सकती है—अर्थात् यदि अन्य आरोप रहे तब भी ठीक और न रहे तब भी काम चल सकता है। जैसे पूर्वोक्त "सुन्दरि राकाऽसि नाऽत्र संदेहः" यहाँ मोती-आदि में यदि तारा-आदि का आरोप न किया जाय तथापि उज्ज्वलतामात्र के कारण भी सुंदरी में पूर्णिमा का आरोप सिद्ध हो सकता है। पर शुद्ध परम्परित में ऐसा नहीं होता, जैसे यहाँ (उपर्युक्त पद्य में) नेत्रों की अरुणता में ज्वाला आदि का आरोप (क्रोध आदि में) अग्नि के आरोप को नियत रूप से चाहता है ! बिना उस आरोप के इस आरोप का काम ही नहीं चल सकता ।

इसी तरह "कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् दुष्ट पुरुष दयारूपी पुष्प का आकाश है; जैसे आकाश में पुष्प नहीं वैसे दुष्ट में दया नहीं।" यहाँ आकाश और दुष्ट पुरुष में सादृश्य अप्रसिद्ध है—कोई नहीं जानता कि उनमें क्या समानता है। अतः दुष्ट पुरुष में आकाश का आरोप करने के लिये दया में पुष्प का आरोप ही उपाय है, अन्यथा यह रूपक बन ही नहीं सकता। पर सावयव रूपक में यह बात नहीं। बस, यही इन दोनों में विलक्षणता है।

किसी ने सावयव रूपक से शुद्ध परंपरित रूपक के भेद का कारण यह बताया है कि.. "सावयव रूपक में अनेक आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ्य के अनेक समर्थक होते हैं, पर शुद्धपरंपरित में दो ही आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ्य का एक ही समर्थक होता है।" (पर जब इनमें उपर्युक्त रीति से स्पष्ट भेद दिखाई देता है, तब एक और अनेक की कल्पना व्यर्थ है, अतः यह पक्ष ठीक नहीं।)

उपमान एक हो और उपमेय अनेक हों तो मालारूपक क्यों नहीं माना जाता ?

काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा।
धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा॥

रसज्ञों के लिये काव्य अमृत है, कामियों के लिये कामिनी अमृत है, लोभियों के लिये धन अमृत है और संन्यासियों के लिये शांति अमृत है।

यहाँ (उपमान 'अमृत' एक है और) उपमेयों ('काव्य' आदि) की माला है; पर इस माला के कारण कोई विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसी माला रूपक के भेदों की गणना में पृथक्

नहीं गिनी जाती। उपमानों की माला में तो एक विशेष प्रकार का चमत्कार रहता है, अतः उसे पृथक् गिनना ही पड़ता है।

परंपरित रूपक के विषय में विचार

(क) श्लिष्ट परंपरित

अच्छा, अब यह सोचिए कि—"कमलावासकासारः" इत्यादि श्लिष्ट परंपरित रूपक में एक ('कमलों के निवास' में 'कमला के निवास' का) आरोप अन्य ('राजा' में 'सरोवर' के) आरोप का उपाय (समर्थक) माना जाता है सो कैसे बन सकता है ? कारण, यहाँ श्लेष द्वारा 'कमलों के आवास' और 'कमला के वास' का केवल अभेद ही प्रतीत होता है, एक अर्थ का दूसरे अर्थ में आरोप नहीं, क्योंकि आरोप के लिये उपमेय का स्वतंत्र रूप से निर्देश अपेक्षित है—अर्थात् जहाँ उपमेय को स्वतंत्र लिखकर उपमान पृथक् लिखा गया हो वहाँ उपमान का उपमेयमें आरोप प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं। (सारांश यह कि "कमलावासकासारः" आदि में एक शब्द से दो अर्थों का एक साथ ग्रहण होने के कारण उन दोनों अर्थों का अभेद प्रतीत होने पर भी उनमें से एक अर्थ का दूसरे अर्थ पर आरोप नहीं प्रतीत होता।)

और आप यह तो कह सकते नहीं कि—अभेद के ज्ञान को ही आरोप कहते हैं, क्योंकि अतिशयोक्ति में भी जहाँ कि उपमान से ही उपमेय का काम लिया जाता है, आरोप का व्यवहार होने लगेगा। दूसरे, केवल अभेद-ज्ञान से यहाँ काम चल भी नहीं सकता। कारण, "जिसके संबंधी में जिसके संबंधी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है" इस न्याय के अनुसार राजा में सरोवर का आरोप तभी समर्थित हो सकता है, जब कि राजा में संबंध रखनेवाले 'कमला के निवास' में सरोवर से संबंध रखनेवाले 'कमलों के निवास' का अभेद

संबंध से आरोप हो। अर्थात् जब तक 'कमला के वास' में 'कमलों के आवास' का आरोप न किया जाय तब तक राजा में सरोवर का आरोप नहीं हो सकता। पर श्लेष के द्वारा तो 'कमला के निवास' में 'कमलों के निवास' का अभिन्नतया ज्ञान होने के कारण इस अभिन्न धर्म को मूल मानकर राजा और सरोवर का अभेद ज्ञान होगा, न कि राजा-रूपी उपमेय में सरोवर-रूपी उपमान के प्रस्तुत आरोप की सिद्धि। केवल अभेद का आकार है "ये दोनों अभिन्न हैं" यह, सो वह यहाँ प्रस्तुत है नहीं, किंतु "यह एतद्रूप है" इस रूप में होनेवाला पूर्वोक्त आरोप अपेक्षित है। अतः पूर्वोक्त ("जिसमें जिसके संबंधी का अभेद हो..." इत्यादि न्याय से सिद्ध) आरोप ढूँढना है और वह श्लेष से सिद्ध हो नहीं सकता। यह एक प्रश्न है।

इसका उत्तर यह है कि—आपका कथन ठीक है। पर श्लेष से केवल अभेद की प्रतीति हो चुकने पर प्रस्तुत आरोप का समर्थन करने के लिये, मध्य में, राजा से संबंध रखनेवाले 'कमला के निवास' में सरोवर से संबंध रखनेवाले 'कमलों के निवास' का आरोप मन द्वारा कर लिया जाता है—अर्थात् शब्दतः केवल अभेद की प्रतीति होने पर भी आरोप की मानस प्रतीति हो जाती है। ऐसी कल्पना कर लेने से कोई गड़बड़ नहीं रहती।

(ख) शुद्ध परंपरित

आप कहेंगे—(इस तरह) "सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रो राजा (यह राजा सौजन्य-रूपी चाँदनी के कारण चंद्रमा है)" इत्यादि शुद्ध परंपरित रूपक में (राजा में चंद्रमा का) अभेद संबंध से आरोप हो जाने पर भी आरोप के सादृश्य-मूलक न होने के कारण उसे रूपक क्यों कहा जाता है; क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि—"सादृश्यमूलक अभेद को ही रूपक कहते हैं"। पर यह कथन कुछ नहीं। कारण,

समर्थक आरोप—अर्थात् चंद्रिका में सौजन्य के आरोप—द्वारा राजा और सरोवर के धर्म को एक मान लेने से—अर्थात् इस आरोप को राजा और सरोवर का समान धर्म मान लेने से सादृश्य में कोई विघ्न नहीं रहता। (सारांश यह कि समानधर्म ज्ञात न होने के कारण आप यह शंका करते थे, पर ऐसे स्थानों में समर्थक आरोप को ही समान-धर्मरूप मान लिया जाता है, अतः यह शंका नहीं टिक सकती।)

अभेद के विषय में विचार

इतने पर भी यह पूर्वपक्ष हो सकता है कि—

उपर्युक्त "सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र" इस शुद्ध परंपरित रूपक के उदाहरण में दो समास हैं; 'सौजन्यचन्द्रिका' शब्द में 'कर्मधारय' और इस शब्द को 'चन्द्र' शब्द के साथ जोड़ने में 'तत्पुरुष'। सो तत्पुरुष का अंगरूप होकर जो 'कर्मधारय' अया है उसमें—अर्थात् 'सौजन्य-चंद्रिका' इस पद में—'सौजन्य' पदार्थ 'चंद्रिका' पदार्थ का अभेद संबंध द्वारा विशेषण होता है। सारांश यह कि—'सौजन्य' विशेषण है और 'चंद्रिका' विशेष्य। अतः 'चंद्रिका' में सौजन्य का अभेद प्रतीत होता है, न कि 'सौजन्य' में चंद्रिका का। वह अभेद 'राजा' में 'चंद्र' के अभेद रूपी रूपक का समर्थन नहीं कर सकता, किंतु 'चन्द्र' में 'राजा' के अभेद का समर्थन कर सकता है, क्योंकि जब समर्थक रूपक में उपमेय (सौजन्य) का उपमान (चंद्रिका) में अभेद प्रतीत होता है तो समर्थ्य रूपक (राजा और चन्द्र) में भी वैसा ही होना चाहिए। वह अपने विपरीत रूपक का कैसे समर्थन कर सकता है? और पूर्वोक्त न्याय भी कहता है कि 'जिसके संबंधी में जिसके संबंधी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है।'[१] तो फिर राजा के संबंधी सौजन्य का चंद्रिका में अभेद, चंद्रिका के संबंधी चंद्र में राजा के अभेद का ही समर्थन कर

सकता है, राजा में चंद्र के अभेद का नहीं। (सारांश यह कि—'सौजन्य राजा का संबंधी है और 'चंद्रिका' चंद्र की संबंधिनी; उन दोनों में से जिसका जिसमें आरोप प्रतीत होगा, उनके संबंधियों में भी वह आरोप उसी क्रम से प्रतीत होगा। यहाँ कर्मधारय समास के अनुसार सौजन्य के विशेषण और चंद्रिका के विशेष्य होने के कारण सौजन्य का चंद्रिका में अभेद प्रतीत होता है--अर्थात् सौजन्य का उपमान होना और चंद्रिका का उपमेय होना प्रतीत होता है। इस हिसाब से समर्थ्य रूपक में भी राजा का उपमान होना और चंद्र का उपमेय होना समर्थित होने लगेगा, जो कि सरासर विपरीत है।) वह मुलटा तब हो सकता है जब कि चंद्रिका का सौजन्य में अभेद प्रतीत हो; जैसे कि "सौजन्यं ते धराधीश! चन्द्रिका त्वं सुधानिधिः—अर्थात् हे राजन्, आपका सौजन्य चंद्रिका है और आप चंद्रमा हैं।" इस वाक्य में प्रतीत होता है; क्योंकि यहाँ 'चंद्रिका' का (विधेय) विशेषण होना और सौजन्य का विशेष्य होना स्पष्ट प्रतीत होता है। सो यह बात 'कर्मधारय' में हो नहीं सकती; क्योंकि वहाँ पूर्वपद का विशेषण होना और उत्तर पद का विशेष्य होना स्पष्ट है।

यदि कहा जाय कि—सौजन्य का चंद्रिका के साथ अभेद अथवा चंद्रिका का सौजन्य के साथ अभेद, दोनों अभेद समझे तो जाते हैं एक ही प्रकार के ज्ञान से; अतः कोई अनुपपत्ति नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—यह बात प्रत्यक्ष-जन्य ज्ञान के विषय में कही जा सकती है; क्योंकि वहाँ दोनों बोधों की सामग्री एक होती है—जिस इंद्रिय आदि से आप 'चंद्रिका के अभेद' का बोध प्राप्त करते हैं उसी इंद्रिय से 'चंद्रिका के साथ अभेद' का। अतः वहाँ कोई फेर नहीं। पर शाब्दबोध में ऐसा नहीं होता—वह ज्ञान तो व्युत्पत्ति की विचित्रता से जकड़ा हुआ है। एक ही बात को आप जरा दूसरी तरह बोले कि उसका बोध दूसरा हुआ। (सारांश यह कि—शाब्दबोध में तो शब्द बदला कि अर्थ

बदला। अतः आपकी यह युक्ति यहाँ नहीं चल सकती।)

ऐसी दशा में केवल यहीं नहीं, किंतु समासांतर्गत अन्य शुद्ध पर-परित रूपकों में भी दो आरोपों का परस्पर समर्थ्य-समर्थक होना कैसे बन सकता है ?

इस स्थिति में "शशि-पुंडरीक" इत्यादि में कमल का रूपक (तादूप्य) कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि कमल के तादूप्य का अर्थ है कमल का ('शशी' से) अभेद; सो वह तो पूर्वोक्तरीत्या "शशि-पुंडरीक" (इस कर्मधारय समास) में प्रतीत होता नहीं; किंतु चंद्रमा का कमल से अभेद प्रतीत होता है। अतः जैसे "कमल चंद्रमा है" इस जगह चंद्रमा का रूपक कहा जाता है वैसे ही "शशिपुंडरीक" में भी चंद्रमा का रूपक कहना उचित है, कमल का नहीं।

इसी तरह "नीलिम-दिव्यतोय", "तारावली-मुकुल", "षोडश-कला-दल", "अंक-भृङ्ग" इन सब में भी उत्तर पदों ("दिव्य-तोय" आदि) के अर्थों के साथ पूर्व पदों ("नीलिमा" आदि) के अर्थों का ही रूपक प्राप्त होगा, न कि उत्तर पदों के अर्थों का पूर्व पदों के अर्थों के साथ। एवं—

सुविमलमौक्तिक-तारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे।
वदन-परिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकाऽसि नाऽत्र संदेहः॥

इस पूर्वोक्त पद्य में, उपमेयरूप 'सुंदरी' में 'पूर्णिमा' का अभेद प्रतीत होता है, अतः पूर्णिमा का रूपक यद्यपि स्पष्ट ही है; तथापि (पद्य के) तीन चरणों के रूपक, पूर्णिमा के रूपक की अनुकूलता के लिये लिखे जाने पर भी, उसकी अनुकूलता नहीं करते। कारण, 'तारा', 'चाँदनी' और 'पूर्ण चंद्र' का क्रमशः मोती, सफेद साड़ी और मुख के साथ अभेद सिद्ध होने पर भी, सुंदरी में

पूर्णिमा का सताद्रूप्य (आरोप) सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत विपरीततया पूर्णिमा में सुंदरी का तादूप्य सिद्ध हो सकता है; क्योंकि वे (अमेद के अनुयोगी रूप में प्रतीत होनेवाले 'तारा' आदि) पूर्णिमा से संबंध रखते हैं, सुंदरी से नहीं । अतः सब गड़बड़ है । यह है पूर्वपक्ष ।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि—अभेद विशेषण का संसर्ग (दो पदार्थों को अन्वित करनेवाला संबंध) होता है—यह नियम-सिद्ध है । अर्थात् समानाधिकरण विशेषण का विशेष्य के साथ सदा अभेद संबंध होता है। वह अभेद जैसे 'मुख चंद्रमा है' इस वाक्यगत रूपक में अपने प्रतियोगी चंद्रमा का, अपने अनुयोगी मुख में, विशेषण होना निभा देता है वैसे ही 'मुख-चंद्र' आदि समास-गत रूपक में अपने अनुयोगी मुख का, अपने प्रतियोगी चंद्रमा में, विशेषण होना निभा देता है । सारांश यह कि—वाक्य और समास में विशेषण-विशेष्य होना बदलता है, अनुयोगी-प्रतियोगी होना नहीं । सो इस तरह दोनों जगह (वाक्य में तथा समास में) वस्तुतः 'चंद्रमा का अभेद' (अर्थात् चंद्रमा जिसका प्रतियोगी है वह अभेद) ही संसर्गरूप होता है मुख का अभेद नहीं । यह एक दूसरी बात है कि—कहीं अनुयोगी पहले होता है कहीं प्रतियोगी । इस पहले-पीछे होने का कारण है विशेषण-विशेष्य होने की विचित्रता—अर्थात् यह नियम नहीं कि अनुयोगी ही विशेषण हो अथवा प्रतियोगी ही, दोनों में से कोई भी विशेषण अथवा विशेष्य हो सकता है । इस विचित्रता के कारण कभी अनुयोगी विशेषण हो जाता है कभी प्रतियोगी । इससे आप यह न समझिए कि—'मुख-चंद्र' में मुख का 'अभेद' संसर्ग रूप से आया है, चंद्र का नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो ऐसी जगह चंद्र-रूपक न होकर मुखरूपक होने लगेगा—अर्थात् मुख में चंद्रमा का आरोप न होकर चंद्रमा में मुख का आरोप होने लगेगा । यदि आप कहें कि—जिसका विशेषण प्रतियोगी हो वही अभेद विशेषण

के संसर्गरूप में आ सकता है, न कि जिसका विशेषण अनुयोगी हो वह अभेद—अर्थात् विशेषण सदा अभेद का प्रतियोगी ही हो सकता है, अनुयोगी नहीं; तो यह आपका दुराग्रह है; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—'सौजन्य-चंद्रिका' आदि रूपक में 'चंद्रिका के विशेषणरूप सौजन्य' का संसर्ग 'सौजन्य का अभेद' नहीं, किंतु 'चंद्रिका का अभेद' है—अर्थात् उस अभेद का प्रतियोगी सौजन्य नहीं, किंतु चंद्रिका है ऐसी दशा में अंततः 'चंद्रिका सौजन्य में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी है' यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर (विग्रह के ढंग से न सही, किंतु) दूसरे ढंग से सौजन्य में चंद्रिका का अभेद सिद्ध हो जाता है और उसके सिद्ध होने पर राजा में चंद्रमा का अभेद भी सिद्ध हो जाता है, अतः परंपरित रूपक में कुछ अनुपपत्ति नहीं।

'शशि-पुण्डरीक' आदि में भी अंततः 'चंद्रमा में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी कमल' यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर कमल का अभेद ही प्रतीत होता है, अतः कमल का रूपक मानने में कोई अड़चन नहीं। यही बात अन्य अवयव रूपकों में भी समझिए—अर्थात् 'नीलिम-दिव्यतोय' आदि में भी यही बात है।

इसी तरह "सुविमल-मौक्तिकतारे" इत्यादि में भी मोती आदि में तारा आदि का अभेद ही तारा आदि विशेषणों का संसर्ग होता हुआ 'पूर्णिमा' के रूपक का संसर्गरूप होता है, अतः सब ठीक है।

हाँ, इतना अवश्य समझ लीजिए कि—यह अभेद, जहाँ अनुयोगी पहले हो ऐसा हो (जैसे 'मुख चंद्रमा है' इत्यादि वाक्यों में) वहाँ रूपक विधेय होता है, और जहाँ प्रतियोगी पहले हो वहाँ रूपक अनुवाद्य होता है। यह है इस सब का संक्षेप।

परंपरित रूप के अन्य प्रकार

परंपरित रूपक के भेदों में (समर्थ्य रूपक और समर्थक रूपक के) उपमानों और उपमेयों के परस्पर अनुकूल होने पर समर्थ्य-समर्थक होना "प्राची संध्या समुद्यन्महिमदिनमणेः" इस पद्य में दिखाया जा चुका है।

प्रतिकूल होने पर उदाहरण, जैसे—

> आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः।
> ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः॥

यह दुष्टों का समागम आनंदरूपी हरिण के लिये दावानल है, सदाचाररूपी वृक्ष के लिये मत्त हाथी है और ज्ञानरूपी दीपक के लिये महावायुरूप है।

अथवा जैसे—

> कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः।
> यशःसौरभ्यलशुनः पिशुनः केन वर्ण्यते ?

चुगलखोर पुरुष दयारूपी पुष्प के लिये आकाश, शांतिरूपी शीतलता के लिये अग्नि और यशरूपी सुगंध के लिये लहसुन है। इसका वर्णन किससे किया जा (सक)ता है ?

इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में एक (समर्थक रूपकवाला) उपमान ('मृग' आदि) नष्ट करने योग्य है और दूसरा (समर्थ्य रूपकवाला) उपमान ('दावानल' आदि) नाशक है और यही हालत उपमेयों ('आनंद' आदि तथा 'दुष्टों के समागम') की है और दूसरे उदाहरण में समर्थक रूपक के उपमान कुसुम आदि का

समर्थ्य रूपक के उपमान आकाश आदि में अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार उपमेय कारुण्य आदि का पिशुन में भी त्रैकालिक अभाव है, अतः दोनों उदाहरणों में समर्थ्य रूपक और समर्थक रूपक के उपमानों की एवं उपमेयों की परस्पर प्रतिकूलता है। रहा समर्थ्य-समर्थक होना, सो वह वैसा ही है जैसा कि अनुकूल होने पर होता है।

इसी तरह

अयं सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः।
परदुःखाग्निशमनमारुतः केन वर्ण्यते ?

अपकारी पुरुष के विषय में कोई कहता है—यह सज्जनरूपी कपास की रक्षा करने के लिये केवल अग्नि है और दूसरों के दुःखरूपी अग्नि को शांत करने के लिये वायु है। इसका वर्णन किससे किया जा (सक)ता है ?

यहाँ 'रक्षा करना' और शांत करना' ये पद विरोधिलक्षणा द्वारा विपरीत अर्थ 'नष्ट करने' और 'बढ़ाने' का बोध करवाते हैं, अतः यहाँ भी प्रतिकूलता है।

इस तरह पदार्थरूपक का अंशतः निरूपण किया गया है।

वाक्यार्थरूपक

लक्षण

एक वाक्य का अर्थ उपमेय हो और उसमें अन्य वाक्य का उपमानरूप अर्थ आरोपित किया जाय तो 'वाक्यार्थरूपक' होता है।

जैसे विशेषण-युक्त उपमा में विशेषणों का उपमान-उपमेय होना अर्थप्राप्त होता है; क्योंकि वहाँ विशेषणों के सादृश्य के लिये कोई 'इव'

आदि सादृश्य-वाचक शब्द नहीं होता, वैसे ही वाक्यार्थरूपक में भी वाक्यार्थ के बनानेवाले (अर्थात् जिनके समुदाय से वाक्यार्थ बनता है उन) पदार्थों का रूपक अर्थतः ज्ञेय होता है।

उदाहरण

आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत्।
क्षालनं भास्करस्येदं सारसैः सलिलोत्करैः॥

इस आत्मा का जो तप और दानों से निर्मल करना है यह, सूर्य का सरोवर के सलिलसमूह से धोना है।

यहाँ विशेषणों सहित 'निर्मल करना' उपमेय है और वैसा ही 'धोना' उपमान। 'आत्मा' और 'तप-दान' उपमेय के विशेषण होने के कारण बिंबरूप हैं, उनमें, उपमान के विशेषण होने के कारण प्रतिबिंब रूप बने हुए 'सूर्य' और 'जल-समूह' आदि का रूपक (आरोप) प्रतीत होता है। यह रूपक, पूर्वोक्त प्रधान रूप में विशिष्ट रूपक का अंग है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अपने को अलंकारों का ज्ञाता समझनेवाले किसी ('अलङ्कार-सर्वस्वकार') के धोखे में आए हुए दीर्घश्रवा* (यशस्वी) द्रविड़ (अप्पयदीक्षित) का यह कथन कि "यह रूपक नहीं है और रूपक में बिंब प्रतिबिंब-भाव नहीं होता" श्रद्धा करने योग्य नहीं है। कारण, जिनमें 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा होती है उनमें

---

* 'दीर्घश्रवा' का एक अर्थ 'लम्बकर्ण' भी होता है, जिससे 'गधा' अर्थ व्यक्त होता है।

यदि एक का दूसरे पर आरोप हो तो रूपक होता है—यह नियम है। यदि आप यहाँ (इस पद्य में) रूपक नहीं मानते तो फिर इसी पद्य में 'इव' अथवा 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा भी न मानिए। इसी तरह यदि आप

"त्वयि कोपो महीपाल ! सुधांशाविव पावकः।

हे राजन् ! आप में कोप चंद्रमा में आग की तरह है।"

यहाँ कवि के कल्पित विशेषणयुक्त धर्मी ('अग्नियुक्त चंद्रमा') के साथ ('कोपयुक्त राजा' का) सादृश्य प्रतीत होता है, इस कारण उपमा कहते हैं, तो उसमें से जब 'इव' निकाल दें तब

"त्वयि कोपो महीपाल ! सुधांशौ हव्यवाहनः।

हे राजन् ! आप में कोप चंद्रमा में आग है।"

यहाँ रूपक भी कहिए। यहाँ आपको क्यों संकोच होता है ? अतः यह सिद्ध हुआ कि रूपक में भी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म होता है।

वाक्यार्थ रूपक का एक अन्य उदाहरण

कुङ्कुमद्रवलिप्ताङ्गः काषायवसनो यतिः।
कोमलातपबालाभ्रसन्ध्याकालो न संशयः॥

केसर को शरीर में पोते भगवा-वस्त्र-धारी संन्यासी, कोमल धूप और छोटे बादलोंवाला संध्या-समय है, इसमें संदेह नहीं।

इत्यादिक में भी विशिष्ट रूपक (वाक्यार्थ रूपक) समझना चाहिए। "त्वयि कोपः……" इस पूर्वोक्त पद्य में उपमान के कवि की बुद्धि द्वारा कल्पित होने के कारण 'कल्पित विशिष्ट रूपक' है

और यहाँ कल्पित नहीं है—शुद्ध है— इतना उस उदाहरण और इस उदाहरण में अन्तर है।

ऐसे रूपकों में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही क्यों नहीं मान ली जाती है ?

आप कहेंगे—ऐसे-ऐसे स्थलों में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहते हैं—ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ "संदेह नहीं" इत्यादि द्वारा अभेद का निश्चय किया जा रहा है। यदि उत्प्रेक्षा होती तो यहाँ अभेद की संभावना होती, निश्चय नहीं। अन्यथा "मुख चंद्रमा है" इत्यादि में भी 'गम्योत्प्रेक्षा' ही होने लगेगी और रूपक का विलोप हो जायगा—उसके लिये संसार में कहीं जगह न रहेगी।

रूपक का शाब्दबोध

१—प्राचीनों का मत

अब रूपक के शाब्दबोध का विचार किया जाता है। इस विषय में प्राचीन विद्वान् कहते हैं—

उपमानवाचक पद ('चंद्र' आदि) से, सारोपा लक्षणा द्वारा 'उपमान में रहनेवाले गुणों (कांति आदि) से युक्त' इस अर्थ की उपस्थिति होती है, और तब उक्त अर्थ का अभेद-संबंध द्वारा विशेषण रूप से उपमेय में अन्वय होता है।

इस तरह

'मुख चंद्र (है)' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'चंद्रमा में रहनेवाले गुणों से युक्त से अभिन्न मुख' यह होता है। जिसे

सरल शब्दों में—'चंद्रमा के (कांति आदि) गुणों से युक्त मुख' यों कहा जा सकता है। अतएव अलंकार-भाष्यकार ने कहा है कि—"रूपक में लक्षणा का होना आवश्यक है। अर्थात् लक्षणा के बिना रूपक का बोध नहीं हो सकता।"

आप कहेंगे—ऐसा बोध मानने पर 'चंद्र-सदृश मुख' इस उपमा से रूपक का क्या भेद हुआ? क्योंकि बोध में विलक्षणता न होने से चमत्कार में विलक्षणता न होगी और जब तक चमत्कार में विलक्षणता न हो तब तक अलग अलंकार माना जा नहीं सकता। यदि आप यह उत्तर दें कि—बोध तो एक ही है, पर उपमा में वह अभिधा द्वारा सिद्ध होता है और रूपक में लक्षणा द्वारा; अतः वृत्ति के भेद के कारण उपमा और रूपक में भेद हो जायगा। सो यह कोई बात नहीं, क्योंकि केवल वृत्ति के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध नहीं होता (जैसे कि पहले लिखा जा चुका है)।

इसका उत्तर यह है—लक्षणा द्वारा बोध होने के अनंतर, लक्षणा के प्रयोजनरूप से प्रतीत होनेवाले अभेद के बोध द्वारा, उपमा से रूपक में विलक्षणता हो जाती है। अर्थात् उपमा में (केवल) अभेद की प्रतीति नहीं होती और रूपक में वह होती है—यह है इन दोनों में परस्पर भेद, क्योंकि रूढ लक्षणा के अतिरिक्त अन्य लक्षणाओं में प्रयोजन होना ही चाहिए—यह नियम है। आप कहेंगे—चंद्रमा और मुख कभी अभिन्न नहीं देखे गए, अतः इस बोध का बाध हो जाता है—अर्थात् अभेद का बोध कोई वस्तु नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि—अभेद का बोध व्यंजना के ज्ञान द्वारा होता है, अभिधा के ज्ञान द्वारा नहीं, और बाध का अभाव अभिधा में ही अपेक्षित है, व्यंजना में नहीं, अतः इस बाध के ज्ञान से अभेद का बोध नहीं रोका जा सकता।

२—नवीनों का मत

नवीन विद्वानों का तो मत है कि—दो प्रातिपादिकों के अर्थों का अभेद-संबंध से अन्वय व्युत्पत्ति सिद्ध है—उसे सिद्ध करने के लिये किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं, अतः

'मुख चंद्र (है)' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'चंद्र से अभिन्न मुख' यह होता है।

यहाँ लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस अभेद को आप लक्षणा का प्रयोजन मानते हैं वह जब अन्य प्रकार (आकांक्षा आदि) से (स्वतः) सिद्ध हो जाता है तब लक्षणा की कल्पना न्यायानुकूल नहीं कही जा सकती।

दूसरे, लक्षणा मानने में कई-एक दोष भी हैं। रूपक में लक्षणा हो तो—

१—"मुख-चंद्र" इस जगह 'उपमित समास' और 'विशेषण-समास' दोनों समास हो सकते हैं और आपके हिसाब से दोनों समासों में उत्तरपद लाक्षणिक होता है। इस लाक्षणिक होने की समानता होने पर भी उसी शब्द में एक जगह (उपमित-समास में) उपमा मानना और अन्यत्र (विशेषण समास में) रूपक मानना—इसमें व्याघात होगा। और

२—"मुख चंद्र-सदृश नहीं है, किंतु चंद्र है" इत्यादिक स्थलों में जहाँ रूपक में सादृश्य का निषेध (जो कि सादृश्य में हो ही नहीं सकता) सम्मिलित हो, वहाँ लक्षणा द्वारा उत्पन्न होनेवाला सादृश्य का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ ऐसा होना वक्ता को अभीष्ट नहीं, अतएव तो वक्ता ने सादृश्य का निषेध किया है। इसी तरह—

३—"देवदत्त का मुख चंद्रमा ही है, यज्ञदत्त का मुख तो वैसा नहीं है, किंतु चंद्रमा के सदृश है" इत्यादिक में लक्षणा द्वारा 'चंद्रमा' का अर्थ होगा 'चंद्रमा के सदृश' और उसमें 'नहीं' शब्द के अर्थ का अन्वय होगा। तब इस वाक्त के बोध की "......यज्ञदत्त का मुख तो चंद्रमा के सदृश नहीं है, किंतु चंद्रमा के सदृश है" इस तरह मट्टी पलीद होगी।

यदि आप लक्षणा के प्रयोजनरूप ज्ञान में आनेवाले (व्यंग्य) अभेद के साथ 'चंद्र' शब्द का अन्वय करना चाहें—अर्थात् उस वाक्य का यह अर्थ करें कि 'देवदत्त का मुख चंद्र से अभिन्न है और यज्ञदत्त का मुख वैसा नहीं, किन्तु चंद्र-सदृश है'; तो यह हो नहीं सकता। कारण, व्यंग्य अभेद की उपस्थिति, इस (लाक्षणिक अर्थ के) अन्वय के समय नहीं हो सकती। प्रयोजन (अभेद) तो इस अन्वय के हो चुकने के अनंतर प्रतीत होता है।

आप कहेंगे—आपके मत में भी अभेद का बोध कैसे होगा? क्योंकि मुख का चंद्र होना बाधित है। तो यह ठीक नहीं। कारण, जैसा अभेद का बोध हम मानते हैं वह आहार्य (बाधज्ञान-कालीन इच्छाजन्य) है—जानबूझकर वैसा किया जाता है, अतः वह बोध बाध की बुद्धि—अर्थात् 'मुख चंद्रमा नहीं है' इस ज्ञान से रुक नहीं सकता, क्योंकि योग्यता के अभाव (बाधित होने) का बोध सच्चे ज्ञान को ही रोकता है, आहार्य ज्ञान को नहीं।

अथवा हम अभेद के बोध को आहार्य भी क्यों मानें, शब्द-जन्य ही मानेंगे और जैसे बाध के निश्चय द्वारा रुकने योग्य ज्ञानों में 'आहार्य से भिन्न' यह निवेश किया जाता है वैसे 'शब्द-जन्य ज्ञान से भिन्न' इतना और बढ़ा देंगे। तात्पर्य यह कि—अब तक जो यह कहा जाता था कि 'आहार्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान बाध का निश्चय होने पर रुक जाते

हैं' उसके स्थान पर यों कहेंगे कि 'आहार्य और शब्दजन्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान बाध का निश्चय होने पर रुक जाते हैं।'

आप कहेंगे—यदि ऐसा मानोगे तो बाध का निश्चय (योग्यता का अभाव) होने पर जो शाब्दबोध का न होना माना जाता है वह न बन सकेगा। तो इसका उत्तर यह है कि—बाध का निश्चय होने पर उस धर्म (जैसे मुख में मुखत्व) से युक्त होने का शाब्दबोध नहीं उत्पन्न होता*—यह बात ठीक है; क्योंकि वहाँ योग्यता का ज्ञान नहीं रहता। पर जहाँ आहार्य योग्यताज्ञान हो वहाँ शाब्दबोध होना अभीष्ट है—

---

*इस विषय में नागेश भट्ट कहते हैं, और बहुत सुंदर कहते हैं, कि "बाध का निश्चय होने पर शाब्दबोध नहीं होता' यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। शाब्दबोध तो होता ही है। अतएव जो 'आग से सींचता है' यह कहनेवाले की हँसी उड़ाना बन सकता है कि—महाशय! आग क्या तरल पदार्थ है जो आप उससे सींचना कह रहे हैं। यदि बोध ही न होता तो जैसे इसी अर्थवाला द्रविड़ भाषा का वाक्य सुनकर पश्चिम भारतीय चुप हो जाता है वैसे चुप हो जाता, हँसी कैसे उड़ाता। आप कहेंगे - ऐसा सुनने से शब्द द्वारा (वाक्यार्थ का) बोध नहीं होता, किंतु पदों के अर्थ स्मरण हो आते हैं. अतः हँसी उड़ाई जाती है, तो हम कहते हैं—इस श्रद्धा-जड़ता में क्या धरा है—पदों के अर्थ समझ पड़ते हैं और उनके समूहरूप वाक्य का अर्थ नहीं समझ पड़ता—यह तो निरी अन्धश्रद्धा है। अतः यह मानना चाहिए कि—बाध के ज्ञान आदि बाधित अर्थवाले वाक्य से बोधित अर्थ में प्रवृत्ति को रोकते हैं, न कि शाब्दबोध को और योग्यताज्ञान तो शाब्दबोध का कारण ही नहीं है—अर्थात् शाब्दबोध होने के लिए योग्यताज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। यही मार्ग सुन्दर है।"

अर्थात् मिथ्या योग्यताज्ञान से भी शाब्दबोध हो जाता है। सो रूपक में वास्तविक योग्यताज्ञान न होने पर भी आहार्य योग्यताज्ञान के द्वारा शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं, अतएव तो बाध के निश्चय द्वारा हटाया हुआ भी योग्यताज्ञान शाब्द-बोध का कारण हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—या तो अभेद-ज्ञान को आहार्य मानकर अथवा योग्यता ज्ञान को आहार्य मान कर—दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से, काव्य में, सर्वत्र बोध बन सकता है। अतः बाधित होने का ज्ञान आपत्तिजनक नहीं।

४—लक्षणा मानने में एक यह भी दोष है कि—तत्साहश्य का अर्थ है 'उस वस्तु में रहनेवाले धर्म से युक्त होना', इस बोध का फल 'उसके अभेद का बोध' कैसे हो सकता है? कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता कि—साधारण धर्मों से युक्त के अभेद का ज्ञान उन-उन वस्तुओं के असाधारण धर्म से युक्त के अभेदज्ञान का कारण होता हो। हम देखते हैं कि—घट और वस्त्र में 'द्रव्यत्वरूपी साधारण धर्म' के कारण अभेदज्ञान होने पर भी 'घटत्व' और 'पटत्व' के द्वारा हमें उनका भेद-ज्ञान भी होता ही है। हाँ, उलटा यह हो सकता है कि—उससे अभिन्न समझने का फल उसके धर्मों का ज्ञान उसमें हो, जैसे कि 'गंगा पर गाँव है' इस वाक्य में गंगा के तट को गंगा के प्रवाह से अभिन्न मानने का फल है गाँव में (गंगा के धर्मों) शीतलता-पवित्रता आदि का ज्ञान। सारांश यह कि—अभेदज्ञान का फल साहश्यज्ञान हो सकता है, न कि साहश्य-ज्ञान का फल अभेदज्ञान। अतः प्राचीनों का मत उचित नहीं।

और सच्ची बात तो यह है कि रूपक में अभेदज्ञान ही होता है, साहश्यज्ञान नहीं; अतएव तो

"कृपया सुधया सिञ्च हरे! मां तापमूर्च्छितम्।
जगज्जीवन! तेनाऽहं जीविष्यामि न संशयः॥

हे हरि ! मै ताप से मूर्छित हूँ। मुझे कृपारूपी सुधा (अमृत) से सींचो। हे जगत् के जीवन ! उससे मैं जी उठूँगा— इसमें संदेह नहीं।"

इत्यादिक में, कृपा का अमृत से अभिन्न होने का बोध होने पर ही उसका करण-रूप से 'सींचने' में अन्वय होता है—अर्थात् कृपा को अमृत से अभिन्न न मानकर अमृत-सदृश मानने पर वह सींचने का करण कैसे हो सकती है? और अभिन्न मानने पर ही वैसा 'सींचना' जीवन का हेतु हो सकता है—अर्थात् कृपा जब तक अमृतरूप न हो तब तक उसका 'सींचना' जीवन का हेतु नहीं हो सकता। यह है नवीनों के मत का संक्षेप।

तृतीयांत साधारण धर्मवाले रूपक का शाब्दबोध

अच्छा अब यह बताइए कि—

"गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथः।

यह (राजा) गंभीरता से समुद्र और सुंदरता से कामदेव है।"

यहाँ कैसा शाब्दबोध होगा ? सुनिए—

१—**प्राचीनों** के मत से ऐसी जगह साधारण धर्म (गंभीरता) के आगे की तृतीया ('से') का अर्थ होता है 'प्रयोज्यता' अथवा 'अभेद'। उसका लक्षणा से बोधित 'सदृश' (सादृश्य युक्त) के एक देश 'सादृश्य' में अन्वय होगा। अतः

"यह गंभीरता से समुद्र है" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"गंभीरता द्वारा सिद्ध किए जानेवाले समुद्र के सादृश्य से युक्त से अभिन्न यह (राजा)" ऐसा अथवा

"गंभीरता से अभिन्न समुद्र के धर्म (सादृश्य) से युक्त से अभिन्न यह (राजा)" ऐसा होगा। इन शाब्दबोधों को क्रमशः

सरल शब्दों में "यह गंभीरता के कारण समुद्र के सादृश्य से युक्त है" और "यह गंभीरतारूपी समुद्र के सादृश्य से युक्त है" इस तरह कहा जा सकता है।

और जो लोग बिना लक्षणा के ही अभेद संबंध द्वारा अन्वय मानते हैं उन (अर्थात् नवीनों) के मत से यह बात है कि—कवि 'मुखचंद्र' आदि ऐसे पदार्थ वर्णन करता है जो केवल अपनी इच्छा से कल्पित होते हैं। वे (संसार में) न होने पर भी अंतःकरण के परिणाम रूप होते हैं—अर्थात् वे कवि की मानस सृष्टि के पदार्थ हैं, इस संसार के नहीं। ऐसी स्थिति में भी उनमें साधारणधर्मों की प्रयोजकता है ही, क्योंकि उनका निर्माण साधारण धर्मों के अधीन है—यदि 'मुख' और 'चंद्र' में कोई साधारणधर्म न होता तो मुख को चंद्र-रूप कैसे माना जाता? अंतःकरण भी कल्पना करेगा तो किसी मूल पर ही। अतः

"यह गंभीरता से समुद्र है" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"गंभीरता द्वारा सिद्ध किए जानेवाले (प्रयोज्य) समुद्र से अभिन्न यह" इस रूप में निर्विघ्नतया हो जाता है।

अथवा तृतीया ('से') का अर्थ है 'ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का विशेषण होना' क्योंकि नैयायिकों ने "वह्निमान् धूमात्" इत्यादिक में इसी रूप में पञ्चमी के अर्थ की कल्पना की है। इस हिसाब से

"यह गंभीरता से समुद्र है" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"गंभीरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान के विशेषण समुद्र से अभिन्न यह" इस रूप में हो सकता है।

अभेद के तीन स्थल

यह रूपक (अभेद) काव्य में तीन प्रकार से आया करता है— संसर्ग रूप से, विशेष्य रूप से और विशेषण रूप से। जहाँ उपमान और उपमेय एक विभक्ति में आवें (अर्थात् दोनों प्रथमांत हों) वहाँ अभेद, किसी पद का अर्थ न होने के कारण, संसर्गरूप होता है। जैसे "बुद्धिर्दीपकला......" इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में।

जहाँ उपमान-उपमेय भिन्न भिन्न विभक्तियों में होते हैं वहाँ कहीं विशेष्यरूप होता है। जैसे—

कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-
वागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्याऽऽज्ञया।
आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यम्भोरुहां
किं चाऽऽसीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विकः॥

किशोरावस्था के क्रमशः क्षीण होते समय कृशांगी के शरीर में अखिलेश्वर (सार्वभौम) कामदेव आनेवाला था; अतः उसकी आज्ञा से, तत्काल, (कृशांगी के) मुख में पूर्णचंद्रता, आँखों में कमलों का तादूप्य और बाँकी मुसक्यान में अमृत का वास्तविक अभेद हो गया।

यहाँ 'चंद्रता', 'तादूप्य' और 'अभेद' शब्दों से रूपक (अभेद) का वणन किया गया है। यह रूपक जो लोग (शाब्दबोध में) प्रथमांत पद के अर्थ को विशेष्य मानते हैं उनके (नैयायिकों के) मत से विशेष्य है और जो लोग (शाब्दबोध में) क्रिया को विशेष्य मानते हैं उन (वैयाकरणादिकों) के मत से इसी श्लोक में कुछ फेर-फार करके 'क्त' अथवा 'क्तवतु' प्रत्ययांत क्रिया रख देने से—अर्थात् "किं चासीद-मृतस्य" के स्थान पर "संपन्नो ह्यमृतस्य" पाठ कर देने से—विशेष्य हो

सकता है, क्योंकि उस दशा में तिङंत क्रियापद न रहने से मतभेद मिट जाता है।

कहीं विशेषणरूप होता है; जैसे—

अविचिंत्यशक्तिविभवेन सुन्दरि !
प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः ।
विधुभावमञ्चतितमां तवाऽऽननं
नयनं सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥

अचिंतनीय शक्तियों की संपत्ति के कारण विख्यात कामदेव के प्रभाव से तेरा मुँह चंद्रता को और नेत्र कमल की पँखुरी की एकता को पूर्णतया प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ 'चंद्र' और 'कमल की पँखुड़ी' के अभेद रूप में 'चंद्रता' और 'एकता' शब्द लाए गए हैं और अतएव रूपकरूप हैं। वे द्वितीया विभक्ति के अर्थ 'कर्म' के विशेषण हैं।

समास-गत रूपक का शाब्दबोध

इसी प्रकार 'मुख-चंद्र' इत्यादि समस्त शब्दों में 'उपमितसमास' होने पर उपमा ही होती है और 'विशेषण-समास' हो तो रूपक होता है। ऐसे रूपकों का शाब्दबोध "शशि-पुंडरीक" आदि में पहले प्रतिपादित की गई रीति से समझना चाहिए।

व्यधिकरण रूपक का शाब्दबोध

मीनवती नयनाभ्यां कर-चरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती ।
शैवालिनी च केशैः सरसेयं सुन्दरी सरसी ॥

यह सुंदरी अच्छे रस (प्रेम + जल) वाली तलैया है जो नेत्रों से मछलियोंवाली, हाथ-पैरों से खिले कमलोंवाली और केशों से सेवारवाली है ।

इत्यादिक में 'तृतीया ('से') का अर्थ अभेद होता है। यद्यपि अभेद में प्रतियोगी* की प्रधानता होती है—उसका पहले प्रयोग होता है—तथापि अर्थ के अधीन होकर—अर्थात् यहाँ प्रधान रूपक (सुंदरीरूपी तलैया) में 'तलैया' अभेद की प्रतियोगिनी है, अतः—

"नेत्रों से मछलियोंवाली" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"नेत्रों में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी मछलियों-वाली" यह होता है और सुंदरी का 'मछलियोंवाली होना' है मछलियों से अभिन्न नेत्रों द्वारा ही हो सकता है।—अर्थात् सुंदरी मछलियोंवाली तभी समझी जा सकती है जब कि नेत्रों को मछलियों से अभिन्न समझा जाय। इस 'द्वारा' को समझाने के लिये ही मूल में 'नयनाभ्याम्' यह तृतीया लिखी गई है। अतः अंततः 'नेत्रों से मछलियोंवाली' का अर्थ होता है "मछलियों से अभिन्न—अर्थात् मछलीरूप—नेत्रोंवाली"। यह

---

* अभेद कहीं अनुपयोगित्वमुख और कहीं प्रतियोगित्वमुख होता है जैसे 'मुखं चन्द्रः' इस वाक्य का 'चन्द्रप्रतियोगिकाभेदानुयोगिताश्रय मुख' अर्थ है, यहाँ अभेद के आगे (मुख में) अनुयोगिता है, अतः यह अभेद अनुयोगित्वमुख और विधेय है। 'मुखचन्द्रः' समास में 'मुखनिष्ठाभेदप्रतियोगिताश्रय मुख' अर्थ है। यहाँ अभेद प्रतियो-गित्वमुख और उद्देश्यकोटिस्थ है। सं०

सब बात इसलिये करनी पड़ती है कि—यदि नेत्रों का अभेद मछलियों में ग्रहण किया जाय तो सुंदरी में तलैया का रूपक समर्थित नहीं होता; किंतु उलटा तलैया में सुंदरी का रूपक समर्थित होने लगता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

साधारण धर्म

रूपक में भी साधारणधर्म उपमा की तरह कहीं **अनुगामी**, कहीं **बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न**, कहीं **उपचरित** (लाक्षणिक) और कहीं **केवल शब्दरूप** होता है। और ऐसा धर्म भी कहीं शब्द द्वारा **उपात्त** (वर्णित) होता है और कहीं अर्थात्प्रतीत होने के कारण **अनुपात्त** (अवर्णित) होता है। अतः प्रत्येक पुनः दो प्रकार का हो जाता है।

उपात्त अनुगामी समान धर्म; जैसे—

जडानन्धान् पङ्गून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानथ च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब ! त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ॥

गंगास्तुति है। भक्त कहता है—हे जननी ! जो लोग जड, अंधे, लूले, जन्म से बहरे, गूँगे और ग्रहों के चक्कर में आए तथा पाप पार करने के सब रास्ते छोड़ बैठे हैं, और अतएव देवताओं द्वारा त्यागे गए हैं, एवं नरक के अंदर गिर रहे हैं उन मनुष्यों की रक्षा करने के लिये तू इस संसार में महान् औषध है।

यहाँ मूल में "त्रातुम्" इस 'तुमुन्'-प्रत्ययांत शब्द द्वारा वर्णित 'जड़-अंध आदि लोगों की रक्षा' औषध और गंगा का समानधर्म है।

अनुपात्त अनुगामी समान धर्म; जैसे—

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि त-
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्त्तं सुमनसां
सुधा-साम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु॥

हे गंगे! वह आपका जल हमारा अशुभ निवृत्त करे, जो समग्र पृथ्वी का अनिर्वचनीय समृद्ध सौभाग्य है, जो लीला से जगत् के उत्पन्न करनेवाले शिवजी का महान् ऐश्वर्य है और जो श्रुतियों का सर्वस्व, देवताओं का मूर्त्तिमान् सुकृत एवम् अमृत का साम्राज्य है।

यहाँ 'सौभाग्य' और 'गंगा-जल' में 'जहाँ-जहाँ वह न हो वहाँ वहाँ व्याप्त करनेवाली भाग्यहीनता' और 'परम उत्कर्ष उत्पन्न करना' आदि व्यंग्य समानधर्म अनुपात्त है—उसका यहाँ शब्द द्वारा वर्णन नहीं है। इसी तरह 'ऐश्वर्य' और 'गंगाजल' में 'ईश्वर का असाधारण धर्म होना', 'श्रुतियों के सर्वस्व' और 'गंगाजल' में 'परम गोपनीय होना', 'सुकृत' और 'गंगा-जल' में 'सर्वाधिक सुख उत्पन्न करना' और 'अमृत के साम्राज्य' और 'गंगाजल' में नीच से भी नीच से लेकर यावन्मात्र प्राणियों के जरा-मृत्यु का हरण कर सकना' आदि धर्म अनुगामी हैं (जो सब अनुपत्त हैं)।

बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म का विशिष्ट (वाक्यार्थ—) रूपक के प्रसंग में निरूपण हो चुका है।

उपचरित समानधर्म; जैसे—

अविरतं परकार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो विमलशारदचन्द्रिरचन्द्रिका॥

जो निरंतर परोपकार करते हैं उन सज्जनों का वचन माधुर्य की अधिकता के कारण अमृत, चित्त समुद्र और यश शरद् के चद्रमा की निर्मल चाँदनी होता है।

'यहाँ' 'अमृत' के रूपक में, उपमेय में उपचरित समानधर्म 'माधुर्य की अधिकता' शब्द द्वारा वर्णित है और 'समुद्र' आदि के रूपक में 'गंभीरता' आदि उपचरित समानधर्म अनुपात्त है।

केवल शब्दात्मक समान धर्म; जैसे—

अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥

'अक्ष-संघातों' से (शरीर—इंद्रियसमूहों से; कमल—कमलगट्टों से) चिन्हित और सदैव 'सरोग' (शरीर—रोगों से युक्त; कमल—सरोवर में रहनेवाले) देहधारियों के देह कमल ही हैं, इसमें संदेह नहीं।

यहाँ 'सरोग' आदि शब्दरूप समानधर्म उपात्त ही प्रतीत होता है, अनुपात्त नहीं। यहाँ शब्दरूप दो धर्म हैं—उनमें से प्रथम धर्म में दो अर्थों के लिये पदों के अलग अलग टुकड़े नहीं करने पड़ते—अर्थात् 'अभंगश्लेष' है और दूसरे में करने पड़ते हैं—अर्थात् 'सभंगश्लेष' है।

हेतुरूपक

यही साधारण धर्म जहाँ हेतुरूप में रखा जाता है वहाँ 'हेतुरूपक' होता है। जैसे—

पञ्चशाखः प्रभो! यस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथाऽनेन पूर्यन्ते कथं सर्वे मनोरथाः?

हे प्रभो ! जो आपका हाथ है वह कल्पवृक्ष की शाखा है, अन्यथा इसके द्वारा सबके मनोरथ कैसे पूर्ण किए जाते हैं ?

द्विरूपक

इसी तरह

प्राणेशविरहक्लान्तः कपोलस्तव सुन्दरि ! ।
मनोभवव्याधित्त्वान्मृगाङ्कः खलु निर्मलः ॥

हे सुंदरी ! प्राणनाथ के विरह से ग्लानि को प्राप्त तेरा कपोल 'मनोभवव्याधिमत्त्व' (कपोल के पक्ष में—कामजन्य विशेष आधि—मनोव्यथा—से युक्त होने; मृगांकरस के पक्ष में—मन में उत्पन्न होनेवाले रोग—क्षय—का मथन करने; और चंद्रमा के पक्ष में—कामदेव के रोग—राजयक्ष्मा—से युक्त होने) के कारण निर्मल 'मृगांक' (एक प्रकार का औषध तथा चंद्रमा) है ।

यहाँ श्लेष द्वारा मृगांक-रस और चंद्रमा दोनों का कपोल में अभेद प्रतीत होता है, अतः निरवयव 'द्विरूपक' है , क्योंकि सुंदरी में साथ ही साथ दो रूपक बताए गए हैं । 'मनोभवव्याधिमत्त्व' रूपी हेतु तो तीनों (कपोल, मृगांकरस और चंद्रमा) में श्लिष्ट है—उसके तीन अर्थ तीनों पक्षों में लग जाते हैं ।

इसी तरह अन्य प्रकार भी समझो ।

यहाँ रूपक नहीं है

"उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥

खिले कमलों के समूह के ऊपर गिरते (नित्य मधु-पान करके) मत्त भ्रमरों का उल्लास (आनंददाता), शोकरूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था उन चक्रवाकियों का निस्तार (दुःख मिटानेवाला), जिन्होंने तेज को नष्ट कर दिया था उन अंधकार के समूहों का उत्पात (नष्ट करनेवाला) और नेत्रों का पक्षपात (सहायक) एक तेज का पुंज उदयाचल के प्रांत से प्रकट हुआ।"

इस पद्य में उपमेय में उपमान का आरोप नहीं है, किंतु कारण में कार्य का आरोप है अतः रूपक नहीं होता यह प्राचीनों का कथन है। हमने भी इसी मत के अनुसार लक्षण बनाया है, अतः हमारे लक्षण के अनुसार भी यहाँ रूपक नहीं होता। पर उच्छृंखल लोग सभी आरोपों को—फिर वह उपमेय में उपमान का हो, कार्य में कारण का हो अथवा अन्य कोई—रूपक कहते हुए इस पद्य में भी रूपक कहते हैं; यह पहले ही कहा जा चुका है।

निम्नलिखित उदाहरण में क्या साधारण धर्म है ?

आप कहेंगे—

यशः सौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।
कारुण्यकुसुमाकाशः पिशुनः केन वर्ण्यते ?

चुगलखोर पुरुष यशरूपी सुगंध के लिये लहसुन, शांतिरूपी शीतलता के लिये अग्नि और दयारूपी पुष्प के लिये आकाश है। इसका वर्णन किससे किया जा सकता है ?

इस पद्य में लहसुन, अग्नि और आकाश के साथ चुगलखोर का क्या समानधर्म है जिसे लेकर यहाँ रूपक कहा जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि—यश और सुगंध, शांति और शीतलता तथा दया और पुष्प का अभेद शब्द द्वारा उपस्थित कर दिए जाने पर, बाद में, "यशरूपी सुगंध आदि के अभाव से युक्त होना" (अर्थात् जैसे लशुन सुगंध के अभाव वाला होता है—कोई सुगंध उसके पास नहीं आ सकता, वैसे ही चुगुलखोर यश के अभाववाला है, किसी का यश उसके पास नहीं आता निंदा ही आती है) यही समान-धर्म है।

अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होता?

ऐसा मानने पर भी यदि आप यह शंका करें कि—जब लहसुन और चुगलखोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब 'लहसुन-रूपी चुगलखोर' में न रहने के कारण यश और सुगंध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा और जब यश और सुगंध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब यशरूपी सुगंध से शून्य होने के कारण लहसुन और चुगलचोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा, इस तरह अन्योन्याश्रय होगा—अर्थात् बिना उस ताद्रूप्य के यह ताद्रूप्य सिद्ध न होगा और बिना इस ताद्रूप्य के वह ताद्रूप्य। तो इसका समाधान यह है कि—काव्य में सब बातों की सिद्धि कल्पनामय है और कल्पना है कवि की प्रतिभा के अधीन। अतः प्रतिभा द्वारा दोनों में से किसी भी ताद्रूप्य का पहले अथवा पीछे निर्माण किया जा सकता है और जब इस तरह एक ताद्रूप्य बन गया तो अन्य ताद्रूप्य बनने में तो कोई बाधा है नहीं, अतः ऐसी जगह अन्योन्याश्रय नहीं चल सकता। न केवल कल्पना में ही किंतु लोक में भी—कारीगर लोग केवल एक-दूसरे के सहारे खड़ी रहनेवाले ईंट-पत्थरों से विशेषप्रकार के घर बनाते पाए जाते हैं। यदि आपका अन्योन्याश्रय नवीन निर्माण की जानेवाली

वस्तुओं में लगे तो उनका कारोबार ही बंद हो जाय। अतः यह समझिए कि अन्योन्याश्रय वहीं दोष होता है जहाँ उसके कारण निर्माण असंभव हो। संभव होने पर नहीं।

रूपक-ध्वनि

अच्छा, अब रूपक की ध्वनि सुनिए। उनमें पहले—

शब्दशक्तिमूलक रूपकध्वनि; जैसे—

विज्ञत्वं विदुषां गणे, सुकवितां सामाजिकानां कुले,
माङ्गल्यं स्वजनेषु, गौरवमथो लोकेषु सर्वेष्वपि।
दुर्वृत्ते, शनितां, नृलोकवलये राजत्वमव्याहतम्,
मित्रत्वं च वहन्निकिञ्चनजने देव! त्वमेको भुवि॥

कवि राजा से कहता है—हे देव! विद्वानों के समूह में विज्ञता (व्यंग्य अर्थ—बुधत्व) को, सभ्य-समूह (साहित्यज्ञों) में सुंदर कवित्व (व्यंग्य अर्थ—शुक्रत्व) को, स्वजनों में मंगलरूप होने (व्यंग्य अर्थ—मंगलत्व) को, सब लोगों में गौरव (व्यंग्य अर्थ—गुरुत्व) को, दुश्चरित्र के विषय में (अशनिता=) वज्रत्व (व्यंग्य अर्थ—शनित्व) को, भूमंडल में राजत्व (व्यंग्य अर्थ—चंद्रत्व) को और दीनजनों में मित्रता (व्यंग्य अर्थ—सूर्यत्व) को धारण करनेवाले आप पृथ्वी पर एक हैं—आपकी बाराबरी का अन्य कोई नहीं।

यहाँ प्रकरणवशात् शब्द-शक्ति (अभिधा) नियंत्रित हो जाने पर भी 'बुधत्व' 'शुक्रत्व' आदि, जो बुध आदि ग्रहों के अभेद रूप हैं और अतएव जिन्हें रूपक कहना चाहिए, अभिव्यक्त होते हैं।

अथवा जैसे—

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्देव! त्वं सार्वभौमोऽसि॥

राजा का वर्णन है—हे देव! आप सार्वभौम (सब पृथ्वी के स्वामी × उत्तर दिशा का दिग्गज) हैं। आपने निरंतर गिरती दान-जल (हाथी के पक्ष में मद-जल) की धारा के गिराने से पृथ्वी-तल को सींच दिया है और आप 'धनदाग्रमहितमूर्त्ति' (राजा के पक्ष में—धन देने-वालों में प्रथम प्रशस्त स्वरूपवाले; दिग्गज के पक्ष में—कुबेर के आगे प्रशस्त स्वरूपवाले) हो। यहाँ दूसरा (अप्राकरणिक) अर्थ शब्दशक्ति द्वारा व्यंग्य है।

अर्थशक्ति-मूलक रूपक-ध्वनि; जैसे

कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखी! तू साँझ के समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, महल की छत का परिशीलन कर, जिससे कि कुमुद आनंद की अत्यंत अधिकता को प्राप्त हो जायँ—अर्थात् पूर्णतया खिल उठें और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—अर्थात् उनके आरंभिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ।

यहाँ 'तुम्हारा मुख कलंक और चाँदनी से युक्त चंद्रमा से अभिन्न है' यह रूपक 'कुमुदों के विकास' आदि से ध्वनित होता है, न कि 'भ्रांतिमान्'। कारण, कुमुद और दिशाएँ जड हैं और भ्रांति चेतन को ही हो सकती है; जड़ को नहीं यदि आप कहें कि—जडों में 'मुद् (आनंद)' भी नहीं हो सकती, अतः कुमुदादिकों में अवश्यमेव चेतन

होने का आरोप किया जाना चाहिए, और तब 'भ्रांति' सिद्ध हो जाती है, तो यह कुछ नहीं। कारण, मूल का 'मुत्' पद लाक्षणिक है, अतः उसका अर्थ 'विकास' होता है 'आनंद' नहीं।

अथवा यह पृथक् (अर्थात् जिसमें भ्रांति की शंका ही नहीं ऐसा) उदाहरण लीजिए—

तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं
तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने !
परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥

हे चकोरलोचने ! तुम्हारे मुख की कांतियाँ दिशाओं के आगे आए अंधकार को हरण कर रही हैं, संततों के ताप को हटा रही हैं और कमलों की शोभाओं को मूँद रही हैं।

यहाँ भी 'मुख चंद्रमा है' यह रूपक ध्वनित होता है।

'आनन्दवर्धनाचार्य' की रूपकध्वनि पर विचार

आनंदवर्धनाचार्य ने तो लिखा है—

"प्राप्तश्रीरेश कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते विकल्पानिति दधत इवाऽऽभाति कम्पः पयोधेः॥

कवि राजा से कहता है—हे देव ! आपके (समुद्र-तट पर) आने पर (आपको विष्णु समझ कर) मानो इन विकल्पों को धारण करनेवाले

समुद्र का कंप प्रतीत होता है। वह सोचता है—इन्हें लक्ष्मी मिल चुकी है, ये (जिसका भयकर अनुभव पहले हो चुका है) उस मंथन का मुझमें खेद फिर से क्यों करेंगे ? पहलेवाली (प्रलय-समय की) निद्रा की भी मैं संभावना नहीं करता; क्योंकि इस समय (पालन का अवसर होने के कारण) इनके मन में आलस्य नहीं है। फिर से सेतु बाँध रहे हों, पर यह भी क्यों ? इस समय तो सब द्वीपों के स्वामी इनके अनुगामी हैं (रावण आदि कोई द्वीपांतरवर्ती प्रतिद्वंद्वी है नहीं)।

यहाँ रूपक के सहारे काव्य की सुंदरता व्यवस्थित की गई है, अतः रूपकध्वनि है।"

पर यह लेख विचारणीय है। कारण, इस पद्य में समुद्र के कंप के हेतुरूप में तीन विकल्पों की कल्पना की जा रही है और वे तीनों विकल्प प्रस्तुत प्रसंग में, जिसका राजा विशेष्य है ऐसी और समुद्र को होने-वाली, आहार्य नहीं किंतु विष्णु के सत्य अभेद-ज्ञान रूपी, भ्रांति का ही आक्षेप करते हैं, न कि रूपक का, क्योंकि रूपक का जीवनदाता जो विष्णु का आहार्य (मिथ्या समझते हुए इच्छा से कल्पित) अभेद-निश्चय है वह कंप उत्पन्न नहीं कर सकता। समुद्र को भ्रम हो तभी वह कंपित हो सकता है, अपने आप झूठी कल्पना करके नहीं। आहार्य निश्चय है भी तो कवि को है (क्योंकि कवि की इच्छा से समुद्र का कंप कल्पित किया गया है, न कि समुद्र की इच्छा से); अतः जो (समुद्र) विकल्प कर रहा है उसे आहार्य निश्चय नहीं है और जिसे (कवि को) आहार्य निश्चय है वह विकल्प नहीं कर रहा है। आप कहेंगे—यह सब तो कवि की बुद्धि की ही बात है; समुद्र को तो विष्णु के तादूप्य का न भ्रम है न निश्चय, अतः कवि की बुद्धि के अनुसार यहाँ आहार्य निश्चय मान-कर रूपक मानना उचित है। तो यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा अज्ञात ही (अर्थात् जिसे समुद्र किंचित् भी नहीं जानता ऐसा) विष्णु का केवल

तादूप्य समुद्र के कंपित करने में अनुपयोगी ही है--क्या किसी वस्तु के अज्ञात रहते हुए उससे डरकर कभी किसी को कंप हुआ है ? अतः आप को समुद्र में भ्रांति माननी ही पड़ेगी। इस पद्य में चमत्कारिणी भी भ्रांति ही है, सो यहाँ भ्रांति की ध्वनि ही योग्य है, रूपक की नहीं।

दोष

कवि-संप्रदाय से विरुद्ध होने के कारण चमत्कार में न्यूनता कर देनेवाले 'लिंगभेद' (उपमान-उपमेय का भिन्न-भिन्न लिंगों में होना) आदि दोष रूपक में भी हो सकते हैं। जैसे--

बुद्धिरब्धिर्महीपाल! यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्कालचारुचन्द्रिरचन्द्रिका।

(लिंगभेद[1]) हे राजन्! आप की बुद्धि समुद्र है (उपमेय स्त्रीलिंग है उपमान पुल्लिग)।

(लिंगभेद २) आपका यश गंगा है (उपमेय नपुंसक है उपमान स्त्री०)।

(वचनभेद) और कृतियाँ शरदृतु के सुंदर चंद्रमा की चाँदनी है (उपमेय बहुवचन और उपमान एकवचन)।

यहाँ उपमेय-उपमान में लिंगादिक द्वारा की गई विलक्षणता उनके तादूप्य-ज्ञान के प्रतिकूल होती है—अर्थात् उनके कारण तादूप्य समझने में गड़बड़ हो जाती है, अतः दोष है।

दोषों की निर्दोषता

जहाँ कहीं कवि-संप्रदाय-सिद्ध होने के कारण चमत्कार की हानि न होती हो वहाँ, ये (लिंगभेदादिक) दोषरूप नहीं होते। जैसे—

संतापशान्तिकारित्वाद्वदनं तव चंद्रमाः ।

अर्थात् संताप को शांत करनेवाला होने के कारण तुम्हारा मुख चंद्रमा है।

इत्यादिक हेतुरूपक में यद्यपि 'मुख' नपुंसकलिंग और 'चंद्रमा' 'पुल्लिग है तथापि दोष नहीं, क्योंकि मुख को चंद्रमा कहना कवि-संप्रदाय-सिद्ध है।

रूपक समाप्त

अथ परिणामालंकार

लक्षण

जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रस्तुत में उपयोगी हो, स्वतंत्रतया नहीं, वह 'परिणाम' होता है।

रूपक से परिणाम का भेद

परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान के लिये उपयुक्त होता है—अर्थात् उपमान को बिना उपमेय से अभिन्न माने उसकी प्रस्तुत अर्थ में संगति नहीं होती, पर रूपक में ऐसा नहीं होता; किंतु उपमान

का अभेद उपमेय के लिए उपयोगी होता है। यही रूपक से परिणाम का भेद है।

उदाहरण

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रान्तस्याऽयं तरणितनयातीरनिलयः
ससन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु॥

मैं जडबुद्धि, अपार संसार में, विषम विषयरूपी जंगली रास्ते में घूम-घूमकर थक गया हूँ। मेरे चौतरफ के संताप को यमुनाजी के तट का निवासी यह हरिरूपी तमाल-वृक्ष, निवृत्त करे। (यह मेरी प्रार्थना है।)

यहाँ तमाल वृक्ष, संसार के संताप को, भागवद्रूप होने पर ही निवृत्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। तमाल वृक्ष मार्ग से थके मनुष्यों का संताप हरण करता है और रमणीय शोभा का आधार होता है, अतः उसे 'हरि' का उपमान बनाया गया है। यह परिणाम **समानाधिकरण** (उपमान-उपमेय में एक विभक्तिवाला) और **वाक्यगत*** है।

---

* 'तिरयतु' क्रिया के समासगत न होने के कारण इस परिणाम को वाक्यगत बताया गया है; क्योंकि परिणाम के लक्षण में प्रस्तुत कार्य का भी प्रवेश है। कहीं-कहीं 'हरिरिह' पाठ है, वहाँ तो वाक्यगत होने में कोई संदेह नहीं, क्योंकि वहाँ समास ही नहीं है। अतः जब तक प्रस्तुत कार्य भी समस्त पद के अंतर्गत न हो तब तक उसे पदगत परिणाम नहीं कहा जा सकता।

समासगत परिणाम; जैसे—

महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्राव-श्रावं-वचः-सुधाम्† ।
अभिमन्युसुतो राजा परां मुदमवाप्तवान् ॥

अभिमन्यु के पुत्र—राजा परीक्षित्—ने व्यासजी के पुत्र महर्षि—शुकदेवजी—के वचनामृत सुन सुनकर परम आनंद प्राप्त किया।

यहाँ भी अमृत अपने रूप में 'सुनना' क्रिया का कर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अमृत सुना नहीं पिया जाता है; किंतु वचन रूप बनकर 'सुनने' का कर्म होता है, अतः 'परिणाम' है।

व्यधिकरण (भिन्न विभक्तिवाला) परिणाम जैसे—

अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन
ज्योत्स्नावती चाऽपि शुचिस्मितेन।
एषा हि योषा सितपक्षदोषा
तोषाय केषां न महीतले स्यात् ॥

सुंदर मुख द्वारा पूर्ण चंद्रमावाली और शुद्ध मंदहास द्वारा चाँदनी-वाली यह शुक्ल पक्ष को रात्रिरूपी युवती पृथिवीतल पर किसे संतुष्ट नहीं कर सकती ? अर्थात् सभी को संतुष्ट कर सकती है ?

यहाँ 'सभी को संतुष्ट कर सकती है' इससे 'विरही लोगों को संतुष्ट कर सकती है' यह भी प्राप्त होता है। यह बात आरोपित की जाने वाली 'शुक्ल पक्ष की रात्रि' के लिये अपने रूप में बाधित है और यदि

---

† 'श्राव-श्रावं-वचः-सुधाम्' इति विशिष्टं समस्तमेकं पदम्, मयूर व्यंसकादित्वात्। स्नात्वा—कालक इतिवत्। प्रकृतकार्योपयोगित्वञ्चास्य-न्तस्य परिणामशरीरत्वात्।—गुरुमर्मप्रकाशः।

'शुक्ल पक्ष की रात्रि' को युवतीरूप माना जाय तो संगत हो जाती है, अतः यहाँ भी 'परिणाम' है और वह परिणाम परस्पर की अपेक्षा रखने वाले बहुतेरे परिणामों का समूहरूप होने से 'सावयव' है। उनमें से पूर्वार्ध में आए हुए दो अवयव व्यधिकरण हैं, क्योंकि वहाँ उपमान और उपमेय भिन्न विभक्तियों में आए हैं; और उत्तरार्ध का एक परिणाम समानाधिकरण है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने व्याधिकरण परिणाम का उदाहरण यों दिया है—

"तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-
च्छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनाऽस्त्रिणे
नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेयं नतिः॥

चंद्रमा जिनका शिरोभूषण है, जो जगत के आधार हैं, जिनकी ग्रीवा मेघ की कांति को धारण करती है और पार्वती का साथ ही जिनका एक शृंगार है ऐसे नदी (गंगा) द्वारा शिरोभूषणवाले, भाल-नेत्र द्वारा तिलकवाले, नारायण द्वारा अस्त्रोंवाले, साँपों द्वारा कंकणवाले और पर्वत द्वारा घरवाले (हमारे) स्वामी के लिये यह नमस्कार है।

अथवा जैसे—

द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरुक्त्यं, विकल्प-
श्चिन्तारत्नस्य, वीप्सा तपनतनुभुवो, वासवस्य द्विरुक्तिः।
द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलिकारस्य कुर्व-
न्नानन्दं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहक्षितीन्दुः॥

जो कामदेव का दुहराना है, कल्पवृक्षों की पुनरुक्ति है, चिंतामणि का विकल्प है, (राजा) कर्ण का बार-बार कथन है, इंद्र की दुबारा उक्ति है और दैत्य-राजों के नाश की लीला करनेवाले देव (विष्णु) का द्वैत (द्वितीय रूप) है वह श्रीनृसिंह नरेश विद्वानों को आनंद उपजाता हुआ जगत् में उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।"

इन उदाहरणों पर विचार किया जाता है—

"तारानायकशेखराय..." इस पद्य में 'पार्वती का साथ जिनका एक शृंगार है' उन भगवान् शिव के विषय में कवि द्वारा नमस्कार उक्त है और यह शृंगार शिरोभूषण आदि आभूषणों की अपेक्षा रखता है, अतः 'नदी' का आरोपित किए जानेवाले शिरोभूषण के रूप में ही उपयोग है, न कि नदी के रूप में। इसी तरह नेत्र का भी तिलक के रूप में ही उपयोग है, अतः शुद्ध रूपक ही होना चाहिए, परिणाम नहीं।

आप कहेंगे—"परिणाम में उपमान उपमेय से अभिन्न होकर रहता है" यह कहा जा चुका है और प्रस्तुत पद्य में उपमेयवाचक नदी आदि शब्दों के आगे की तृतीया विभक्ति का अर्थ अभेद है और उस अभेद के साथ 'सेहरा=शिर का भूषण' आदि का अन्वय होता है, अतः 'नदी द्वारा सेहरेवाले' का अर्थ होगा 'नदी से अभिन्न सेहरेवाले—अर्थात् नदीरूपी सेहरावाले'। ऐसी दशा में नदी का अभेद सेहरे में होता है, न कि सेहरे का अभेद नदी में। फिर यहाँ परिणाम कैसे नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि इस पद्य में उपमेय से अभिन्न उपमान (नदीरूप सेहरे) की (शब्दतः) प्रतीति होती है, तथापि प्रस्तुत विषय में उसका उपयोग उस रूप में नहीं होता, किंतु मानसिक रूप में प्रतीत 'सेहरेरूपी नदी' के रूप में होता है। अतः आप का यह समाधान उचित नहीं।

'द्विर्भावः पुष्पकेतोः...'इस पद्य में भी राजा नृसिंह के विषय में 'विद्वानों को आनंद उत्पन्न करना' और 'जगत् में उत्कृष्ट होना' ये दो बातें कही जा रही हैं। उनमें से 'विद्वानों को आनंद उत्पन्न करना' भी जैसा आरोपित किए जानेवाले 'दूसरे कामदेव' आदि के रूप में बन सकता है वैसा केवल अपने रूप में नहीं बन सकता। देखिए, 'ओह! हमारे नेत्रों की सफलता कि (इनके द्वारा) दूसरे कामदेव को हम देख रहे हैं' यह माननेवाले विद्वानों के नेत्रों के लिए आनंद 'कामदेव' द्वारा ही सिद्ध किया जा रहा है, न कि राजा द्वारा। इसी तरह 'यह निराला कल्पवृक्ष और चिंतामणि है', 'दूसरा कर्ण है और पृथ्वी गत अन्य इंद्र' है—यह हमारी दरिद्रता हर लेगा। 'यह हरि है' अतः हमारा संसार निवृत्त कर देगा—इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला आनंद भी 'कल्पवृक्ष' आदि के द्वारा ही बन सकता है, राजा द्वारा नहीं। अतः यहाँ उपमान का उपमेय के रूप में उपयोग नहीं है, किंतु उपमान के रूप में ही है। फिर यहाँ परिणाम कहाँ है?

'अलङ्कारसर्वस्व'—कार का खंडन

'अलंकारसर्वस्व'-कार ने तो

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।

अर्थात् आरोपित किया जानेवाला प्रकृतोपयोगी हो तब 'परिणाम' होता है।'

यह सूत्र बनाकर इसकी व्याख्या यों की है—"रूपक में आरोपित किया जानेवाला प्रकृत में उपयोगी नहीं होता—उसका प्रस्तुत कार्य में विषय के साथ कोई संबंध नहीं होता; अतः केवल प्रकृत का उपरंजन (जानते हुए भी झूठे तादूप्य के निश्चय) करने के कारण ही उसका

प्रस्तुत में अन्वय होता है। पर परिणाम में तो आरोपित किए जाने वाले का प्रकृत (उपमेय) के रूप में उपयोग होता है, अतः प्रकृत आरोपित किए जानेवाले (उपमान) के रूप में परिणत होता है।"

इस विषय में भी यहाँ विचार किया जाता है—'आरोपित किए जानेवाले का जब प्रकृत में उपयोग हो' इस आप के सूत्र के विषय में हम आप से पूछते हैं कि—'प्रकृत में उपयोग' इसका क्या अर्थ है? 'प्रकृत कार्य में उपयोग' अथवा 'प्रकृत—उपमेय—के रूप में उपयोग'? यदि आप प्रथम अर्थ करें—अर्थात् कहें कि 'प्रकृत कार्य में उपयोग' यह अर्थ अभीष्ट है—तो यह नहीं बन सकता। कारण,

"दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि! नाऽस्मि दूये।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यत्खिद्यते तव पदं ननु सा व्यथा मे॥

नायक मानिनी नायिका से कहता है—हे सुन्दरि! दास यदि अपराध करे तो उस पर स्वामियों का लात मारना उचित होता है—ऐसा करने में कोई अनुचितता नहीं। अतः मैं दुःखित नहीं हूँ, पर तुम्हारा पैर, उठते हुए कठोर रोमांचों के अंकुररूपी काँटों की नोंकों से, खिन्न हो रहा है; बस, यही मुझे दुःख है।"

इस आपके उदाहृत रूपक के उदाहरण में आरोपित किए जाने वाले 'काँटों' का, प्रकृत कार्य '(नायिका के) खेद से (नायक के) दुःख' में होता है; अतः इस रूपक में आप के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

अब यदि दूसरा अर्थ करें—अर्थात् कहें कि 'आरोपित किए जानेवाले का उममेय के रूप में उपयोग' यह अर्थ अभीष्ट है, तो यह भी नहीं हो सकता। कारण,

"अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्भिः
सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्त्तुरुपायनं चकार
प्रथमं तत्परतस्तुरङ्गमाद्यैः॥

उसने पहले मुखरूपी पथ के पथिक और परिपक्व, अतएव सरस, वचनों द्वारा राजा का उपायन ('नजर'— भेंट) किया, बाद में घोड़ा आदि द्वारा।'

इस पद्य में आपका कहा हुआ 'व्यधिकरण परिणाम' का उदाहरण असंगत हो जायगा। क्योंकि राजा से मिलने में, आरोपित किए जानेवाले 'उपायन' का 'उपायन' के रूप से ही उपयोग है, न कि बचनरूपी उपमेय के रूप से। प्रत्युत उपमेयरूप में आए 'वचनो' का उपायन के रूप में उपयोग होता है, अतः यह उदाहरण आपके लिये विपरीत हो जाता है। (सो या तो अपने लक्षण का यह अर्थ न करिए अथवा उदाहरण को असंगत मानिए; पर है वस्तुत; आपके लक्षण का यही अर्थ) अतः हमारा दिया हुआ ही व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण ठीक है। आपका उदाहरण तो 'व्यधिकरण रूपक' का हो सकता है। रही तृतीया विभक्ति ('वचोभिः आदि) के अर्थ—भेद—की बात, सो उसका अनुयोगी जैसे "मीनवती नयनाभ्याम्..."इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों में प्रकृति के अर्थ ('मीन' आदि) को माना गया है वैसे यहाँ भी 'वचन' आदि को उसका अनुयोगी मानना चाहिए। यह समझ रखिए।

कुछ विद्वानों का मत

'परिणाम' 'रूपक' से अतिरिक्त नहीं है

कुछ लोगों का कथन है कि—"परिणाम दो प्रकार से होता है। कहीं केवल उपमेय अपने रूप से प्रस्तुत में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे आरोपित किए जानेवाले से अभिन्न होकर रहना पड़ता है। ऐसी जगह प्रस्तुत का आरोपित किए जानेवाले के रूप में—अर्थात् उपमेय का उपमान के रूप में—परिणाम होता है। जैसे

'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ।

अर्थात् कृशांगी चद्ररूपी मुख से नेत्रों को शीतल कर रही है।'

यहाँ मुख को चंद्रमा से अभिन्न होकर रहना पड़ता है; क्योंकि केवल मुख आँखें ठडी नहीं कर सकता। और कहीं आरोपित किया जानेवाला अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे उपमेय से अभिन्न होकर रहना पड़ता है। ऐसी जगह उपमान का उपमेय के रूप में परिणाम होता है। जैसे—

वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति

अर्थात् कृशांगी मुखरूपी चंद्र से काम-संताप को निवृत्त कर रही है।

यहाँ चंद्रमा को मुख से अभिन्न होकर रहना पड़ता है; क्योंकि केवल चंद्रमा काम-संताप नहीं मिटा सकता।

इस तरह इन दोनों परिणामों के रूप में रूपक ही होना उचित है। कारण, हमारे हिसाब से रूपक का लक्षण यह होना चाहिए कि—उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) अथवा उपमानतावच्छेदक

('चंद्रत्व आदि) दोनों में से किसी एक को आगे रखकर निश्चित की जानेवाली उपमानरूपता अथवा उपमेयरूपता दोनों में से किसी को भी रूपक कहा जा सकता है। अतएव तो मम्मटभट ने कहा है कि

'तद्रुपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अर्थात् उपमान-उपमेय का जो अभेद होता है (उन दोनों में से चाहे कोई किसी के रूप में परिणत हो) वह रूपक कहलाता है।'

अतः रूपक से परिणाम अतिरिक्त अलंकार नहीं है*।"

शाब्दबोध

१—वाक्य—'हरि-नवतमाल' का

शाब्दबोध—'हरि से अभिन्न नव तमाल' यह होता है। इस विषय में किसी को कोई आपत्ति है ही नहीं। इस शाब्दबोध को।

सरल शब्दों में—'हरिरूपी नव तमाल' कह सकते हैं।

२—वाक्य—'श्रावं श्रावं वचः सुधाम्—वचनामृत सुन सुनकर' का

शाब्दबोध—'वचन से अभिन्न अमृत' होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'वचनरूपी अमृत' यों कहा जा सकता है।

यहाँ 'वचनामृत' शब्द 'विशेषण-समास' में आया है, अतः ऐसा शाब्दबोध होता है। और "पायं पायं वचः सुधाम्—वचनामृत पी पीकर"

---

* इस मत में अरुचि यह है कि—चमत्कार के मूल कारण का भिन्न होना ही अलंकार के भिन्न होने का कारण है और रूपक में उपमान का चमत्कार होता है तथा परिणाम में उपमेय का। अतः अन्य अलंकारों की तरह इन्हें भी भिन्न मानना ही उचित है।

इस रूपक में तो ('मयूरव्यंसकादि' समास होने के कारण) "वचन में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी अमृत (अर्थात् अमृत से अभिन्न वचन= अमृतरूपी वचन)" यह बोध होता है।

३—और इस तरह

"वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति"

इस वाक्यगत परिणाम में और

"वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ"

इस वाक्यगत रूपक में शाब्दबोधों की विलक्षणता हो जाती है।

कारण, पूर्वोक्तरीत्या परिणाम में "मुख से अभिन्न चंद्र" यह बोध होता है और रूपक में "चंद्र से अभिन्नमुख" यह बोध होता है।

वैसे ही—

"शान्तिमिच्छसि चेदाशु सतां वागमृतं शृणु।
हृदये धारणाद्यस्य न पुनः खेदसंभवः॥

यदि तू शांति चाहता है तो शीघ्र ही सज्जनों का वचनामृत सुन, जिसके हृदय में धारणा करने से फिर खेद की उत्पत्ति नहीं होती।"

इस परिणाम में, और इसी श्लोक में 'शृणु' के स्थान पर 'पिब' पाठ कर देने से रूपक बन जाने पर, एवम्

"विद्धा मर्माणि वाग्बाणैर्घूर्णन्ते साधवः खलैः।
सद्भिर्वचोऽमृतैः सिक्ताः पुनः स्वस्था भवन्ति ते॥

दुष्टों द्वारा वचन-बाणों से मर्मस्थल में घायल किए गए सत्पुरुष चक्कर खाने लगते हैं और वे ही सत्पुरुषों द्वारा वचनामृत से सींचे गए पुनः स्वस्थ हो जाते हैं।"

इस रूपक में बोधों की व्यवस्था हो जाती है। अर्थात् जितना भेद पूर्वोक्त परिणाम और रूपक के शाब्दबोधों में है उतना ही भेद इनमें भी है। तथा

"अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन
ज्योत्स्नावती चाऽपि शुचिस्मितेन।

सुंदर मुख द्वारा पूर्ण चंद्रमावाली और शुद्ध मंदहास द्वारा चाँदनी-वाली" इस 'व्यधिकरण परिणाम' में तृतीया ('द्वारा') का अर्थ अभेद होता है, अतः

"सुंदर मुख द्वारा पूर्ण चंद्रमावाली" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"सुंदर मुख से अभिन्न पूर्ण चंद्रमावाली" यह होता है।

'मीनवती नयनाभ्याम्...' इत्यादि पूर्वोक्त (व्यधिकरण) रूपक में तो, प्रथमतः सुंदरी में सरसी का तादूप्य बाधक के अभाव के कारण सिद्ध है—उसमें तो किसी तरह की बाधा है नहीं। पर उसका समर्थन, 'मछलियों में नेत्रों के अभेदारोप' द्वारा, न हो सकने के कारण 'नेत्रों में मछलियों का अभेदारोप' ढूँढ़ना पड़ता है। यह अर्थ तृतीया को अपनी प्रकृति (नेत्र आदि) के अभेद के अर्थ में आई हुई मानने पर नहीं बन सकता; अतः किसी भी तरह (अर्थात् पूर्वोक्तरीत्या मानसरूप में) तृतीया का अर्थ होना चाहिए 'प्रकृति के अर्थ (नेत्र आदि) में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिता' और वैसा मान लेने पर 'मीनवती

नयनाभ्याम्' का शाब्दबोध 'नेत्रों में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी मछलियोंवाली—अर्थात् नेत्रों से अभिन्न मछलियोंवाली' यह होता है। सो इस तरह वहाँ आरोपित किए जानेवाले (उपमान—'मछली' आदि) में उपमेय ('नेत्र' आदि) का अभेद प्रतीत नहीं होता, किंतु उपमेय में उपमान का अभेद प्रतीत होता है, अतः वहाँ 'परिणाम' नहीं, किंतु रूपक होता है।

यही पद्धति 'नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने' इत्यादि अप्पयदीक्षित के उदाहरण में और 'वचोभिरुपायनं चकार' इस अलंकारसर्वस्वकार के उदाहरण में भी समझनी चाहिए। अर्थात् इन पद्यों में परिणामालंकार नहीं, किंतु रूपकालंकार है अतः उनका शाब्दबोध रूपकका-सा होना चाहिए।

यदि आप कहें कि—किसी भी प्रकार से उपमेय के अभेद की प्रतीति का नाम ही परिणाम है, उसका प्रकृत में उपयोग हो या नहीं। तो फिर

"कुरङ्गीवाऽङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो! वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्॥

सखी नायिका के विषय में सखी से कह रही है—ओह! मैं समझती हूँ कि—इसके हृदय में कामदेव नवीन प्रेम-लता को सींचने में प्रवृत्त हो गया है, क्योंकि यह संगीत की ध्वनियों के समय अंगों को हरिणी की तरह निश्चल कर देती है, प्रियतम के सुने हुए वृत्तांत को भी सखी से पुनः पूछती है और अंदर से बिना निद्रा के ही सोती है—रहता है इसे उजागरा, पर दिखाने को सो जाती है।'

यहाँ 'प्रेम-लतिका' में अप्पयदीक्षित का उदाहृत रूपक भी परिणाम होने लगेगा। कारण, 'प्रेम लतिका' इस समस्त पद में उपमेय प्रेम, अभेद संबंध द्वारा, आरोपित की जानेवाली (उपमान) 'लतिका' का विशेषण बन रहा है। ऐसी दशा में हमारी प्रक्रिया न मानने पर प्रेम का अभेद लता में प्रतीत होगा, न कि लता का अभेद प्रेम में; और तब यहाँ रूपक नहीं, किंतु परिणाम होने लगेगा। अतः कृपा कर 'नद्या शेखरिणे' आदि उदाहरणों में रूपक ही मानिए, परिणाम नहीं।

यह है शाब्दबोध का संक्षेप।

परिणाम की ध्वनि

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने प्रथम तो विद्याधर के कहे ध्वनि के उदाहरण में दोष दिखाए हैं। वे कहते हैं—

"नरसिंह धरानाथ! के वयं तव वर्णने।
अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते॥

हे भूमिपति नरसिंह! हम तेरे वर्णन करने में कौन हैं? जिसका यश राजा (वस्तुतः—इंद्र) का भी आक्रमण करके विजृंभित हो रहा है।

इस पद्य में 'राजा' पद से 'चंद्रमा' रूपी उपमेय शब्दतः वर्णित है। उसमें आरोपित किए जानेवाले ('राजा' शब्द के द्वितीय अर्थ) 'नरेश' की, जो आक्रमण करने रूपी का॰ में उपयोगी है, प्रतीति हो रही है। अतः परिणाम ध्वनित होता है।" यह विद्याधर ने लिखा है सो उचित नहीं, क्योंकि आक्रमण में (चंद्रमा पर) आरोपित किए जानेवाले नरेश का नरेश (उपमान) के रूप में ही उपयोग है, चंद्रमा (उपमेय) के

रूप में नहीं। सो यहाँ उपमेय के रूप में उपमान के परिणत न होने के कारण परिणाम की ध्वनि नहीं मानी जा सकती।'

यह अप्पयदीक्षित का कथन ठीक नहीं। कारण, यहाँ विजृंभित होने का अर्थ कवि को केवल 'धृष्टता से फैलना' मात्र अभीष्ट नहीं है कि जिसके कारण यश द्वारा किए जानेवाले आक्रमण में 'नरेश' का 'नरेश' के रूप में ही—आक्रमण क्रिया का कर्म होना रूपी—उपयोग हो; किंतु 'विजृंभित होने' का अर्थ कवि को अभीष्ट है 'सर्वाधिक निर्मलतारूपी गुण से युक्त होने॰ रूपी विषय में अपने अन्य सजातीय के अभाव द्वारा सिद्ध होनेवाला एक प्रकार का उत्कर्ष' और आक्रमण का अर्थ तो 'नीचा करना' है ही। सो ऐसे 'विजृंभित होने' में वही 'आक्रमण' क्रिया उपयुक्त हो सकती है, जिसका कर्म चंद्रमा हो, न कि जिसका कर्म नरेश हो वह। (क्योंकि यश का सजातीय चंद्रमा है, नरेश नहीं।) सो यद्यपि 'राजा' शब्द से उपमानरूप में 'नरेश' अर्थ ध्वनित होता है, तथापि आक्रमण में उसका उपयोग चंद्ररूप से ही होता है। अतः विद्याधर का कहा हुआ 'परिणाम-ध्वनि' का उदाहरण सुंदर ही है—उसमें दोष दिखाने की चेष्टा व्यर्थ है*।

---

*नागेश कहते हैं—'राजा' और 'विजृंभित होना' शब्द अनेकार्थक हैं और यहाँ प्रकरणादिक शक्ति का संकोच करते नहीं। अतः यहाँ, प्रथम तो, श्लेष ही मानना उचित है। यदि उस दशा में 'राजा' शब्द में द्विवचन होने की आपत्ति और उसके उत्तर में क्लिष्टकल्पना दिखाई दे तो आरोप मान लीजिए। पर तब भी 'नरेश' अर्थ को ही उपमान और 'चंद्र' अर्थ को ही उपमेय माना जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसी अभिप्राय से अप्पयदीक्षित ने इस उदाहरण का खंडन भी किया है। इतने पर भी यदि पंडितराज का यह दावा हो कि कवि का

यह तो हुई विद्याधर (विद्यानाथ) के उदाहरण की बात। अब स्वयं अप्पयदीक्षित को लीजिए। उन्होंने अन्य के उदाहरण में दोष दिखाकर स्वयं परिणाम के ध्वनित होने के विषय में कहा है—

"चिराद्विषहसे तापं चित्त ! चिन्तां परित्यज।
नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः ॥

हे चित्त ! तू बहुत समय से संताप सह रहा है। तू चिंता छोड़ दे। श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नखरूपी शीतल चंद्रमा निश्चय ही विद्यमान है।

यहाँ बहुत समय से संताप-पीड़ित अपने चित्त के प्रति 'श्रीकृष्ण के चरणारविंद का नख विद्यमान है' यह दिखाने से परिणाम ध्वनित होता होता है कि—तू उसी का सेवन कर, उसके सेवन से यह तेरा ताप शांत हो जायगा।"

यह कथन निस्सार है। कारण, अप्पयदीक्षित ने स्वयं ही लिखा है कि—"आरोप्यमाणस्य विषयात्मकत्वेन प्रकृतकार्योपयोगे परिणामः— अर्थात् जब उपमान का, प्रस्तुत कार्य में, उपमेय के रूप से उपयोग हो तब परिणाम होता है।" इस लक्षण में केवल प्रस्तुत कार्य में उपयोग ही परिणाम का स्वरूप नहीं है, किंतु उपमान में रहनेवाली प्रस्तुत कार्य

तात्पर्य जिस प्रकृत कार्य (अर्थात् हमारे लिखे 'विजृंभित होने' के अर्थ) में है उसमें वैसा मानना अनुपयोगी होगा, तो हम कहते हैं कि—'प्रकृत कार्य वही है' इसमें क्या प्रमाण है ?

पर नागेश इस बात को भूल जाते हैं कि—विद्यानाथ ने अपना पद्य पंडितराज के बताए तात्पर्य के अनुसार ही लिखा है, अन्यथा वे उसे 'परिणाम-ध्वनि' का उदाहरण क्यों बनाते ?—अनुवादक।

की उपयोगिता का अवच्छेदक—अर्थात् उपयोगिता को विलक्षण सिद्ध करनेवाला—उपमेय का तादूप्य ही परिणाम का स्वरूप है। सारांश यह कि—परिणाम उपयोगिता का नाम नहीं, किंतु उपयोगिता के अवच्छेदक तादूप्य का नाम है। ऐसी दशा में इस पद्य में 'नखचंद्र की विद्यमानता' दिखाने द्वारा 'उसके सेवन से तेरा यह ताप शांत हो जायगा' इस तरह (उपमान की उपमेय के रूप से) प्रस्तुत कार्य में उपयोगिता व्यंग्य होने पर भी, उस उपयोगिता के अवच्छेदकरूप 'उपमान में उपमेय के तादूप्य' के, जिसका नाम परिणाम है, (वैयाकरणों के मत से) वाक्य द्वारा वाच्य होने के कारण, अथवा (नैयायिकों के मत से) शक्यार्थ के संसर्गरूप से भासित होने के कारण, यहाँ परिणाम की व्यंग्यता कहना सर्वथा ही अनुचित है।

उदाहरण

परिणामध्वनि का यह उदाहरण उचित है—

> **इन्दुना पर-सौन्दर्य-सिन्धुना बन्धुना विना।**
> **ममाऽयं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते॥**

परम सुंदरता के समुद्र (मेरे) बंधु चंद्रमा के विना यह मेरा विषम ताप और किससे दूर किया जा सकता है?

यहाँ वक्ता विरही है। अतः ध्वनित होनेवाले सुंदरी के वदन से अभिन्न रूप में चंद्रमा अभीष्ट है—अर्थात् उसे सुंदरी का मुखरूपी चंद्रमा चाहिए, अन्य नहीं, क्योंकि प्रस्तुत विरह-ताप के शांत करने का हेतु मुख ही है, केवल चंद्रमा नहीं।

आप कहेंगे—इस पद्य में परिणाम व्यंग्य नहीं है, किंतु अतिशयोक्ति है; क्योंकि यहाँ उपमान (चंद्र) के द्वारा उपमेय (मुख) का निगरण

है—'मुख' पद के स्थान पर ही 'चंद्र' पद आया है। पर यह ठीक नहीं। कारण अतिशयोक्ति में उपमेय की प्रतीति उपमान से अभिन्न रूप में होती है। जैसे "कनक-लता में कमल" यहाँ "कनक-लता से अभिन्न कामिनी में कमल से अभिन्न मुख" यह प्रतीति होती है। अब इधर आइए, यहाँ मुख के चंद्रमा से अभिन्न रूप में प्रतीति होने पर तो 'विरह-ताप की शांति' रूपी प्रस्तुत कार्य का सिद्धि हो नहीं सकती, अतः आरोपित किए जानेवाले चंद्रमा का मुखरूपी उपमेय से अभिन्न होना ढूँढ़ने की आवश्यकता है। सारांश वह कि—यहाँ चंद्रमा का अभेद मुख में होने से काम नहीं चल सकता, किंतु मुख का अभेद चंद्रमा में होना चाहिए। सो यह बात 'मुख के ताद्रूप्य' के व्यंग्य होने पर ही हो सकती है। अतः यह परिणाम की ध्वनि है, अतिशयोक्ति नहीं। यह ध्वनि अर्थशक्ति-मूलक है।

शब्द-शक्ति-मूलक परिणाम की ध्वनि; जैसे—

पान्थ मन्दमते ! किं वा संतापमनुविन्दसि ।
पयोधरं समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः ॥

हे मन्दबुद्धि पथिक ! तू क्यों संताप पा रहा है ? पयोधर (मेघ, वस्तुतः—स्तन) की चाहना कर, जिससे कि शांति मिले।

यहाँ प्रथमतः ताप-शांति का हेतु होने के कारण 'पयोधर' शब्द का मेघरूप अर्थ उपस्थित होता है। पर बाद में (बुद्धि के विशेषण) 'मंद' शब्द द्वारा जानने योग्य—अर्थात् विरह-निवृत्ति का उपाय न सोच सकने के कारण जिसकी बुद्धि को 'मंद' कहा गया है वह—(विरही) जिसका विशेष्य है उस काम-संताप से युक्त होने का बोध होने पर सहृदय को, मेघ में, वैसे (विरहजन्य) ताप को शांत करने-

वाले सुंदरी के स्तनरूपी उपमेय के तादूष्य का ज्ञान होता है। अतः यहाँ परिणाम की ध्वनि है।

दोष

परिणामालंकार में दोषों की तर्कना रूपकवत् कर लेनी चाहिए।

परिणाम समाप्त

स-संदेहालंकार

लक्षण

सादृश्य के कारण होनेवाला एवं जिनमें परस्पर विरोध भासित होता हो ऐसी समान बलवाली अनेक कोटियों का अवगाहन करनेवाला ज्ञान, सुंदर होने पर, 'स-संदेह' अलंकार कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

अधिरोप्य हरस्य हन्त ! चापं
परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम्।
परिणेष्यति वा न वा युवाऽयं
निरपायं मिथिलाधिराजपुत्रीम्॥

हाय ! शिवजी के धनुष को चढ़ाके और बांधवों का संताप शांत करके यह युवक (भगवान् राम) जनक-नंदिनी को निर्विघ्न ब्याहेगा अथवा नहीं !'

मिथिलापुरी के निवासियों की इस उक्ति में; उनकी चिंता के अभिव्यक्त करनेवाले संदेह में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'सादृश्य के कारण होनेवाला' यह लिखा गया है, जिसका अर्थ है 'सादृश्य के ज्ञानरूपी दोष से उत्पन्न होनेवाला'। ऐसा अर्थ करने का फल यह है कि 'सिंहवत् प्रान्तरं गच्छ गृहं सेवस्व वा श्ववत्—अर्थात् या तो सिंह की तरह निर्जन वन में चला जा या कुत्ते की तरह घर की सेवा करता रह।' इस उपमा के विकल्प में स्थित 'या' पद द्वारा जिनमें विरोध प्रतीत हो रहा है उन 'निर्जन वन में जाने" और "घर की सेवा करने' रूपी अनेक कोटियों के अवगाहन करनेवाले, सादृश्य के विषय में हुए भी, संदेह में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योकि यह संदेह 'सादृश्य के ज्ञानरूपी दोष से उत्पन्न नहीं है, किंतु सादृश्य के विषय में हुआ है।'

'मालारूपक' में भी समान बलवाली सादृश्यमूलक अनेक कोटियों का ज्ञान होता है। उसमें अतिव्याप्ति न होने के लिये 'जिनमें परस्पर विरोध भासित होता हो' यह लिखा गया है।

उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'समान बलवाली' यह लिखा गया है,जिसका अर्थ है'जिनमें भासित करने की सामग्री समान रूपमें हो ऐसी।' उत्प्रेक्षा में विधेय कोटि में भासित करनेवाली सामग्री प्रबल या अधिक होती है, अतः उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

'जिनमें परस्पर विरोध भासित होता हो' और 'समान बलवाली' इन्हीं दोनों विशेषणों से प्राप्त हुई कोटियों की अनेकता को स्पष्ट करने के लिये 'अनेक' यह विशेषण दिया गया है।

'ठूँठ है अथवा मनुष्य है' इस लौकिक संदेह की निवृत्ति के लिये लक्षण में 'सुंदर होने पर' यह लिखा गया है, जिसका अर्थ है 'चमत्कार-युक्त।' यह विशेषण सामान्य अलंकार-लक्षण से प्राप्त ही है—अर्थात्

जो सुंदरता सब अलंकारों में होती है वह इसमें भी होनी चाहिए यही इसका अर्थ है। इसी तरह 'सुशोभित करनेवाला' यह विशेषण भी समझ लीजिए।

जिस संदेह में ये दोनों विशेषण (घटित) न हों और जो संदेह सादृश्यमूलक न हो तो वह संदेहालंकार नहीं, किंतु केवल संदेह होता है, अर्थात् उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता।

दूसरा लक्षण

यदि आप कहें कि—संदेह में विरोध भासित नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने में कोई प्रमाण नहीं; किंतु संदेह का अर्थ है—'ऐसी अनेक कोटियोंवाला ज्ञान जो कोटियाँ अविरोधी होने के ज्ञान से रहित हों—अर्थात् वे वास्तव में विरोधी हों या न हों पर उनके विषय में हमें विरोधी न होने का ज्ञान न होना चाहिए'। तो संदेहालंकार का लक्षण यह समझिए—

सादृश्य के कारण होनेवाला और निश्चय तथा संभावना इन दोनों में से किसी भी एक के रूप में न होनेवाला बोध, सुंदर होने पर, 'संदेहालंकार' कहलाता है।

भेद और उदाहरण

'स-संदेहालंकार' शुद्ध (केवल संदेह), निश्चयगर्भ (जिस संदेह के अंदर निश्चय हो) और निश्चयांत (जिस संदेह के अंत में निश्चय हो) इस तरह तीन प्रकार का होता है।

शुद्ध स-संदेह; जैसे—

मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूराद्दषिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे॥

भगवान् राम का वन-गमन-वर्णन है—रामचंद्र को दूर से देखकर ऋषिसमूहों को वहाँ यह संदेह हुआ कि—यह मरकत मणियों (पन्नों) का पहाड़ है अथवा अत्यंत यौवनयुक्त तमाल का वृक्ष है।

निश्चयगर्भ स-संदेह जैसे—

तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा।
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा कुतः ?
इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकै-
र्वनवसतिभिः कैः कैरादौ न सन्दिदिहे जनैः ॥

रामचंद्र की शरीर-कांति देखने में कौतुकयुक्त किन-किन वनवासियों को, प्रथमतः, यह संदेह नहीं हुआ कि—क्या यह यमुना होगी; नहीं; वह तो जलमयी है। तो क्या मरकतमणियों की कान्ति होगी; नहीं; वह मधुर कैसे हो सकती है—उसमें ऐसी मधुरता कहाँ से अवेगी ?

निश्चयांत स-संदेह; जैसे—

चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः।
गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी निरणैषीदथ तां वियोगिनीति ॥

हनुमान् ने जब अशोकवाटिका में सीता को देखा तो वे इस संदेह में डूब गए कि—यह या तो मेघ से गिरी हुई बिजली है या किसी प्रधान वृक्ष से गिरी हुई लता है। तदनंतर बुद्धिमान् हनुमान् ने बड़े-बड़े निसासों द्वारा निर्णय किया कि यह (न बिजली है, न लता, किंतु) वियोगिनी है—रामचंद्र से वियुक्त जानकी है।

इन संदेहों को मंजूषा आदि में रक्खे हुए कंकण आदि की तरह (क्योंकि वर्त्तमान अवस्था में उनके किसी को शोभित करनेवाले न

होने पर भी उनमें शोभित करने की योग्यता है, अतः) अलंकार कहा जाता है ।

प्रत्युदाहरण

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—

तं दृष्टवान् प्रथमदद्भुतधैर्यवीर्य-
गाम्भीर्यमत्त्वणविमुक्तसमीपजानिम् ।
वीक्ष्याऽथ दीनमबलाविरहव्यथार्त्तं
रामो न वाऽयमिति संशयमाप लोकः ॥

सीता-विरह में राम का वर्णन है । लोगों ने, पहले, राम को अद्भुत धैर्य, वीर्य और गम्भीरता से युक्त एवं क्षण भर के लिये भी (अपने) समीप से सीता को न छोड़नेवाला देखा था अब उन्हें दीन और सीता की विरह-व्यथा से पीड़ित देखकर लोगों को संदेह हुआ कि—यह राम हैं अथवा नहीं ।

इस पद्य में यद्यपि संदेह का चमत्कार है, तथापि सादृश्य के कारण नहीं; अतः इस संदेह को अलंकार नहीं कह सकते ।

संदेहालंकार अध्यवसान-मूलक नहीं होता

इस तरह यह आरोपमूलक संदेहालंकार हुआ ।

अध्यवसानमूलक संदेहालंकार भी देखा जाता है । जैसे—

सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं
लिप्तं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।
संदेहं जनयन्नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषां
व्रातः प्रातरुपातनोतु भवतां भव्यानि भासां निधेः ॥

यह पृथ्वी-मंडल क्या सिंदूर से परिपूर्ण है, अथवा अलते (लाक्षा) के पानी से धोया हुआ है, किंवा केसर के रस-समूह से पोत दिया गया है। मनुष्यों को ऐसे संदेह उत्पन्न करता हुआ सूर्य का प्रातःकालीन कांति-समूह, जिसने त्रिलोकी की रक्षा की है, आपका कल्याण करे।

यह संदेह सूर्य के विषय में कवि के प्रेम को परिपुष्ट करनेवाला होने के कारण कामिनी के हाथ में पहने कंकण की तरह मुख्यतया अलंकार कहने के योग्य है। यहाँ, वक्ता के अभीष्ट का विवेचन करने पर अंततः किरण-समूह में 'सिंदूरता' आदि कोटियोंवाला संदेह सिद्ध होता है। वह संदेह सारोप—आरोपमूलक—नहीं है,क्योंकि यहाँ उपमान उपमेय में आरोप के अनुकूल विभक्ति का अभाव है—यदि आरोप होता तो उपमान-उपमेय में समान विभक्तियाँ होतीं। अतः "सिंदूरता" आदि के द्वारा संशय के धर्मी—अर्थात् जिसके विषय में संदेह किया जा रहा है उस—किरण-समूह का अध्यवसान है। तात्पर्य यह कि—यहाँ सिंदूर आदि (उपमानवाचक) शब्दों से ही किरण-समूह (उपमेय) का ग्रहण मानना पड़ता है और वह इस संदेह का मूल है, अतः यह संदेह अध्यवसानमूलक है।" यह कहा जाता है।

इस विषय पर विचार करिए। "सिंदूरैः परिपूरितम्..." इस उपर्युक्त पद्य में, प्रथमतः, पृथ्वी-मण्डल-रूपी आधार में 'सिंदूर आदि द्वारा परिपूर्ण होने आदि' कोटियोंवाला संदेह, शब्द द्वारा, प्रतीत होता है। उस संदेह में सूर्य-किरण-रूपी आधार में होनेवाला 'क्या यह सिंदूर का रज है अथवा अलते का पानी है किंवा केसर का रस है' यह दूसरा संदेह अनुकूलता उत्पन्न करता है। अर्थात् इस संदेह से पूर्वोक्त संदेह सिद्ध होता है। जैसे कि सामने खड़े घोड़े के विषय में (घोड़े का जरा भी बोध न होकर) 'यह खंभा है अथवा पुरुष' यह संदेह 'यह पृथ्वीतल खंभे से युक्त है अथवा पुरुष से' इस दूसरे संदेह में उपयोगी होता है,

क्योंकि बिना पहले संदेह के दूसरा संदेह बन ही नहीं सकता; वही बात यहाँ भी है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सूर्य-किरण-रूपी आधार में होनेवाला (दूसरा) अप्रधान संदेह व्यंजनावृत्ति से प्रतीत होने के कारण उपमान-उपमेय में आरोप के अनुकूल विभक्ति (समान विभक्ति) की अपेक्षा नहीं रखता; पर यदि वही साक्षात् शब्दों द्वारा प्रतीत होता (जैसा कि पहला संदेह) तो समान विभक्ति की अपेक्षा रखता, अतः यहाँ संदेह की अध्यवसानमूलकता कहाँ है ? तात्पर्य यह कि वाच्य आरोप में उपमान-उपमेय एक विभक्तिवाले होते हैं, व्यंग्य में नहीं; ऐसी दशा में ऐसे संदेहों को अध्यवसानमूलक मानना उचित नहीं। अतः संदेह को अध्यवसानमूलक माननेवाले 'विमर्शिनी(अलंकार-सर्वस्व की टीका) कार' का कथन परास्त हो जाता है। सारांश यह कि संदेहालंकार आरोपमूलक ही होता है, अध्यवसानमूलक नहीं।

अप्पयदीक्षित का खंडन

(१)

अप्पयदीक्षित तो कहते हैं—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

'विक्रमोर्वशी' नाटक के प्रथम अंक में उर्वशी का वर्णन है। पुरूरवा उर्वशी को देखकर कहता है—इसकी सृष्टि करने में कौन प्रजापति (उत्पादक) हुआ होगा ? कांति का दाता चंद्रमा अथवा शृङ्गार-रस का एकमात्र रसिक वह स्वयं कामदेव किंवा कुसुमाकर मास

(चैत्र=वसंत) ? क्योंकि वेद पढ़ने के कारण जड और विषयों से जिसका कौतूहल निवृत्त हो चुका है वह पुराना मुनि (ब्रह्मा) भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

इस जगह केवल संदेह के आधार पर (प्रजापति) ही अनेक हैं, कोटि तो है 'वर्णन की जानेवाली कामिनी का उत्पन्न करना (प्रजापतित्व)' जो कि एक ही है। अतः अनेक कोटियाँ न होने के कारण यहाँ संदेह के लक्षण की अव्याप्ति है—वह यहाँ घटित नहीं होता, क्योंकि संदेह का लक्षण है 'विरोध के कारण परस्पर हटानेवाली के रूप में वर्णित अनेक कोटियों के विषय में होनेवाला ज्ञान'। अतः इस पद्य में स-संदेहालंकार मानना उचित नहीं।''

पर यह कथन ठीक नहीं। यहाँ संदेह का आकार है 'इसकी सृष्टि करने में जो प्रजापति बना वह चंद्रमा है, अथवा कामदेव है, किंवा वसंत है' यह। इस संदेह का आधार है 'प्रजापति'। उसमें 'चंद्रत्व' आदि अनेक कोटियाँ हैं ही। अतः संदेह के लक्षण की अव्याप्ति कहाँ है ? और जो आप 'चंद्रादिक' को संदेह का आधार और 'प्रजापतित्व' को संदेह की कोटि मान रहे हैं, सो वैसा संदेह यहाँ कहा भी नहीं जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो 'प्रजापति' का प्रयोग पहले नहीं होता, किंतु 'चंद्र' आदि का होता। जब 'प्रजापति' शब्द पहले लिखा गया है तो आप को अवश्यमेव मानना पड़ेगा कि—कवि 'प्रजापति' में 'वह चंद्रमा होना चाहिए या काम' इत्यादि संदेह कर रहा है, न कि चंद्र आदि में 'प्रजापति होने' का।

२

और जो उन्होंने

"साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा

अर्थात् सादृश्य के कारण होनेवाले अप्रस्तुत अर्थ के अवधारणा-रहित बोध को ('ससंदेह' कहते हैं)।"

इस प्राचीनों के लक्षण को बड़े प्रबंध द्वारा दूषित किया है, सो भी ठीक नहीं। कारण, उस पद्य का "निश्चय और संभावना दोनों में से किसी एक के रूप में न होनेवाला सादृश्यमूलक बोध (संदेह कहलाता है)" यह अर्थ कर लेने से—अर्थात् 'अवधारणा' शब्द का अर्थ निश्चय और संभावना ये दोनों मान लेने से—दोष नहीं रहता। रही यह बात कि—संदेह का ऐसा लक्षण बनाने से 'निश्चय से भिन्न संदेह' और 'संदेह से भिन्न निश्चय' इस तरह अपने अपने लक्षण में परस्पर की अपेक्षा रखने के कारण अन्योन्याश्रय होगा। सो यह कुछ है नहीं। कारण, आपको एक का लक्षण तो ऐसा बनाना ही होगा कि जिसके अंदर दूसरे का प्रवेश न हो; अतः निश्चय का लक्षण ऐसा बनाइए कि जिसके अंदर संदेह का प्रवेश न हो। बस, झगड़ा निवृत्त।

लक्ष्य ससंदेह

उक्त उदाहरणों में यह ससंदेहालंकार अपने वाचक शब्दों से प्रतीत होता है, अतः वाच्य है।

लक्ष्य ससंदेह; जैसे—

साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा।
रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोलाऽऽरुरुहे तदानीम्॥

उस समय (विवाह के अनंतर) रामचंद्र की रमणी (सीता) को देखकर लोग 'यह काम की साम्राज्य-लक्ष्मी है अथवा सुंदरता की सृष्टि की अधिदेवता है' इस तरह झूले पर आरूढ़ हुए।

'क्रम से दोनों कोटियों (छोरों) का आलंबन करने' के कारण संदेह में झूले की समानता है, अतः यहाँ 'झूला' शब्द से संदेह लक्षित होता है।

ससंदेह की ध्वनि

व्यंग्य ससंदेह; जैसे—

**तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धाऽलिकिशोरमाला ॥**

तीर पर हास-सहित युवती के मुख को और जल में विकास-सहित कमल को देखकर मकरंद की लोभिनी छोटे छोटे भौंरों की पंक्ति दोनों तरफ दौड़ रही है।

यहाँ कमलरूपी आधार में, अभेद संबंध द्वारा, आगे स्थित दो व्यक्ति (एक युवती का मुख, दूसरा कमल पुष्प) जिसकी कोटियाँ हैं ऐसा 'कमल यह है अथवा यह' इस आकारवाला भौंरों में रहनेवाला संदेह व्यंग्य है। आप कहेंगे—कमलरूपी आधार में 'यह' का अभेद निरर्थक है। कारण, भौंरे जो दोनोंवस्तुओं की तरफ दौड़ रहे हैं सो 'कमल में यह' के संदेह से नहीं, किंतु 'यह' में कमल के संदेह से दौड़ रहे हैं। अतः उपर्युक्त आकारवाला संदेह यहाँ किसी काम का नहीं, पर यह आपका कथन उचित नहीं। कारण, एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का अभेदज्ञान अन्य पदार्थ में एक पदार्थ के अभेदज्ञान का निमित्त हुआ करता है। सारांश यह कि—यदि 'कमल में यह का अभेद' मानोगे तो 'यह का कमल में अभेद' अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है, अतः अंततोगत्वा इस संदेह का आकार यह हो जाता है कि 'कमलत्व इसमें रहता है अथवा

उसमें'। सो आपकी शंका को अवकाश नहीं रहता। यह है 'ससंदेह' की ध्वनि।

ध्वनि का प्रत्युदाहरण

आज्ञा सुमेषोरविलङ्घनीया किंवा तदीया नवचापयष्टिः।
वनस्थिता किं वनदेवता वा शकुन्तला वा मुनिकन्यकेयम्॥

सीता को देखकर ऋषियों की उक्ति है—यह कामदेव की अनुल्लंघनीय आज्ञा है, अथवा उसके नवीन धनुष की डाँडी है, किंवा वनवासिनी वनदेवता है, अथवा मुनि-कन्या शकुंतला है!

यद्यपि इस पद्य में भी संदेह-वाचक कोई शब्द नहीं है—अर्थात् 'ऋषियों को यह संदेह हुआ' यह बात नहीं लिखी है, अतः संदेह का व्यंग्य होना उचित है; तथापि सीता में जिन विषयों का संदेह किया जा रहा है उनका निरूपण होने के कारण संदेह स्पष्टतया उक्त हो गया है। अतः यह व्यंग्य संदेह इस काव्य के 'ध्वनि' कहे जाने का कारण नहीं हो सकता; किंतु (अगूढ होने के कारण) 'गुणीभूत व्यंग्य' कहे जाने का कारण हो सकता है।

इस पद्य के संदेहों में प्रत्येक भेद के साथ अनुगामी धर्म भिन्न भिन्न रूप में शब्द द्वारा वर्णित हैं; जैसे 'आज्ञा' के संदेह में 'अनुल्लंघनीयता' इत्यादि।

अप्पयदीक्षित की 'संदेहध्वनि' का खंडन

अप्पयदीक्षित ने 'संदेहध्वनि' के उदाहरण के प्रसंग में लिखा है—

"*काश्चित् काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वक्षस्थलमवैक्षत॥*

* यह पद्य अप्पयदीक्षित के मूलपुरुष 'वक्षःस्थलाचार्य' के बनाए 'वरदराज-वसंतोत्सव' का है।

†वरदराज, मानो साक्षात् लक्ष्मी हो ऐसी, सोने-सरीखे गौर शरीर-वाली किसी (कामिनी) को देखकर संदेहयुक्त हुए और वक्षस्थल देखने लगे ।"

यद्यपि यहाँ 'संदेह' का ग्रहण शब्द द्वारा हुआ है तथापि केवल उतने भाग के अलंकाररूप न होने के कारण, किंतु संदेहालंकार का सिद्ध करनेवाला 'वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने खड़ी है' यह संदेह का आकार 'वक्षस्थल को देखने लगे' इस उक्ति द्वारा व्यंग्य होने के कारण यहाँ 'संदेहालंकार की ध्वनि' है । जैसे कि—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
वीक्ष्य बिम्बमनु बिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥

कुमारसंभव में पार्वती का सुरत-वर्णन है । पार्वती दर्पण में संभोग के चिह्न (नखक्षतादि) देख रही थी । उसने, (अपने) पीछे बैठे प्रणयी (शिव) का प्रतिबिंब अपने प्रतिबिंब के पीछे की तरफ देखा । फिर तो उसने लज्जा के मारे जाने क्या-क्या न किया ।'

यहाँ 'क्या क्या' इस तरह सामान्य रूप में वर्णित विशेष अनुभावों की प्रतीति के लिये 'लज्जा' शब्द का प्रयोग करने पर भी, अपने विभावों और अनुभावों द्वारा, लज्जा की रस के अनुकूल अभिव्यक्तिरूपी ध्वनि है—अर्थात् यहाँ अनुभावों की विशेष रूप में प्रतीति करवाने के लिये 'लज्जा' शब्द के आने पर भी रस का पोषण करनेवाली लज्जारूप चित्तवृत्ति व्यंग्य ही है ।"

---

†'कांजीवरम् (मद्रास)' में भगवान् विष्णु को 'वरदराज' नामक मूर्त्ति है ।

अप्पयदीक्षित का यह कथन 'ध्वनि' का तथ्य समझनेवालों के उपहास के योग्य ही है। कारण यह है कि—पूर्वोक्त उदाहरण के "संदेहयुक्त होकर" इस वाक्य में 'संदेह' पद द्वारा 'एक पदार्थःमें, परस्पर विरोधी अनेक पदार्थों के संबंध में होनेवाला ज्ञान (जिसे आप व्यंग्य संदेह कह रहे हैं)' साक्षात् ही निवेदन किया जा रहा है, उस वाक्य का अर्थ ही यह है कि—वरदराज को कोई ऐसा ज्ञान हुआ है जो एक पदार्थ में परस्पर-विरोधी विविध कोटियों का ग्रहण कर रहा है। तदनंतर 'वह विरोधी विविध पदार्थ (जो कोटि रूप हैं) कौन है' इस तरह विशेष की आकांक्षा होने पर 'वक्षस्थल देखने लगे' इस वाक्य द्वारा, व्यंजना वृत्ति से, यह अर्थ समझ में आया (जिसे आपने व्यंग्य संदेह का आकार बताया है) कि 'वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने आ खड़ी हुई है।' यह व्यंग्य अर्थ, अंततोगत्वा, अभिधा द्वारा प्रतिपादित 'संदेह' शब्द के अर्थरूप पूर्वोक्त ज्ञान के विशेषण बने हुए 'परस्पर विरोधी अनेक पदार्थ' रूपी सामान्य अर्थ से अभिन्न हो जाता है—अर्थात् जिसे आप व्यंग्य संदेह कह रहे हैं वह अर्थ 'संदेह' शब्द के वाच्य सामान्य अर्थ के एक अंश का विवरण मात्र है, न कि उससे भिन्न कोई वस्तु।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—आपके उदाहृत पद्य में संदेहमात्र (संपूर्ण संदेह) का बोध अभिधा द्वारा हुआ है, इस कारण (उसके एक अंश का विवरण रूप) 'वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने खड़ी है' यह विषय भाग भी 'विरोधी अनेक पदार्थ' रूप होने के कारण, सामान्य रूप से अभिधा द्वारा आक्रांत है। ऐसी दशा में अभिधा का ग्रास बन जाने के कारण इस अर्थ को स्वतंत्रतया व्यंग्य नहीं कहा जा सकता और इस आपके व्यंग्य अर्थ की समाप्ति भी वाच्य-अर्थ संदेह में ही जाकर होती है। अतः सारांश यह निकला

कि—यहाँ कोई बात ऐसी नहीं है जो इस काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम)' बना सके। कारण, 'ध्वनि' का मार्ग प्रवृत्त करनेवालों का यही सिद्धांत है कि—जिसमें अभिधावृत्ति का बिलकुल स्पर्श न हो वही 'व्यंग्य' काव्य को ध्वनि बना सकता है। देखिए, ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में आनंदवर्धनाचार्य ने

"शब्दार्थशक्त्याऽऽक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राऽऽविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवाऽलंकृतिर्ध्वनेः॥

शब्द-शक्ति अथवा अर्थ-शक्ति द्वारा आक्षिप्त भी व्यंग्य अर्थ, जहाँ कवि द्वारा अपनी उक्ति से पुनः प्रकट कर दिया जाता है, वह 'ध्वनि' से भिन्न ही अलंकार है—अर्थात् ऐसी जगह 'ध्वनि' नहीं, किंतु अलंकार माना जाना चाहिए।"

यह सूत्र बनाकर कहा है कि—

"संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

चतुर नायिका ने जार का चित्त संकेत के समय (जानने) में जानकर हँसते नेत्रों से अभिप्राय समझाते हुए लीलाकमल मूँद दिया।"

यहाँ 'जार का चित्त संकेत के समय के ज्ञान में समझकर लीलाकमल को मूँद दिया' यह कहते हुए कवि ने 'लीला-कमल के मूँदने' का 'सायंकाल का ध्वनित करनेवाला होना' अपनी उक्ति द्वारा ही प्रकट कर दिया (यदि 'संकेत का समय जानने' की बात स्पष्ट शब्दों में न लिखता तो यह अर्थ व्यंग्य रह जाता)। अतः यह मार्ग ध्वनि के मार्ग से भिन्न ही है और गुणीभूतव्यंग्य का मार्ग है। अर्थात् ऐसे काव्यों का ध्वनि नहीं, किंतु गुणीभूतव्यंग्य कहा जाना चाहिए।

अथवा जैसे—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथाऽत्र ।
अस्मिन् पापाऽहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥

यहाँ बूढ़ी माँ सोती है, यहाँ बुड्ढों के अगुआ पिता सोते हैं तथा यहाँ सारे घर के काम के परिश्रम से शिथिल शरीरवाली 'कुंभदासी' सोती है; और इस जगह थोड़े दिनों से प्राणनाथ परदेश चले गए हैं अतः अकेली, मैं पापिनी सोती हूँ ।' इस तरह युवती ने, अवसर कहने के कपट को आगे रखते हुए, पथिक से, कहा ।

यहाँ यद्यपि 'निःशंक होकर रमण करने आओ' यह अर्थ श्लोक के तीन चरणों से व्यंग्य है, तथापि कवि ने 'अवसर दिखाने' को कपटरूप कहते हुए व्यंग्य अर्थ का अपनी उक्ति से स्पष्ट निवेदन कर दिया । अतः यह भी 'ध्वनि' का मार्ग नहीं है ।

यह तो हुई आनंदवर्धनाचार्य की बात । इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' के व्याख्याकार अभिनवगुप्ताचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्द्योत में आनंदवर्धनाचार्य की युक्ति का विवेचन करते हुए लिखा है—

"व्यंग्य अर्थ का यदि उक्ति द्वारा प्रकाशन हो गया तो उसका अप्रधान होना ही शोभित होता है—अर्थात् उक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर व्यंग्य को प्रधान कहना उचित नहीं । अतः जहाँ बिना ही उक्ति के व्यंग्य अर्थ तात्पर्यतः प्रकाशित होता है, वहाँ उसकी प्रधानता होने के कारण काव्य को 'ध्वनि' माना जाता है । (अन्यत्र नहीं) ।"

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—ऐसे विषयों में व्यंजक अथवा व्यंग्य में उक्ति (अभिधा से प्रति पादन) के किंचित् भी स्पर्श से 'ध्वनित्व' का निषेध करनेवाले (ध्वनि के आचार्य) "कांचित् काञ्चन-गौराङ्गीम्'......" इस पूर्वोक्त आपके उदाहरण में, जहाँ कि व्यंग्य अर्थ (संशय) शब्दतः उच्चारित है, ध्वनि होना' कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?

इसी से "दर्पणे च परिभोगदर्शिनी......" इस पूर्वोक्त 'कुमार-संभव' के पद्य में जो दीक्षितजी ने 'ध्वनि होना' बताया है, वह भी हटा दिया गया। सारांश यह कि—न 'कुमारसंभव' का पद्य ही ध्वनि-रूप है, न दीक्षितजी का उदाहरण ही। यह है इसका संक्षेप।

साधारणधर्म

इस संदेहालंकार में कहीं अनेक कोटियों में एक ही सामानधर्म होता है और कहीं पृथक्। वह धर्म भी कहीं अनुगामी, कहीं बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न, कहीं अनुक्त और कहीं उक्त होता है।

अनेक कोटियों में अनुक्त एक अनुगामी धर्म; जैसे—

उनमें से "मरकतमणिमेदिनीधरो वा......" इस पूर्वोदाहृत पद्य में, धर्मी राम का तथा 'तमाल' और 'मरकत-मणि का पर्वत' इन दोनों कोटियों का 'श्यामसुंदरता' रूपी एक ही अनुगामी धर्म है, जो कि प्रतीत हो रहा है, अतः अनुक्त है।

अनेक कोटियों में उक्त एक अनुगामी धर्म; जैसे—

नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम्।
सरोजं चन्द्रबिम्बं वेत्यखिलाः समशेरत ॥

सुंदरी के नयनाभिराम मुख को देखकर सब लोग, उसी समय, कमल है अथवा चंद्रमा का बिंब है—इस तरह संदेह करने लगे।

यहाँ सुंदरी के मुख, कमल और चंद्रबिंब तीनों में एक ही अनुगामी समान धर्म (नयनाभिरामत्व) शब्द द्वारा प्रतिपादित है।

उक्त पृथक् अनुगामी धर्म; जैसे पूर्वोदाहृत "आज्ञा सुमेषो……" इत्यादि पद्य में। अथवा जैसे—

संपश्यतां तामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासितसर्वलोकाम्।
सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत्॥

अत्यंत दुबली तथा शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करनेवाली उस (कामिनी) के देखनेवालों को बिजली है अथवा शुक्लपक्ष की रात्रि है—यह संदेह हुआ।

यहाँ "अत्यंत दुबली होना" बिजली के साथ और "शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना" शुक्लपक्ष की रात्रि के साथ—इस तरह एक ही कामिनी के अनुगामी समान धर्म पृथक् पृथक् बताए गए हैं। इसी पद्य में यदि पूर्वार्ध के दोनों धर्मवाचक विशेषणों को छोड़ दो तो यह पद्य **अनुक्त पृथक् अनुगामी समान धर्म** का उदाहरण हो जायगा।

(उक्त) **बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म**; जैसे "तीरे तरुण्या वदनं सहासम्……" इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में; अथवा जैसे—

सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी
सफुल्लपद्मा किमियं नु पद्मिनी।
समुल्लसत्पाणिपदां स्मिताननां-
मितीक्षमाणैः समलम्भि संशयः॥

यह क्या पल्लवों सहित मञ्जरी सुशोभित हो रही है अथवा खिले कमल-युक्त पद्मिनी? इस तरह विलासयुक्त हाथ पैर-वाली और मन्दहास-युक्त मुखवाली उस कामिनी के देखनेवालों को संदेह प्राप्त हुआ।

यहाँ हाथ-पैर के प्रतिबिंब 'पल्लव' और मुख का प्रतिबिंब 'खिला कमल' मञ्जरी और पद्मिनी रूपी दोनों कोटियों में पृथक् पृथक् बताए गए हैं।

लुप्त बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म; जैसे—

इदमुदधेरुदरं वा नयनं वाऽत्रेरुतेश्वरस्य मनः ।
दशरथगृहे तदानीमेवं संशेरते स्म कवयोऽपि ॥

(राम-जन्म के समय) दशरथ के घर के विषय में कवि भी इस तरह संदेह करते थे कि—यह समुद्र का मध्यभाग है अथवा अत्रि ऋषि का नेत्र है किंवा परमेश्वर का मन है*!

इस पद्य में (राम-जन्म के समयरूपी) प्रकरण की सहायता के अधीन होकर धर्मी (संदेह की कोटियों के आधार) 'दशरथ के घर' द्वारा आक्षिप्त तत्काल उत्पन्न भगवान् राम का 'समुद्र के मध्यभाग' आदि तीन कोटियों से आक्षिप्त—समानधर्मरूप—चंद्रमा प्रतिबिंब है। यहाँ 'राम' और 'चंद्रमा' दोनों ही—बिंब और प्रतिबिंब—अनुक्त हैं और प्रतीत हो रहे हैं। वे 'दशरथ के घर' की 'समुद्र के मध्यभाग' आदि से समानता सिद्ध कर रहे हैं। कारण, दशरथ के घर को उन तीनों रूपों में तभी कहा जा सकता है, जब 'चंद्रमा' को 'राम' का प्रतिबिंब मानें। इस उदाहरण द्वारा जो लोग कहते हैं कि—"अनुगामी धर्म ही लुप्त होता है, प्रतिबिंबित धर्म नहीं" वे परास्त हो जाते हैं। यह है संक्षेप।

---

*पुराणों में चंद्रमा की उत्पत्ति तीन स्थानों से वर्णित है—समुद्र के मध्य से, अत्रि के नेत्र से और परमेश्वर के मन से।

आहार्य संदेहालंकार

यह संदेह कहीं वास्तविक माना जाता है और कहीं आहार्य—अर्थात् मिथ्या समझते हुए कल्पित। जहाँ कवि अन्य किसी में संदेह लिखता है वहाँ प्रायः संदेह वास्तविक माना जाता है। जैसे "तीरे तरुण्या वदनं सहासम्......" और "मरकतमणिमेदिनीधरो वा......" इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्यों में। क्योंकि वहाँ संदेहकर्त्ता—भौंरे आदि—को ज्ञेय वस्तु का निश्चय न होना माना जाता है। और जहाँ कवि अपने आप ही संदेह करता है वहाँ संदेह आहार्य होता है। जैसे—

> अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते।
> अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेदं मृगीदृशः॥

जिसमें भौंरा, मृग अथवा नेत्र कुछ भासित हो रहा है—यह कमल है, चंद्रमा है अथवा मृगननयनी का मुख है ?

यहाँ वक्ता—कवि—वास्तविक बात जानता है, अतः कमल और चंद्रमा के संदेह आहार्य हैं।

परंपरित संदेहालंकार

संदेहालङ्कार (रूपक की तरह) परंपरित भी हो सकता है; जैसे—

> विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्तिरथवा वैरीन्द्रवंशाटवी-
> दावाग्निः, किमहो महोज्जवलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः।
> किंवाऽनङ्गभुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणां
> केशामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः॥

यह राजा विद्वानों के दारिद्रय-रूपी अंधकार के लिये सूर्य है, अथवा शत्रु-राजाओं के वंशरूपी वन के लिये दावानल है, यद्वा महानिर्मल

यशरूपी चंद्रमा के लिये क्षीरसमुद्र है, किंवा कामरूपी सर्प से डँसी हुई कामिनियों के लिये जीवनौषध है; इस तरह यह नरेश किन्हें अनेक कल्पनाएँ उत्पन्न नहीं करता—अर्थात् सभी के हृदय में इसे देखकर ऐसी कल्पनाएँ जग उठती हैं।

यहाँ भी संदेह आहार्य है (और दारिद्र्य आदि में अन्धकार आदि के आहार्य संदेह द्वारा राजा में सूर्यादि का संदेह होने से परंपरित है।)

कहीं-कहीं कवि द्वारा अन्य में लिखा हुआ संदेह भी आहार्य होता है; जैसे—

गगनाद् गलितो गभस्तिमानुत वाऽयं शिशिरो विभावसुः।
मुनिरेवमरुन्धतीपतिः सकलज्ञः समशेत राघवे॥

सर्वज्ञ वसिष्ठ मुनि (जातकर्म के समय), रामचंद्र के विषय में, यह आकाश से गिरा हुआ सूर्य है अथवा शीतल अग्नि है—इस तरह संदेह करने लगे।

यहाँ सर्वज्ञ रूप में वर्णित वसिष्ठ मुनि का संदेह आहार्य है, अन्यथा उनकी सर्वज्ञता का भंग होगा। यद्यपि यहाँ "मुनीनां च मतिभ्रमः—मुनियों को भी बुद्धिभ्रम हो जाता है" इस उक्ति के अनुसार वसिष्ठजी को वास्तविक ही संदेह हुआ यह कहा जा सकता है, तथापि इस संदेह की अग्नि और सूर्य-रूप दोनों कोटियों में कोटितावच्छेदक (अर्थात् उन दोनों में अन्यूनातिरिक्त रूप से रहनेवाले) "ठंडेपन" और "आकाश से गिरने" के बोध को तो आहार्यबोध कहे बिना निर्वाह नहीं। ऐसी दशा में श्रीराम में जो दोनों कोटियों का अभेदांश है, उसमें भी आहार्यबोध ही उचित है, वास्तविक बोध नहीं।

यहाँ संदेह के आधार श्रीराम में सादृश्य की दृढ़ता के लिये अग्नि और सूर्य रूपी दोनों कोटियों में वक्ता द्वारा 'उष्ण होने' और 'आकाश में रहने' रूपी वैधर्म्यों के निरासक 'ठंडापन' और 'आकाश से गिरना'-रूपी दो धर्म आरोपित किए जा रहे हैं।

इस तरह के अन्य भेद भी सुबुद्ध लोगों को स्वयं सोच लेने चाहिएँ।

ससंदेह समाप्त



भ्रांतिमान् अलंकार

लक्षण

सादृश्ययुक्त धर्मी में, अभेद संबंध से, अन्य किसी धर्मी का, वास्तविक समझा हुआ, और सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला निश्चय, चमत्कारयुक्त होने पर, अलंकार प्रकरण में, भ्रांति' कहा जाता है। और पशु-पक्षी आदि में रहनेवाली वह भ्रांति जिस वचन-संदर्भ में आती है वह संदर्भ 'भ्रांतिमान्' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

यहाँ केवल 'भ्रांति' ही अलंकार है। अलंकार को 'भ्रांतिमान्' के नाम से व्यवहृत करना तो लाक्षणिक है। तात्पर्य यह कि भ्रांति जिस वाक्य में रहती है उस वाक्य को भी भ्रांति-संबंधी होने के कारण

अलंकार-रूप मानकर लोग ऐसा कह देते हैं, पर वास्तव में ऐसा है नहीं, किंतु केवल भ्रांति ही अलंकार-रूप है। और यही कहते भी हैं—

"प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः॥

अर्थात् जिस संदर्भ में जानकार से अतिरिक्त—अर्थात् कवि से भिन्न का भ्रांतिरूपी बोध का अनुवाद किया जाता है, वह संदर्भ 'भ्रांतिमान्' कहलाता है। अलंकार में यह शब्द लाक्षणिक है।"

मीलित, सामान्य और तद्गुण अलंकारों में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "धर्मी" पद का दो बार ग्रहण है। उन अलंकारों में एक धर्मी में अन्य धर्मी का निश्चय नहीं होता, किंतु धर्मों का होता है।

रूपक के बोध में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'वास्तविक समझा हुआ' अथवा 'कवि से भिन्न में रहनेवाला' (जैसा कि श्लोकवाले लक्षण में है) लिखा गया है; क्योंकि रूपक में अभेद का बोध वास्तविक नहीं, किंतु आहार्य होता है।

संदेह में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "निश्चय" पद कहा गया है।

'यह चाँदी है' इस जगह जो राँगे में चाँदी का बोध होता है—इस भ्रम में अतिव्याप्ति न होने के लिए लक्षण में "चमत्कारी" पद दिया गया है—जिसका अर्थ है 'कवि की प्रतिभा से तैयार किया हुआ'। 'राँगा चाँदी रूप है' यह बुद्धि लौकिक है, वह 'कवि की प्रतिभा से तैयार की हुई' नहीं है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती।

अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाऽहम् ।
इत्यालपति कराम्बुजमादाऽऽलीजनस्य विकला सा ॥

वह सखी का हाथ पकड़कर 'हे निर्दय हृदयवाले प्रियतम ! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद छोड़ती ही नहीं इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है ।

इस नायिका का संदेश लानेवाले की उक्ति में जो 'उन्माद' अभिव्यक्त होता है उसमें अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला' यह कथन है ।

आप कहेंगे—इस कथन की आवश्यकता नहीं । कारण, उपर्युक्त पद्य में 'उन्माद-भाव' प्रधान-व्यंग्य के रूप में आया है, अतः उसका यावन्मात्र अलंकारों में आनेवाले 'उपस्कारक होना' रूपी विशेषण से ही निवारण हो जाता है—वह उन्माद किसी का उपस्कारक नहीं, किंतु उपस्कार्य है । पर यह ठीक नहीं । कारण, यह उन्माद भी अंततः अभिव्यक्त होनेवाले 'विप्रलंभ शृङ्गार' का उपस्कारक है । इतने पर भी यदि आप कहें कि—यह उन्माद विप्रलंभ से उत्पन्न होनेवाला है, अतः उसका उपस्कारक कैसे हो सकता है ? तो हम कहते हैं— "अकरुणहृदय······" इत्यादि उपर्युक्त वाक्य नायिका के संदेशवाहक का नहीं, किंतु संदेशवाहक से संदेश सुन चुकने के अनंतर नायक का, अपने मित्र के समीप में, कथन है । ऐसी दशा में इस पद्य में 'सा = वह' पद से अभिव्यक्त होनेवाली '(नायिका की) स्मृति' प्रधान हो जाती है और पूर्वोक्त उन्माद उसका उपस्कारक हो जाता है, अतः पुनरपि ऐसे उन्माद में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला' यह विशेषण आवश्यक है ।

लक्षण में 'निश्चय' का एक होना अभीष्ट है—अर्थात् एक ही निश्चय को भ्रांति कहते हैं, भिन्न-भिन्न अनेक निश्चयों को नहीं। अन्यथा जिन भ्रांतियों में अनेक ज्ञाता तथा अनेक विशेषण हों और एक विशेष्य हो ऐसी भ्रांतियों के समूहरूप आगे कहे जानेवाले 'उल्लेखालंकार' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतएव 'निश्चय' पद में एकवचन लिखना सार्थक है।

उदाहरण

कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य रामया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने ॥

सोने के पानी की-सी कांति से कमनीय कामिनी से युक्त रामचंद्र को देखकर, जंगल में, चातकों के बच्चे, बिजली से युक्त मेघ के भ्रम से नाचने लगे।

यहाँ चातकों में रहनेवाले हर्ष को उपस्कृत (सुशोभित) करनेवाली होने के कारण चातको की भ्रांति अलंकार है। इसी पद्य का उत्तरार्द्ध यदि

परिफुल्लतनूपल्लवैर्ननृते चातकपोतकैर्वने।

अर्थात् पल्लवों के समान खिले हुए पंखोंवाले चातकों के बच्चे, जंगल में, प्रसन्न होने लगे।

यों बना दिया जाय तो यही पद्य भ्रांति-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

१

अप्पयदीक्षित ने 'भ्रांतिमान्' अलंकार का लक्षण यों लिखा है—

"कविसंमतसादृश्याद् विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स'भ्रान्तिमान्'मतः ॥"

इस लक्षण में "कवियों के अभिमत सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला उपमेय में उपमान का अनुभव जिस वाक्य-संदर्भ में हो वह वाक्य-संदर्भ 'भ्रांतिमान्' माना गया है" इस तरह 'भ्रांतिमान्' का लक्षण बनाकर रूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये उपमेय को 'पिहितात्मनि (जिसका स्वरूप छिपा दिया गया हो)' यह विशेषण दिया गया है। (इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त अनुभव कवि की प्रतिभा से कल्पित होना चाहिए; क्योंकि वैसा न होने पर उसके द्वारा उपमेय का छिपाना नहीं बन सकता—अर्थात् उपमेय को उपमानरूप मानना रूपी भ्रम नहीं हो सकता।) यह है अप्पयदीक्षित के कथन का सारांश।

पर यह उचित नहीं। कारण, आपका लक्षण 'भ्रांतिमान् (भ्रांति-वाले वाक्य)' का है, अतः उसकी अतिव्याप्ति रूपक के वाक्य में ही होगी, रूपक में नहीं। और यदि यों माना जाय तो रूपक के वाक्य में उपमान के अनुभव (बोध) का वर्णन होता नहीं, किंतु उपमान का वर्णन होता है; उपमान का अनुभव तो रूपक के वाक्य से उत्पन्न होता है; अतः आपके लक्षण की रूपक के वाक्य में अतिव्याप्ति होती ही नहीं, फिर "पिहितात्मनि" यह विशेषण किस मर्ज की दवा है ?

अब यदि आप कहें कि—इस लक्षण वाक्य में "......अनुभव" शब्द तक का भाग 'भ्रांति' का लक्षण है और आगे का 'भ्रांतिमान् (भ्रांतिवाले वाक्य)' का। उनमें से 'भ्रांति' के लक्षण की रूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये उपमेय को "पिहितात्मनि" विशेषण दिया गया है; क्योंकि रूपक में कवि उपमेय को नहीं छिपाता—स्पष्ट शब्दों में लिखता है, किंतु भ्रांति में उसे छिपाता है। तो यह भी ठीक नहीं।

कारण, भ्रांति का लक्षण है 'ताहश अनुभव' उसकी 'अनुभव में आने-वाले अभेद' रूपी रूपक में किसी तरह प्रवृत्ति नहीं होती। सारांश यह कि—भ्रांति है अनुभव का नाम और रूपक है अनुभव में आनेवाले अभेद का नाम; फिर इन दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुओं की परस्पर अति-व्याप्ति कैसे हो सकती है?

अब यदि आप यह कहकर कि—यहाँ 'रूपक' पद से हमने 'रूपक का बोध' अर्थ लिया है, और उसके अनुभवरूप होने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये 'पिहितात्मनि' यह विशेषण दिया है—इस तरह ग्रंथ को किसी प्रकार बैठावें, तथापि "मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः" इत्यादि पूर्वोक्त, -विषयतावच्छेदक (रामत्व आदि) का अवगाहन न करनेवाले—अर्थात् शुद्ध—संदेह में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि वहाँ भी 'जिसका स्वरूप न छिपाया गया है ऐसे उपमेय में उपमान का अनुभव होता है।'

आप कहेंगे—हम इस लक्षण का यह अर्थ करेंगे कि 'जहाँ केवल उपमेय का ही स्वरूप छिपाया गया हो वहाँ भ्रांति होती है', अतः संदेह में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि वहाँ कोटियों को भी छिपाया जाता है—उनमें से भी किसी एक का निश्चय नहीं किया जाता, पर ऐसा मानने पर भी 'तेरे मुँह को भौंरे कमल और चकोर चंद्रमा समझ-कर पीछे पीछे दौड़ते हैं' इस भ्रांतियों के समूहरूप उल्लेखालंकार में अतिव्याप्ति रहेगी। यदि आप कहें कि—यह उल्लेख है ही भ्रांति से मिश्रित, अतः यदि उसमें भ्रांति के लक्षण की अतिव्याप्ति हुई तो क्या बुराई है, पर ऐसा कह देने मात्र से उल्लेख में 'भ्रांति के लक्षण की अतिव्याप्ति' कोई दोष नहीं यह नहीं कहा जा सकता। कारण, दूधमें दूधके भाग और जल के भाग मिले रहते हैं, अतः दूध का लक्षण ऐसा

नहीं बनाया जा सकता, जिसकी जल के भाग में अतिव्याप्ति हो जाय। सो अप्पयदीक्षित का यह लक्षण गड़बड़ ही है* ।

---

* नागेश इसके दो उत्तर देते हैं। वे कहते हैं "उक्त उदाहरण में उल्लेखत्व और भ्रान्तित्व की संकीर्णता हो जाने से लक्षण में कोई गड़-बड़ नहीं, जैसे भूतत्व और मूर्तत्व के लक्षण की संकीर्णता पृथ्वी जल तेज और वायु इन चार पदार्थों में रहती है, अतः भूतत्व और मूर्त्त-त्व के दोनों लक्षण यदि इन चारों में अति व्याप्त हो जांय तो कोई दोष नहीं, क्योंकि 'नरैर्वरगतिप्रदा०' इस उदाहरण में उल्लेखत्व और 'कनकद्रवकान्तिकान्तया' इस उदाहरण में भ्रान्तित्व सावकाश हैं— यह कुछ लोगों का मत है। दूसरे विद्वानोंका मत हैं कि 'वनितेति व-दन्त्येताम्' इस आप के उदाहरण में अपह्नुतिसंकीर्ण उल्लेख है वहाँ उपमेयतावच्छेदक (वनितात्व) का 'निषेध के साथ होने' से उठने-योग्य अपह्नुति के लक्षण की अतिव्याप्ति है ही। इसी प्रकार उन-उन अलंकारों से संकीर्ण में उन-उन अलंकारों की अतिव्याप्ति कठिनता से ही हटाई जा सकती है, अतः यह दूषण विचारणीय ही है।

सारांश यह कि यद्यपि आप का दूषण ठीक है, पर इस दूषण से बचा नहीं जा सकता, अतः अप्पयदीक्षित पर आक्षेप निरर्थक है।"

पर नागेश का यह उत्तर देने का प्रयास व्यर्थ ही है। पहले समा-धान में 'भूतत्व और 'मूर्त्तत्व' दोनों चार भूतों में अनिवार्य हैं, किन्तु भ्रान्ति उल्लेख में अनिवार्य नहीं है, अतः दृष्टान्त विषम है—यह अरुचि तो स्वयं नागेश को ही सूझ गई है, अतएव उनने 'केचित्' लिखा है और दूसरे समाधान में भी संकीर्ण उदाहरण प्राप्त होते हैं, अतः शुद्ध अलंकार का लक्षण भी क्या ऐसा ही बनाना चाहिए कि उसकी अति-व्याप्ति हो ही जाय, जब कि पण्डितराज ने अनतिव्याप्त उदाहरण स्वयं बनाकर दिखा दिया है। अतः यह सब कुछ नहीं।

—अनुवादक

२

और जो अप्पयदीक्षित ने भिन्न भिन्न कर्त्ताओंवाली और एक के बाद दूसरे को होनेवाली 'भ्रांति' का यह उदाहरण दिया है—

"शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तन-कलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै-
स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः ।
तल्लोपायाऽऽलपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह ! त्वदरिमृगदृशां नाऽप्यरण्यं शरण्यम् ॥

गुंजारते भौंरों ने मंजरी समझकर कलशरूपी स्तन-युगल पर मुँह लगाया। भौंरों से भय उत्पन्न होने के कारण हाथ उल्लास (उठने) की चेष्टा करने लगे, उन्हें पल्लव समझकर तोतों ने काट खाया। तोतों को हटाने के लिये बोलने लगीं तो कोयलों के नाद समझकर कौओं ने ताडन करना (चोंच मारना) शुरू किया। हे चोलनरेशों में सिंह ! तुम्हारे शत्रुओं की मृग-नयनियो की रक्षा करने में वन भी उपकारक नहीं होता।"

इस पर विचार किया जाता है प्रथम तो 'कलशरूपी स्तन-युगल' में मंजरी का सादृश्य कवि-संप्रदाय-सिद्ध नहीं है कि उसे लेकर भौंरों की भ्रांति का वर्णन किया जाय, और यदि अन्य किसी दोष के कारण भौंरों को मंजरी की भ्रांति हुई हो तो वैसी भ्रांति अलंकार रूप होती नहीं—यह बात अभी थोड़े ही पहले निरूपण की जा चुकी है। स्तन-रूपी धर्मी में कलश रूपक का अनुवाद करके मंजरी की भ्रांति के रूप में लिखा गया अन्य अलंकार भी सहृदयों को उद्वेजित करनेवाला ही है। कारण, सादृश्यमूलक एक अलंकार में सादृश्यमूलक अन्य अलंकार शोभित नहीं होता; जैसे कि "मुख-कमलं तव चंद्रवत् प्रतीमः—तेरे

मुख-कमल को हम चंद्र-सा समझते हैं" इत्यादि में। यह बात पहले ही निवेदन की जा चुकी है। प्रस्तुत कलश के रूपक द्वारा मंजरी के सादृश्य का तिरस्कार हो जाता है—अर्थात् कलश के समान मानो तो मंजरी के समान कैसे कह सकते हो ?

यह तो हुई पहले चरण की बात। अब दूसरा चरण लीजिए। दूसरे चरण में 'कीरदष्टाः' पद में 'विधेयाविमर्श' दोष है, अतः अन्य किसी विधेय की आकांक्षा होती है। वस्तुतः यहाँ 'कीरैर्दष्टाः' ऐसा होना चाहिए। यदि 'कीरदष्टाः' के साथ 'जाताः' पद का अध्याहार करें तब भी जिस "काटखाने" का विधान करना चाहते हो वह विधेय नहीं रहेगा और जिसे विधान नहीं करना चाहते वह 'जाताः' पद का अर्थ विधेय हो जायगा।

इसी तरह तीसरे चरण में—प्रथम तो 'कोयलों के नाद' कौओं के ताड़न करने योग्य नहीं—क्या कोई नादों की भी ताडना कर सकता है कि जिससे उनकी समझ के कारण बोलनेवालियों को पीटा जाय ? और न बोलनेवालियों में कोयलों के नाद का भ्रम ही हो सकता है; क्योंकि नाद करनेवाली और नाद एक वस्तु नहीं। यदि किसी दोष के कारण ऐसा भ्रम मान भी लो तो वह सादृश्यमूलक नहीं हो सकता और तब उसे भ्रांति-अलंकार नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यहाँ "पिकनिकरधिया (कोयलों का झुंड समझकर)" पाठ होना चाहिए। आप कहेंगे—स्त्रियों को बोलने में कोयलों के नाद के ज्ञान का भी, स्त्रियों में कोयलों का ज्ञान उत्पन्न करने द्वारा, ताड़ना में उपयोग हो सकता है। इस कारण 'पिकनिनदधिया' यहाँ जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ करेंगे प्रयोज्यता (सिद्ध होना)' और तब उस वाक्य का 'कोयलों के नाद का ज्ञान जिसका निमित्त है ऐसी कौओं द्वारा की जानेवाली ताडना का कर्म बोलनेवाली' यह अर्थ सहज

में ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अतः कोई बाधा नहीं। पर ऐसा न कहिए; क्योंकि ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती। कारण "चोरबुद्ध्या हतः साधुः—चोर समझकर साधु मार डाला गया" इत्यादि में 'चोर का समझना' और 'मार डालना' इन दोनों के एक आधार में रहने के कारण यह व्युत्पत्ति माननी पड़ती है कि इन दोनों का कार्य-कारण भाव है। तात्पर्य यह कि 'जिसे चोर समझा गया उसे मारा गया' इस तरह इन दोनों बातों के एक आधार में होने के कारण पूर्वोक्त वाक्य की यह व्युत्पत्ति समझ पड़ती है कि 'चोर समझना' मारने का कारण है और 'मारना' चोर समझने का कार्य। इसी तरह "दन्तिबुद्ध्या हतः शूरैर्वराहो वनगोचरः—वीरों ने जगली सूअर को हाथी समझकर मार डाला" इस वाक्य में भी 'सूअर में रहनेवाली हाथी (होने) को समझ' 'सूअर में रहनेवाले मारे जाने (सूअर के मारे जाने)' का कारण है—यह समझा जा सकता है, परंतु आपके हिसाब से तो 'दन्तिबुद्ध्या' की जगह 'दन्तबुद्ध्या (दाँत समझकर)' कर देने से बेचारे बोध की मट्टी पलीद होगा। सरांश यह कि—धर्मी (कोयल आदि) के विषय में भ्रम होने के लिये धर्म (नाद आदि) का बोध शाब्दबोध की प्रक्रिया के अनुसार कार्य-कारण-भाव को नहीं समझा सकता। अतः 'पिकनिनदधिया' यह हेतु ताडन करने में असंगत ही है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है—कोयलों का शब्द 'कूजित = कूजना' आदि शब्दों से वर्णन किया जाता है, 'निनद=नाद' आदि शब्दों से नहीं, जो कि सिंह और नगाड़े आदि शब्दों के लिये प्रयोग करने योग्य है।

वैसे ही प्रथम और द्वितीय चरण में आए 'स्तनों' और 'हाथों' के साथ, दूर होने पर भी तथा दूसरे शब्द (शरण्यम्) के साथ

अन्वित हो चुकने पर भी, (चतुर्थ चरण का) 'मृगदृशाम्' यह षष्ठ्यं-तपद अन्वित हो सकता है; पर तीसरे चरण में आए 'आलपन्त्यः' इस प्रथमांत विशेषण के साथ विशेष्यरूप से उस पद का अन्वय नहीं हो सकता। अतः इस विशेषण के साथ 'मृगनयनियों' की तटस्थता ही हो जाती है—वह उनके साथ किसी तरह नहीं जुड़ सकता। इतने पर भी यदि आप विभक्ति बदलकर अन्वय कर भी दें, तथापि 'प्रक्रमभंग (दो पादों में विशेषणों का षष्ठ्यंत होना और एक में प्रथमांत होना)' एवं ऊदड़खादड़पन फिर भी रह ही जाता है अतः यह पद्य किसी अव्युत्पन्न का बनाया हुआ ही है। दीक्षितजी ने 'भ्रांति-अलंकार' के अंशमात्र को लेकर इसे उदाहरण दिया है। (पर वास्तव में ऐसे व्युत्पन्न), मनुष्य के लिये ऐसा उदाहरण देना उचित नहीं था—इति भावः)।

अलंकार-सर्वस्वकार का खंडन

'अलंकार-सर्वस्वकार' ने 'भ्रांतिमान्' का लक्षण लिखा है—

"सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्।

अर्थात् सादृश्य के कारण अन्य वस्तु की प्रतीति 'भ्रांतिमान्' अलंकार कहलाता है।"

सो यह लक्षण नहीं हो सकता। कारण, इस लक्षण की, पूर्वोक्त 'संदेहालंकार' और आगे वर्णन की जानेवाली 'उत्प्रेक्षा' में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रतीतिरूप तो संदेह और संभावना भी है। यदि आप कहें कि—'प्रतीति, शब्द का अर्थ यहाँ 'निश्चय' है—केवल ज्ञान नहीं, अतः यह दोष नहीं रहता; तथापि रूपक के बोध में अतिव्याप्ति होगी। आप कहेंगे—इस अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिये 'निश्चय' के साथ 'विषयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) का ग्रहण न करनेवाला' यह विशेषण लगावेंगे, तो लगाइए, पर तब भी अतिशयोक्ति के

बोध में तो अतिव्याप्ति को कोई निवारण कर नहीं सकता। अब यदि आप 'निश्चय' के साथ 'अनाहार्य' विशेषण लगावें तो फिर हमारे ही लक्षण में जाकर आपके लक्षण की भी समाप्ति होती है। सो अलंकार-सर्वस्वकार के लक्षण में इतनी न्यूनता है ही।

और इतना सब करने पर भी यह लक्षण 'भ्रांतिमान्' का नहीं, किंतु 'भ्रांति' का हुआ, अतः 'मतुब् (मान्)' का अर्थ फिर भी असंगत ही रहा।

समानधर्म के विषय में विचार

'भ्रांतिमान्' में भी 'समान धर्म' पूर्ववत् ही अनेक प्रकार का रहता है। उनमें से 'कनकद्रवकान्तिकान्तया......" इस उदाहरण में 'सीता' और 'बिजली' में बिंब-प्रति बिंब-भाव है और 'युत' तथा 'मिलित' में शुद्ध सामान्यरूपता (अर्थात् वस्तुप्रतिवस्तुभाव) है।

रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः॥

अत्यंत स्निग्ध श्यामवर्णवाले रामचंद्र को देखकर, वन-प्रदेश में, मोर, मेघ समझने के कारण, मंद मंद नाचने लगे। यहाँ 'स्निग्धता' 'श्यामता' दो धर्म अनुगामी हैं।

भ्रांतिमान् समाप्त।

उल्लेखालंकार

उल्लेख सं० १

लक्षण

एक वस्तु का, निमित्तों के अधीन होकर, अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का ज्ञान 'उल्लेख' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

अधरं बिम्बमाज्ञाय मुखं पद्मं च तन्वि ! ते।
कीराश्च चञ्चरीकाश्च विन्दन्ति परमां मुदम् ॥

हे कृशांगि ! तुम्हारे अधर को बिंबफल और मुख को कमल समझकर तोते और भौंरे परम आनंद को प्राप्त हो रहे हैं।

इस पद्य में प्रतिपादित, तोतों और भौरों द्वारा अधर और मुख के 'बिंबफल' और 'पद्म' समझने रूपी, भ्रांति में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'एक वस्तु का' यह भाग लिखा गया है।

"धर्मस्याऽऽत्मा भागधेयं क्षमायाः......(यह राजा धर्म का आत्मा है, क्षमा का भाग्य है)' इत्यादि पूर्वोक्त मालारूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'अनेक ज्ञाताओं द्वारा' यह भाग लिखा गया है। पर यहाँ बहुवच न कहना अभीष्ट नहीं—अथात् दो ज्ञाता* हों तब भी उल्लेख हो सकता है।

---

* याद रखिए, सस्कृत में तीन से कम के लिये बहुवचन नहीं आता।

नृत्यत्त्वद्वाजिराजिप्रखरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालै-
रालोकालोकभूमीधरमतुलनिरालोकभावं प्रयाते ।
विश्रान्तिं कामयन्ते रजनिरिति धिया भूतले सर्वलोकाः
कोकाः क्रन्दन्ति शोकानलविकलतया किञ्च नन्दन्त्युलूकाः ॥

(हे राजन् !) आपके घोड़ों की कतार के कठोर खुरपुटों से उड़ते रज-समूहों द्वारा, 'लोकालोक' पर्वत पर्यन्त (अर्थात् सारे जगत् में), ऐसा प्रकाश का अभाव हो गया कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। अतः रात है—यह समझकर पृथ्वी-तल पर सब लोग विश्राम चाह रहे हैं, शोकानल से विकल होने के कारण चकवे कराह रहे हैं और उल्लू प्रसन्न हो रहे हैं।

यहाँ रज-समूह-रूपी एक वस्तु का अनेकों—लोग, चकोर और उल्लुओं द्वारा एक ही—रात्रित्व-रूपी—प्रकार से ग्रहण (ज्ञान) है। इसमें अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'अनेक प्रकार का' यह यह ज्ञान का विशेषण दिया गया है।

'ज्ञान' शब्द से लक्षण में 'ज्ञान का समुदाय' कहना अभीष्ट है; क्योंकि अनेक ज्ञाताओं द्वारा एक ज्ञान प्रसिद्ध नहीं है—उपाधिभेद से ज्ञान का भेद होना ही चाहिए। आप कहेंगे—तब फिर 'ज्ञान' शब्द में एकवचन क्यों लिखा गया? तो इसका उत्तर यह है कि—एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिये एकवचन का व्याकरण में, विधान है, वही एकवचन यहाँ है। अतः इस एकवचन द्वारा दो अथवा दो से अधिक ज्ञानों का ग्रहण हो सकता है।

'निमित्तों के अधीन होकर' यह लक्षण का भाग तो केवल वस्तु-कथन है—अर्थात् यह विशेषण अतिव्याप्ति अव्याप्ति मिटाने के लिये नहीं, किंतु ज्ञान का स्वरूप समझाकर उसे स्पष्ट कर देने के लिये है।

उदाहरण

नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे-
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसंघैरपि ।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसंगैरियं
तनोतु मम शन्तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना ॥

मनुष्यों द्वारा उत्तम गति देनेवाली समझकर, देवताओं द्वारा अपनी नदी समझकर, सभी सिद्धसमूहों द्वारा बड़ी भारी सिद्धि देनेवाली समझकर और आसक्तिरहित मुनियों द्वारा भगवान् का स्वरूप समझकर आश्रय की हुई यह शंतनु की पत्नी (श्री गंगा) मेरे शरीर का कल्याण करे ।

यहाँ 'लाभ की इच्छा' और 'रुचि' इन दो निमित्तों से, अनेक ज्ञाताओं द्वारा किया गया उत्तम गति देनेवाली होना' आदि अनेक प्रकार के ज्ञान का समुदाय, गंगाजी के विषय में होनेवाले प्रेमरूपी भाव का सुशोभित करनेवाला है । इस उदाहरण में यह उल्लेखालंकार शुद्ध (अन्य अलंकार से अमिश्रित) ही है; कारण, यहाँ रूपक आदि का मिश्रण नहीं है ।

मिश्रित उल्लेखालंकार भी देखा जाता है; जैसे—

आलोक्य सुन्दरि ! मुखं तव मन्दहासं
नन्दन्त्यमन्यदमरविन्दधिया मिलिन्दाः ।
किञ्चाऽऽलि ! पूर्णमृगलाञ्छनसंभ्रमेण
चञ्चूपुटं चपलयन्ति चिरं चकोराः ॥

हे सुंदरि ! तुम्हारे मंदहास-युक्त मुख को देखकर भौंरे कमल समझकर अत्यंत प्रसन्न होते हैं; और हे सखि ! चकोर, पूर्ण, चंद्रमा के भ्रम से, बहुत समय तक चोंचें चंचल करते रहते हैं।

यहाँ एक एक ज्ञान के रूप में 'भ्रांति' है। उस भ्रांति से ऐसे ज्ञानों का समुदाय रूप उल्लेखालंकार मिश्रित है। तात्पर्य यह कि इस उल्लेख में 'भ्रांतिमान्' का मिश्रण है।

वनितेति वदन्त्येतां लोकाः सर्वे वदन्तु ते।
यूनां परिणता सेयं तपस्येति मतं मम॥

इसे सब लोग 'स्त्री' कहते हैं। वे भले ही कहें, पर मेरा मत तो यह है कि—युवकों की तपस्या इस रूप में परिणत हुई है।

यहाँ उपनेयतावच्छेदक (स्त्रीत्व) को दूसरों का माना हुआ बताने के कारण उसका उपन्यास निषेध करने के लिये हुआ है, अतः यह उल्लेख अपह्नुति से मिश्रित है।

अप्पय दीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित तो कहते हैं—'यदि ऐसा करने पर भी

'कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुजं परे।
वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं द्वयम्॥

नायक नायिका से कहता है—तुम्हारे मुख को कुछ लोग कांति के कारण चंद्रमा कहते हैं, दूसरे लोग सुगंध के कारण कमल कहते हैं; पर हम तो कहते हैं कि—तप करके दोनो एकता को प्राप्त हो गए हैं—अतः तुम्हारा मुख उन दोनों का मिश्रणरूप है।'

इस अपह्नुति के उदाहरण में अतिव्याप्ति की शंका होती हो तो 'अनेक प्रकार के उल्लेख (ज्ञान)' के साथ (लक्षण में) 'निषेध से स्पर्श न किया हुआ' यह विशेषण लगा देना चाहिए। इस पद्य में पहले दो 'उल्लेखों' का दूसरे के मत के रूप में उपन्यास होने के सामर्थ्य से निषेध अभिव्यक्त होता है। सो वैसा कर देने से यहाँ अतिव्याप्ति न होगी।"

पर यह ठीक नहीं। क्योंकि आपने स्वयं ही "यह उल्लेख दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलंकारों से मिश्रित" यह कहकर लिखा है कि—"श्रीकंठ देश के वर्णन में 'जिसे मुनि लोग तपोवन समझते थे' इत्यादि में शुद्ध उल्लेख है और 'शत्रु लोग यमराज का नगर समझते थे, शरणागत वज्र का पिंजरा समझते थे' इत्यादि में भ्रांति, रूपक आदि से मिश्रित है।" ऐसी दशा में उपर्युक्त पद्य में अपह्नुति से मिश्रित उल्लेख अनायास ही कहा जा सकता है—यह कहाँ का न्याय है कि उल्लेख अन्य अलंकारों से मिश्रित होने पर भी केवल अपह्नुति से मिश्रित नहीं हो सकता। अतः यह सब कथन मिथ्या है।

और यदि आप ऐसी अपह्नुति के निवारण के लिये 'निषेध से स्पर्श न किया हुआ' विशेषण लगाते हैं तो

"कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति॥

कपाल में स्थित चंद्र-किरणों को दूध समझ कर बिलाव चाट रहा है, वृक्ष के छिद्रों में पुही हुई उन्हें मृणाल समझकर हाथी इकट्ठी कर रहा है और शय्या पर गिरी हुई उनको साड़ी समझकर, सुरत के अंत में, कामिनी भी उठा रही है। ओह! प्रभा से मत्त चंद्रमा इस जगत् को भ्रांत बना रहा है।

इस आपकी उदाहृत भ्रांति में उल्लेख की अतिव्याप्ति कैसे मिटाई जा सकती है? कारण, बिलाव आदि अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का उल्लेखन यहाँ भी है, और अपने अपने प्रिय आहार (आदि) के लाभ की इच्छा रूप निमित्त का भेद है। (आश्चर्य है कि—मिश्रित भ्रांति को तो आपने भ्रांति का प्रधान उदाहरण बताया है और मिश्रित उल्लेख के निवारण के लिये प्रयास कर रहे हैं।) सो मिश्रित उल्लेख के निवारण का प्रयत्न व्यर्थ ही है—जब उल्लेख मिश्रित होता ही है तो फिर उसे हटाने की क्या आवश्यकता है?

संदेह से मिश्रित उल्लेख; जैसे—

भानुरग्निर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिबिः।
प्रत्यर्थिनश्चार्थिनश्च विकल्पन्त इति त्वयि॥

(हे राजन्!) आप के विषय में शत्रु इस तरह के विकल्प करते हैं कि—यह सूर्य है, अग्नि अथवा यम है। और याचक इस तरह के विकल्प करते हैं कि—*यह बलि है, कर्ण है अथवा शिबि है।

यहाँ दो ज्ञानों (शत्रुओं और मित्रों के) में से प्रत्येक संदेह रूप है (क्योंकि प्रत्येक में परस्पर विरुद्ध अनेक कोटियाँ वर्णित हैं) और समुदाय तो उल्लेखरूप है।

---

* ये तीनों राजा बड़े दानी हो गए हैं।

उल्लेख के अन्य भेद

जब किसी वस्तु के केवल स्वरूपमात्र का उल्लेख हो तब **स्वरूपोल्लेख** होता है जो कि पहले ही निरूपण किया जा चुका है।

जब फलों (प्रयोजनों) का उल्लेख हो तब **फलोल्लेख** होता है; जैसे—

अर्थिनो दातुमेवेति त्रातुमेवेति कातराः।
जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देव ! जानते ॥

हे देव ! याचक लोग जानते हैं कि आप देने ही के लिये उत्पन्न हुए हैं, कायर लोग जानते हैं कि आप रक्षा करने ही के लिये उत्पन्न हुए हैं और वीर लोग जानते हैं कि आप मारने ही के लिये उत्पन्न हुए हैं।

हेतुओं का उल्लेख होने पर हेतूल्लेख होता है; जैसे—

हरिचरणनखरसंगादेके हरमूर्धसंस्थितेरन्ये।
त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरे सुरतटिनि ! वस्तुमाहात्म्यात् ॥

हे गंगे ! आपको कुछ लोग भगवान् के चरण-नख के संग के कारण, दूसरे लोग शिवजी के शिर पर रहने के कारण और अन्य लोग वस्तु के माहात्म्य के—अर्थात् आप हैं ही ऐसी वस्तु, इस कारण अत्यन्त पवित्र कहते हैं।

उल्लेख सं० २

लक्षण

'उल्लेख' एक अन्य प्रकार से भी देखने में आता है। वह वहाँ होता है—

जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय, आश्रय अथवा साथ रहने वाले आदि संबंधियों में से किसी की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार हों।

यह उल्लेख भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित। शुद्ध उल्लेख (सं० २); जैसे—

दीनव्राते दयार्द्रा सकलरिपुकुले निर्दया, किञ्च मृद्वी
काव्यालापेषु, तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना।
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि, परविपद्दर्शने कान्दिशीका
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः॥

हे राजन्! दीनों के समूह पर दया से भीनी, समग्र शत्रुसमूह पर निर्दय, काव्यों की बातचीत मे कोमल, तर्कों के उत्तर देने मे कठोरता धारण करनेवाली, धर्म में लोभयुक्त, द्रव्य में लोभरहित और अन्य की आपत्ति देखने में अति भीरु आपकी सहज-सुंदर चित्तवृत्ति अनेक प्रकार से स्फुरित हो रही है।

यहाँ 'दीनो के समूह' आदि विषयों के अनेक होने से (एक ही) चित्तवृत्ति अनेक प्रकार की हो गई है। यह उल्लेखालकार राजा के विषय में कवि के प्रेमरूपी भाव को शोभित करनेवाला है। यद्यपि चित्तवृत्तियो के विभिन्न होने के कारण उनकी व्यक्तिगत रूप से एकता नहीं है, तथापि चित्तवृत्तित्वरूपी सामान्य धर्म को लेकर उन्हें एक कहना अभीष्ट है।

अथवा जैसे—

कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः।
अर्थेष्वलोभा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः॥

दूसरों के दुःखों में कायर और अपने दुःखों में निडर द्रव्य में लोभ-रहित और यश में लोभसहित ऐसे सत्पुरुष (आज भी) हैं।

'सत्पुरुष हैं' इस वाक्य के द्वारा यह बात अभिव्यक्त होती है कि—'वे मर गए तब भी नहीं मरे और अन्य नहीं मरे तब भी मरे ही हैं' और इस अभिव्यक्त वस्तु द्वारा सत्पुरुषों का एक प्रकार का उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। यहाँ भी उल्लेख उस उत्कर्ष का परिपोष करनेवाला है, अतः अलंकाररूप है।

अथवा जैसे—

तुषारास्तापसव्राते तामसेषु च तापिनः।
दृगन्तास्ताडकाशत्रोर्भूयासुर्मम भूतये॥

तपस्वियों के समूह पर शीतल और तामस लोगों को तपानेवाले ऐसे श्रीरामचंद्र के कटाक्ष मेरे अभ्युदय के लिये हों।

पूर्वोक्त दोनों पद्यों में विषयों की अनेकता के कारण वस्तु अनेक प्रकार की हुई है और इस पद्य में आश्रय की अनेकता के कारण कटाक्ष अनेक प्रकार के हुए हैं।

विद्वत्सु विमलज्ञाना विरक्ता यतिषु स्थिताः।
स्वीयेषु तु गरोद्गारा नानाकाराः क्षितौ खलाः॥

विद्वानों में निर्मल ज्ञानवाले, संन्यासियों में विरक्त और स्वजनों में जहर उगलनेवाले, इस तरह, पृथ्वी पर, दुष्ट लोग अनेक आकार धारण किये हुए हैं।

यहाँ विद्वान् आदि सहचरों के भेद के कारण खल अनेक प्रकार के बताए गए हैं। इसी तरह अन्य संबंधियों के भेद में भी तर्कना कर लेनी चाहिए।

मिश्रित उल्लेख (सं० २); जैसे—

गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले ।
पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल ! तव कीर्त्तयः ॥

हे राजन् ! आपकी कीर्त्तियाँ आकाश में चंद्रिका-सी, हिमालय में बरफ-सी और पृथ्वी पर समुद्र-सी हो रही हैं ।

यहाँ ऊपर से प्रतीत होनेवाली उपमा, पर अंततः सिद्ध होनेवाली उत्प्रेक्षा, से उल्लेख मिश्रित है ।

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवात्* ।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥

ऊपर से तलवार की धार के-से आकारवाले तथा सर्पराज से भी क्रूर, पर अंदर साक्षात् अंगूरों को भी दीक्षा देनेवाले गुरु (अत्यंत मधुर और कोमल) ऐसे कुछ पुरुष सर्वोत्कृष्ट हैं ।

यहाँ उपमा ('धार के से आकारवाले'), व्यतिरेक ('सर्पराज से भी क्रूर'), (इन दोनों के) समुच्चय और (गम्य) उत्प्रेक्षा इतने अलंकारों से मिश्रित उल्लेख है ।

यमः प्रतिमहीभृतां हुतवहोऽसि तन्नीवृतां
सतां खलु युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम् ।
गृहं शरणमिच्छतां कुलिशकोटिभिर्निर्मितं
त्वमेक इह भूतले बहुविधो विधात्रा कृतः ॥

---

* आर्या छंद के विषमस्थानों में जगण नहीं होता, पर यहाँ सप्तम स्थान में जगण है; अतः यह आर्या का पूर्वार्द्ध छंदोभंग से दूषित है ।
—काव्यमालासंपादक ।

हे राजन् ! शत्रु-राजाओं के लिए यम, उनके देशों के लिए अग्नि, सत्पुरुषों के लिए युधिष्ठिर, धन चाहनेवालों के लिए कुबेर और रक्षा चाहनेवालों के लिए वज्र की नोकों से बनाया हुआ भवन; इस तरह एक ही तुझे विधाता ने पृथ्वीतल पर अनेक प्रकार का बनाया है।

इस पद्य में कवि ने अपने स्वरूप में विद्यमान राजा को 'यम' आदि रूपों में बताया है, अतः रूपक से, शत्रु-राजा आदि को इसके आने पर 'यम' आदि की भ्रांति का भी संभव है, अतः * भ्रांतिमान् से,

---

* नागेश कहते हैं—इस भेद को 'भ्रांतिमान्' और उल्लेख सं० १ के प्रथम भेद से मिश्रित बताना उचित नहीं। कारण, एक तो यम आदि की भ्रांति राजा के उत्कर्ष के विरुद्ध है, दूसरे यहाँ उल्लेख (सं० १) भी नहीं; क्योंकि उसके लक्षण में ज्ञान-पर्यंत का समावेश होने के कारण 'यम' आदि के ज्ञान का वर्णन होने पर ही वह उल्लेख हो सकता है, अतः शब्द द्वारा और नियमतः अभिव्यक्ति करनेवाली सामग्री के अभाव के कारण अर्थ द्वारा भी वैसे उल्लेख का बोध सम्भव नहीं। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—भ्रांति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, अतः शब्द द्वारा अथवा अर्थ द्वारा ज्ञान का वर्णन न होने के कारण भी भ्रांति का होना सम्भव नहीं।

परंतु शत्रु-राजा आदि को प्रकृत राजा में यम आदि की भ्रांति होना कैसे उत्कर्ष नहीं है, यह नागेश ही जानें। —सं०।

दूसरे, यह कहना भी कि ज्ञानपर्यंत का समावेश होने के कारण उल्लेख का बोध संभव नहीं और 'भ्रान्ति का संभव नहीं' यह भी अडंगाही है क्योंकि शुभ का राजा में यमत्वादिक का आरोप अथवा भ्रान्तित हो सकती है, सो यहाँ आरोप तो उपयोगी है नहीं, क्योंकि उसमें वक्ता को आहार्य निश्चय होने के कारण कल्पितता का ज्ञान रहता है उससे उनको भयादिक नहीं हो सकता, अतः अयथार्थ ज्ञारूपा अर्थप्राप्त भ्रान्ति माने बिना निर्वाह नहीं। अनुवादक

और शत्रु-राजा आदि अनेक ज्ञाताओं द्वारा 'यम होने' आदि अनेक धर्मों से उल्लेखन (ज्ञान) होने के कारण उल्लेख * (सं० १) के (प्रथम) भेद से—इतने अलंकारों से मिश्रित उल्लेख है, जिसमें कि 'प्रतिमहीभृताम्' आदि षष्ठ्यंत संबंधियों के (क्योंकि षष्ठी विभक्ति संबंध-अर्थ में होती है) भेद के कारण वर्णनीय राजा का अनेक प्रकार से होना वर्णित है।

दोनों उल्लेखों का पृथक्करण

यहाँ यह बात समझ लेने की है—

पहले निरूपण किए गए 'उल्लेख' के भेद (सं० १) जैसे—

'जिसे वैष्णव महाविष्णु कहते हैं, याज्ञिक यज्ञपुरुष कहते हैं, चार्वाक स्वभाव कहते हैं, वेदांती ब्रह्म कहते हैं वह आदिपुरुष हरि यह है।"

इत्यादिक में उन ज्ञाताओं द्वारा उस-उस प्रकार के ज्ञान-समूह का चमत्कार उत्पन्न करना अनुभव-सिद्ध है, अतः ज्ञात-समूह अलंकार रूप है और उल्लेख के दूसरे भेद (सं० २) जैसे—

'जो शिष्टों के लिये दयायुक्त है, दुष्टों के लिए भयंकर है।'

इत्यादि में उन विषयों के भेद से भिन्न होनेवाला केवल प्रकारों का समूह ही अलंकार रूप है। ज्ञान का अंश यद्यपि यहाँ विद्यमान है तथापि वह अलंकार नहीं कहा जा सकता; कारण, उसका चमत्कारी रूप में अनुभव नहीं होता और यह बात तो सिद्ध ही है कि—उपमा आदि का अलंकार होना केवल चमत्कार के कारण है, जो चमत्कारी न हो उसे अलकार नहीं माना जा सकता। सारांश यह कि—उल्लेख सं० १ में ज्ञान-समूह को अलंकार माना गया है और उल्लेख सं० २

में प्रकार-समूह को। अतएव हमने दूसरे उल्लेख का लक्षण 'विषय आदि में से किसी एक की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार होना' यों बनाया है।

इस बात को सिद्धांत मानकर यह कहा जाता है कि—उल्लेख के सामान्य लक्षण का अवच्छेदक धर्म है 'इन दोनों लक्षणों में से कोई भी एक होना'। सारांश यह कि—इन दोनों लक्षणों में से किसी भी एक लक्षण के होने पर 'उल्लेख' कहा जा सकता है।

पर अन्य विद्वान् कहते हैं--यह गड़बड़ ठीक नहीं। दोनों ही भेदों में 'वर्णनीय के अंदर रहनेवाले के रूप में भासित होनेवाला प्रकारों का समूह ही उल्लेख है'। अतः पृथक्-पृथक् दो लक्षणों की आवश्यकता नहीं। सारांश यह कि—पहले भेद में भा प्रकार-समूह को ही 'उल्लेख' मानना चाहिए, ज्ञान-समूह को नहीं।

उल्लेख की ध्वनि

अनल्पतापाः कृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः।
विलोक्य गङ्गां विचलत्तरङ्गाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति॥

अत्यंत तापवाले, करोड़ों पाप करनेवाले, प्रधान रोगों से पीड़ित और संसार के दुःख से जर्जरित, ये सब के सब—लहराती हुई गंगा को देखकर सुखी होते हैं।

यहाँ पूर्वार्ध में लिखे चारों देखनेवालों का 'सुखी होना' कहने से 'ताप, पाप रोग और संसार का नाश करनेवाली होने' रूपी प्रकारों (विशेषणों) से युक्त ज्ञानों का आक्षेप होता है। अतः यह शुद्ध उल्लेख (सं० १) की ध्वनि है।

मिश्रित उल्लेख (सं० १) की ध्वनि; जैसे—

स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् ।
चकोराश्च भ्रमरीकाश्च मुदं परतरां ययुः ॥

वहाँ मंदहासयुक्त मुखवाली उस विलासिनी को देखकर चकोर और भौंरे परम आनंद को प्राप्त हुए ।

यहाँ एक-एक ज्ञान के रूप में 'भ्रांति' ध्वनित होती है और उससे मिश्रित है उन दोनों भ्रांतियों का समूहरूप उल्लेख। आप कहेंगे—इस पद्य में तो भ्रांति का ही चमत्कार है, अतः उल्लेख छिपाया जा सकता है। पर ऐसा नहीं हो सकता। कारण, अनेक कर्ताओं द्वारा अनेक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् उल्लेख), जिसका विषय अन्य अलंकारों से पृथक् है—अर्थात् जिसे उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता, उसका चमत्कार यहाँ भी है ।

उल्लेख (सं० २) की ध्वनि, जैसे—

भासयति व्योमगता जगदखिलं कुमुदिनीर्विकासयति ।
कीर्त्तिस्तव धरणिगता सगरसुतायासमफलतां नयति ॥

हे राजन्! आपकी कीर्त्ति आकाश में गई हुई सब जगत् को प्रकाशित एवं कुमुदिनियों को विकसित कर रही है और पृथ्वी पर गई हुई सगर राजा के पुत्रों के परिश्रम को निष्फल कर रही है।

यहाँ आधार के भेद के कारण एक ही कीर्त्ति में 'चाँदनीपन' तथा 'समुद्रपन' रूपी अनेक प्रकारवाली होना, रूपक से मिश्रित होकर ध्वनित होता है ।

उल्लेख समाप्त

अपह्नुति अलंकार

लक्षण

उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) के निषेध को साथ रखते हुए आरोपित किया जानेवाला उपमान का ताद्रूप्य 'अपह्नुति' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

इस लक्षण में '......साथ रखते हुए' तक का भाग रूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये है। अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध होता है; अतः उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि और उपमानतावच्छेदक का विरोध प्रतीत होता है और रूपक में तो उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक के एक साथ रहने का बोध होता है, अतः विरोध निवृत्त हो जाता है।

उदाहरण

स्मितं नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
मुखं ब्रूते मूढः कुसुममिदमुद्यत्परिमलम्।
स्तनद्वन्द्वं मिथ्या कनकनिभमेतत् फलयुगं
लता रम्या सेयं भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥

यह मंदहास नहीं, किंतु स्वभाव-सुंदर विकास है। मूर्ख कहता है कि—मुख है, यह तो जिसमें से महक उठ रही है ऐसा पुष्प है। स्तनों की जोड़ी झूठी है, यह तो सोने-सी कांतिवाला फल-युगल है। अतः यह भ्रमर-समूह से नमाई जानेवाली सुंदर लता है, रमणी नहीं।

यह अपह्नुति समर्थ्य-समर्थक रूप में आए अवयवों का समूह होने के कारण सावयव है।

निरवयव अपह्नुति, जैसे

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किन्तु स्फुटं गरलमेतदथाऽमृतं च।
नो चेत्कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः॥

श्याम और श्वेत सुनयनी के नयनों का स्वरूप नहीं है, किंतु स्पष्ट है कि यह जहर और अमृत है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो इनके गिरने से तत्काल ही युवा लोग मोह और आनंद को कैसे प्राप्त होते हैं? यह तो विष तथा अमृत का ही काम है।

यहाँ प्रतिज्ञापूर्वक कहे पदार्थ से विपरीत मानने में बाधक (हेतु) बताया गया है, अतः यह हेत्वपह्नुति है।

अपह्नुति के भेद

अपह्नुति में 'नञ् (नहीं)' आदि के द्वारा साक्षात्, अथवा 'दूसरे के मत से सिद्ध होने' आदि के द्वारा कुछ व्यवधान से जब उपमेय का निषेध समझाया जाता है तब प्रायः वाक्य-भेद होता है—अर्थात् एक वाक्य में उपमेय का निषेध रहता है, दूसरे वाक्य में उपमान का तादूप्य। और जब वही निषेध मिष, छल, छद्म, कपट, व्याज, वपु, आत्मा आदि शब्दों से समझाया जाता है तो दोनों बातें एक ही वाक्य में आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त कहीं निषेध पहले रहता है, कहीं आरोप पहले। कहीं उपमान का तादूप्य और उपमेय

का निषेध इन दोनों में से एक शब्द द्वारा वर्णित होता है, दूसरा अर्थप्राप्त। कहीं दोनों शब्द द्वारा वर्णित होते हैं, कहीं दोनों अर्थप्राप्त। कहीं दोनों विधेय होते हैं, कहीं दोनों अनुवाद्य। इस तरह अनेक प्रकार हो सकते हैं। परंतु वे कोई विशिष्ट विचित्रता नहीं रखते, अतः गिनने योग्य नहीं हैं।

इतने पर भी उनका केवल प्रकारमात्र दिखाया जाता है। उदाहरण के लिये पूर्वोक्त 'सावयव अपह्नुति' के उदाहरण "स्मितं नैतत्........" को लीजिए। उसमें चार अवयव हैं। उनमें से पहले अवयव में निषेध पहले है (और आरोप पीछे) एवं निषेध और ताद्रूप्य दोनों शब्द द्वारा वर्णित और विधेय हैं तथा वाक्यभेद है।

दूसरे अवयव में 'वक्ता में रहनेवाली मूर्खता' के कथन से प्रथमतः वक्ता के भ्रम का बोध होता है और इस व्यवधान को रखकर निषेध का बोध होता है, अतः निषेध अर्थप्राप्त है और ताद्रूप्य शब्द द्वारा वर्णित। विधेयता, वाक्य-भेद और निषेध का प्रथम होना—ये सब पहले अवयव की तरह हैं। (तीसरे अवयव में सब बातें दूसरे अवयव के समान हैं)।

चौथे अवयव में आरोप पहले है और निषेध पीछे। और निषेध-आरोप दोनों का शब्द द्वारा वर्णित होना, विधेय होना और वाक्यभेद ये सब पहले अवयव के समान ही हैं।

एक उदाहरण और लीजिए—

वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा न हि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः।

विधाता ने जीभ के मिष से चुगलखोरों के मुँह में सर्पिणी रख दी है, अन्यथा इसके चक्कर में आए लोग मंत्र (बचने के साधन) से रहित होकर किञ्चित् भी क्यों नहीं जीते।

यहाँ 'जीभ (उपमेय)' का निषेध और सर्पिणी (उपमान) का ताद्रूप्य एक वाक्य में आए हैं। दोनों अर्थप्राप्त और अनुवाद्य हैं। अनुवाद्य इसलिये कि न यहाँ निषेध विधेय है, न ताद्रूप्य, किंतु 'रखना' विधेय है। इसी तरह अन्य बातें भी सोच लीजिए।

प्रत्युदाहरण

अपह्नुति के लक्षण में 'आरोपित किया जानेवाला' शब्द का अर्थ है 'आहार्य निश्चय का विषय किया जाना'—अर्थात् वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके विषय में झूठा समझते हुए भी कल्पित निश्चय कर लिया गया हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि—

संग्रामाङ्गणसंमुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन् सद्यो जगन्मण्डलं
मार्त्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः॥

रणांगण में सम्मुख मारे गए कितने ही राजाओं द्वारा विदीर्ण हुए मध्यभाग के छिद्र से आकाश की नीलिमा प्रकट हो रही है। उस नीलिमा से युक्त यह सूर्य अंगारों के समान कठोर किरणों से भुवन-मंडल को तत्काल भस्मसात् करता हुआ उदय हो रहा है। किस पशु ने इसे चंद्रमा न होते हुए भी जगत् में चंद्रमा कर दिया?

इस विरही के वाक्य में 'यह चंद्रमा नहीं, किंतु छिद्रसहित सूर्य है' यह तो अपह्नुति की छायामात्र है—अर्थात् अपह्नुतिसा दिखाई देता है, अपह्नुति अलंकार नहीं है। कारण, यह ज्ञान एक प्रकार के दोष (विरह) से उत्पन्न हुआ है, अतः 'आहार्य निश्चय' नहीं है। किंतु वक्ता को वैसा ही बोध हो रहा है, अतः 'भ्रांति' अलंकार ही है।

अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते।
अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेदं मृगीदृशः॥

जिसमें भौंरा, मृग अथवा नेत्र—कुछ दिखाई दे रहा है, यह कमल चंद्रमा अथवा मृगनयनी का मुख है।

यहाँ 'मुख है अथवा कमल ?' इस कवि में रहनेवाले आहार्य संदेह में मुख के निषेध के साथ जो कमल का तादूप्य समझ में आता है वह निश्चय का विषय नहीं है (किंतु संदेह का है) अतः उसका संग्रह इस लक्षण से नहीं होता। आप कहेंगे—यहाँ उपमेय का निषेध किसी पद का अर्थ तो है नहीं। श्लोक के किसी पद से तो वैसा अर्थ निकलता नहीं। पर यह ठीक नहीं। यहाँ 'वा' शब्द का अर्थ निषेध है—यदि कवि को मुख का निषेध अभीष्ट न होता (निश्चय अभीष्ट होता) तो 'अथवा' करके उसे लिखने की क्या आवश्यकता थी ?

पयस्तापह्नुति अपह्नुति नहीं है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानंद' नामक ग्रंथ में अपह्नुति के भेद कहने के प्रसंग में 'पर्यस्तापह्नुति' नामक भेद का निरूपण करते हुए कहा है।

"अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तुसः ।
नाऽयं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥

उपमेय में उपमान का आरोप करने के लिये (उपमान के) अपह्नव को 'पर्यस्तापह्नुति' कहते हैं; जैसे यह (आकाश में स्थित चंद्रमा) चंद्रमा नहीं है, तो फिर चंद्रमा क्या है ? प्रियतमा का मुख ।"

इस पर विचार किया जाता है । इसे अपह्नुति का भेद कहना उचित नहीं । कारण, यह भेद अपह्नुति के सामान्यलक्षण में नहीं आता । देखिए—

"प्रकृतं यन्निषिध्याऽन्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।
उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत् स्थाप्यते साऽपह्नुतिः ।

अर्थात् उपमेय को झूठा करके जो उपमान को सच्चे रूप में स्थापित किया जाता है वह 'अपह्नुति' कहलाती है ।"

इस 'काव्यप्रकाश' के लक्षण से यह भेद बाहर जाता है (क्योंकि इस भेद में उपमेय को नहीं, किंतु उपमान को झूठा ठहराया जा रहा है) यह तो स्पष्ट ही है ।

इसी तरह

'विषयापह्नवे वस्त्वन्तरप्रतीतावपह्नुतिः

अर्थात् उपमेय के छिपाने पर अन्य वस्तु की प्रतीति को अपह्नुति कहते हैं ।' यह 'अलंकार-सर्वस्व' में कहा लक्षण भी यहाँ प्रवृत्त नहीं होता । और—

"प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् ।
साम्यदपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥

उपमेय का निषेध करके, सादृश्य के कारण, अन्य होने की कल्पना को 'अपह्नुति' कहते हैं। वह वाक्य के भिन्न होने और एक होने द्वारा दो प्रकार की है"

यह 'चित्र-मीमांसा' में लिखा हुआ उन (अप्पयदीक्षित) का लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् यहाँ प्रवृत्त नहीं होता।

अतः 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इस जगह दृढारोप रूपक ही होना उचित है, अपह्नुति नहीं। कारण, यहाँ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक दोनों के एक साथ रहने का, बिना किसी गड़बड़ के, भान होता है—अर्थात् उपमान-उपमेय में विरोध नहीं भासित होता। यही बात 'विमर्शिनी' में लिखी भी है—

'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।

अत्र विषस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोपं रूपकमेव, नाऽपह्नुतिः।

अर्थात् 'जहर को जहर नहीं कहते, किंतु ब्राह्मण के धन को जहर कहते हैं' यहाँ प्रथमतः विष का निषेध कर अनंतर उसका 'ब्रह्मस्व'रूपी उपमेय में आरोप किया जा रहा है, अतः यहाँ **दृढारोप** (जिसमें आरोप दृढ़ कर दिया गया हो ऐसा) **रूपक** ही होना चाहिए, अपह्नुति नहीं।"

किंतु यदि आप कहें कि—'अलंकाररत्नाकर' की तरह मैंने भी प्राचीन मत की उपेक्षा करके इस भेद को अपह्नुति में ही गिना है, तो हम कहते हैं कि—आहार्य ताद्रूप्य का निश्चय तो अपह्नुति में भी वैसा ही है, अतः 'अपह्नुति भी रूपक का ही भेद है' यह भी कह डालिए और प्राचीनों के संकोच का त्याग करिए—कह दीजिए कि वे इस

विषय में कुछ समझे ही नहीं। पर ऐसा मान लेने पर भी 'चित्रमीमांसा' में लिखे आपके अपह्नुति-लक्षण की तो इस उदाहरण में अव्याप्ति ज्यों-की-त्यों रही—उसका उत्तर तो आपके पास कुछ है नहीं।

और यदि "नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी-मुखम्" इस जगह 'पर्यस्तापह्नुति' कही जाती है तो उसी अपह्नुति में आपके बनाए 'चित्रमीमांसा' वाले

"बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥"

(अर्थ लिखा जा चुका है।)

इस रूपक के लक्षण की अतिव्याप्ति वज्रलेप के समान हो जायगी। कारण, लक्षण में 'अनिह्नुत (नहीं छिपाया हुआ)' यह विशेषण उपमेय का है और प्रकृत उदाहरण में छिपाया गया है उपमान, न कि उपमेय, अतः रूपक के लक्षण को यहाँ से हटाने का कोई उपाय नहीं।

इतने पर भी "चित्र-मीमांसा में प्राचीनों के मत के अनुसार लक्षण है और कुवलयानंद में रत्नाकर आदि के अनुसार इस भेद को अपह्नुति कहा गया है इस तरह किसी प्रकार समाधान किया जा सकता है...।'*
...............करना चाहिए। यह है संक्षेप।

अन्य भेद

अनल्पजाम्बूनददानवर्षं तथैव हर्षं जनयञ्जनेषु।
दारिद्र्यघर्मक्षपणक्षमोऽयं धाराधरो नैव धराधिनाथः॥

---

* नागेश कहते हैं—इसके आगे कुछ भाग छूट गया है वह सभी पुस्तकों में दुर्लभ है।

मनुष्यों में अत्यधिक सुवर्ण-दानरूपी वृष्टि एवं हर्ष उत्पन्न करनेवाला यह, दरिद्रता-रूपी गरमी के क्षय करने में समर्थ मेघ है, राजा नहीं।

यह अपह्नुति सावयव आरोपोंवाली है।

केवल आरोप ही अपह्नुति का साधक हो तो यह अपह्नुति परंपरित भी हो सकती है। जैसे—

मनुष्य इति मूढेन खलः केन निगद्यते।
अयं तु सज्जनाम्भोजवनमत्तमतङ्गजः॥

कौन मूर्ख 'दुष्ट' को मनुष्य कहता है। यह तो सज्जनरूपी कमलवन के लिये मत्त हाथी है—जो उसे तोड़-मरोड़कर विनष्ट कर देता है।

अपह्नुति की ध्वनि

दयिते! रदनत्विषां मिषादयि! तेऽमी विलसन्ति केसरा।
अपि चाऽलकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः॥

अयि प्रिये! तुम्हारी दंत-कांतियों के मिष से ये केसरे सुशोभित हो रहे हैं और अलकों का वेष धारण करनेवाले मकरंद के लोभी भौरे सुशोभित हैं।

यहाँ 'ये दंत की कांतियाँ नहीं हैं, किंतु केसरों की पंक्तियाँ हैं' और 'ये अलक नहीं हैं, किंतु भौंरे हैं' ये दो अपह्नुतियाँ तो क्रमशः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध द्वारा प्रकटतया निवेदन कर ही दी गई हैं। इन दोनों अपह्नुतियों द्वारा 'तू स्त्री नहीं, किंतु कमलिनी है' यह तीसरी अपह्नुति, व्यंजना वृत्ति से, प्रधानतया निवेदन की जा रही है—अर्थात् ध्वनित हो रही है। कारण, 'उस वस्तु से संबंध रखनेवाली वस्तुओं का निषेध और

आरोप उस वस्तु के निषेध और आरोप का निवेदन-कर्त्ता होता है' यह बात न्यायप्राप्त है। आप कहेंगे—यहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का, पूर्वार्ध में, 'सुशोभित होना' रूपी क्रिया और, उत्तरार्ध में, 'लोभी होना' रूपी गुण इस तरह, एक-एक समान धर्म हैं, और उनमें प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों का अन्वय होता है; अतः यहाँ 'तुल्ययोगिता अलंकार'* होना चाहिए। तो आपका यह कहना ठीक है; पर वह तुल्ययोगिता यहाँ गौण रूप में है—उसका यहाँ प्रधानतया चमत्कार नहीं।

अप्पयदीक्षित के उदाहरण का खंडन

अप्पयदीक्षित ने अपह्नुति की ध्वनि के विषय में कहा है—

"त्वदालेख्ये कौतूहलतरलतन्वीविरचिते
विधायैका चक्रं रचयति सुपर्णीसुतमपि।
अपि स्विद्यत्पाणिस्त्वरितमपमृज्यैतदपरा
करे पौष्पं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति॥

किसी नायक का वर्णन है। कवि कहता है—कौतूहल से चंचल कृशांगी (नायिका) ने आपका चित्र बनाया। उस पर दूसरी (सखी) चक्र बनाकर गरुड बना रही है, (ऐसे ही समय) तीसरी, जिसके हाथ में प्रस्वेद आ रहे थे झट से चक्र और गरुड़ को मिटाकर हाथ में पुष्पमय धनुष और ऊपर मगर लिख रही है।

---

* यहाँ नागेश के अक्षरों के अनुसार तुल्ययोगिता अलंकार का समन्वय करना ठीक नहीं। वह अत्यंत अशुद्ध है। प्रकृतमात्र अथवा अप्रकृतमात्र का एक धर्म में अन्वय तुल्ययोगिता कहा जाता है, अतः सुशोभित होने रूपी क्रिया में केसर और भ्रमर का अन्वय होने से तुल्ययोगिता मानना चाहिए।—सं०

इत्यादिक में अपह्नुति की ध्वनि का उदाहरण देना चाहिए। कारण, यहाँ किसी (अर्थात् दूसरी युवती) ने चक्र और गरुड लिखकर यह अभिव्यक्त किया कि 'यह साधारण पुरुष नहीं किंतु विष्णु है'। पर अन्य (अर्थात् तीसरी) युवती ने 'विष्णु का भी ऐसा रूप नहीं हो सकता' इस अभिप्राय से चक्र और गरुड़ दोनों मिटाकर पुष्पमय धनुष और मगर-रूपी ध्वजा लिखने द्वारा यह अभिव्यक्त किया कि 'यह विष्णु भी नहीं, किंतु कामदेव है।''

यह अप्पयदीक्षित का कथन ऊपर से सुहावना है—गहरे पैठने पर इसमें कुछ तत्त्व नहीं। देखिए, यहाँ प्रथमतः कहा जा रहा है कि 'किसी ने चक्र और गरुड लिखकर यह अभिव्यक्त किया है कि—यह साधारण पुरुष नहीं, किंतु विष्णु है।' इस विषय में हमारा कहना है कि—अपह्नुति के दो भाग हैं—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। उनमें से उपमानरूपी भाग, जिसका आकार है 'यह विष्णु है' वह चक्र और गरुड के लिखने से अभिव्यक्त हो सकता है; क्योंकि चक्र और गरुड विष्णु से संबंध रखते हैं। पर 'यह साधारण पुरुष नहीं है' यह उपमेय के निषेधवाला भाग भी इससे अभिव्यक्त होता है—यह नहीं कहा जा सकता। कारण, यहाँ व्यंजक (अर्थात् चक्र और गरुड का लिखना) केवल आरोप के अभिव्यक्त करने में समर्थ है, पूर्वोक्त निषेध के अभिव्यक्त करने में उसका सामर्थ्य नहीं और न ऐसी अभिव्यक्ति अनुभव-सिद्ध ही है कि जिसे लेकर उसे अभिव्यक्त करने के लिये उपाय ढूँढना पड़े। ढूँढने पर भी उसे अभिव्यक्त करने का उपायरूप शब्द अथवा अर्थ (इस पद्य में) मिलता नहीं कि जिससे अनुभव के विषय में विवाद भी हो।

आप कहेंगे—बात यह है कि साधारण पुरुष का निषेध किए बिना विष्णु के तादूप्य का आरोप दुर्घट है, अतः वह भी अभिव्यक्त होता

है। तो हम कहेंगे कि—ऐसा मानने से रूपक का उच्छेद हो जायगा—दुनिया में उसके लिये कोई जगह ही न रहेगी। कारण, ऐसी दशा में 'मुख चंद्र है' इत्यादिक में मुख का निषेध किए बिना मुख में चंद्रत्व का आरोप कठिन है—यह भी सहज में कहा जा सकेगा। यदि वहाँ भी मुख का निषेध मान लिया जाय तो अपह्नुति का विजय हुआ और सचमुच ही रूपक उड़ गया।

अब यदि आप कहें कि—'मुख चंद्र है' इस रूपक में मुखत्व को साथ रख कर चंद्रमा के तादूप्य का आरोप किया जाता है, अतः मुख के निषेध की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि यदि निषेध किया जाय तो दोनों साथ-साथ कैसे रह सकते हैं? तो हम कहते हैं—प्रस्तुत में भी पूर्वोक्त साधारण पुरुषत्व के साथ साथ विष्णु के तादूप्य का आरोपरूपी रूपक ही हो सकता है, जिसका 'यह राजा विष्णु है' यह आकार है, न कि अपह्नुति, जिसका आकार होना चाहिए 'यह राजा नहीं, किंतु, विष्णु है।' यह तो हुई एक बात।

दूसरी बात कही जा रही है—'यह विष्णु नहीं है, किंतु कामदेव है' इत्यादि। तो इस भाग में यद्यपि चक्र और गरुड़ के हटाने द्वारा 'यह विष्णु नहीं है' 'यह निषेध, और पुष्पमय धनुष तथा ध्वजा में स्थित मगर के लिखने द्वारा 'यह कामदेव है' यह उपमान का आरोप—इस तरह दोनों भाग व्यंग्य हो सकते हैं। तथापि यह अपह्नुति नहीं है; क्योंकि

"प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।

प्रस्तुत के निषेध द्वारा अन्य की कल्पना (आपह्नुति कहलाती है)।" यह तुम्हारा बनाया लक्षण भी यहाँ नहीं घट सकता—दूसरों की तो बात ही क्या है! कारण, यहाँ जिनका निषेध किया जा रहा है वे

भगवान् विष्णु वर्णनीय नहीं हैं, किंतु राजा वर्णनीय है। अतः विष्णु के अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ प्रस्तुत का निषेध नहीं है।

आप कहेंगे—वाह! विष्णु प्रस्तुत क्यों नहीं हैं? पहले आरोप में राजा को विष्णु मान लिया जाने के कारण विष्णु प्रस्तुत हो गए। पर यह उत्तर ठीक नहीं। पहले आरोपित हो जाने मात्र से विष्णु को प्रस्तुत नहीं कहा जा सकता। कारण, वहीं (चित्रमीमांसा में) आपने ही 'निषिध्य विषयम्......' इत्यादि ग्रंथ से ('निषिध्य' पद में आए) 'क्त्वा' प्रत्यय का फल कहते हुए 'प्रकृत' पद का अर्थ 'आरोप का विषय—अर्थात् उपमेय' होता है—इस तरह स्पष्ट किया है। और काव्यप्रकाशकार ने भी—

'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपन्हुतिः।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'उपमेय को झूठा करके.....' इत्यादि कथन द्वारा 'प्रकृत' पद की उपमेय-अर्थ में ही व्याख्या की है।

आप कहेंगे—यह अपह्नुति प्राचीनों के मत से सिद्ध है (क्योंकि दंडी ने लिखा है कि—'अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थ-सूचनम्—अर्थात् किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का सूचित करना अपह्नुति कहलाता है।") उसी को हम यहाँ व्यंग्य कह रहे हैं। सो यह भी 'डूबते को तिनके का सहारा' ही है। कारण, "प्रकृतस्य निषेधेन......" इत्यादिक पूर्वोक्त लक्षण बनाते हुए आपने ही उस अपह्नुति का बहिष्कार कर दिया है—यदि आप ध्वनि में वैसी अपह्नुति को व्यंग्य मानते हैं तो लक्षण भी उसी के अनुसार बनाना चाहिए था।

इतने पर भी यदि आप पूछें कि—उक्त पद्य में कौन अलंकार व्यंग्य है? तो इसका उत्तर यह है कि—यदि इसमें अपह्नुति के

चमत्कार की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का चमत्कार है (इस बात को आपका हृदय मान ले) तो अन्य अलंकार (अर्थात् रूपक) मानिए, अन्यथा अपह्नुति मानिए। आप कहेंगे—तब "प्रकृतस्य निषेधेन..." आदि पूर्वोक्त लक्षण यहाँ कैसे घटित होंगे ? तो इसका उत्तर यह है कि—जब आपको यहाँ अपह्नुति ही मानना है तो अपह्नुति का लक्षण (दंडी-आदि की तरह) यह मान लीजिए कि—"चाहे किसी भी वस्तु के निषेध के साथ किया जानेवाला अन्य वस्तु का आरोप अपह्नुति कहलाता है।"

(सारांश यह कि इन सब गड़बड़ों के कारण यह सब कथन सहृदयों के लिये अहृदयङ्गम ही है—इससे सहृदयों के हृदय को संतोष नहीं हो सकता*।)

अपह्नुति समाप्त

---

*नागेश कहते हैं—पंडितराज का यह कथन विचारणीय है। कारण, दीक्षितजी ने "दंडी ने तो 'अपह्नुति के सादृश्यमूलक होने' के नियम का अनादर करके 'अपह्नुनिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्' यह लक्षण बताकर उदाहरण दिया है 'न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणां यतः। चंदनं चन्द्रिका चन्द्रो गन्धवाहश्च दक्षिणः। (अर्थात् काम पंचबाण नहीं है; क्योंकि उसके हजारों बाण हैं; चंदन, चाँदनी, चंद्रमा और मलयानिल आदि)" इत्यादि आरंभ करके "त्वदालेख्ये......" आदि पूर्वोक्त उदाहरण दिया है। अतः यह ध्वनि उसी के अनुसार होने के कारण इसे अहृदयंगम कहना ठीक नहीं। (पर नागेश यह भूल जाते हैं कि—दीक्षितजी ने लक्षण तो दंडी का माना नहीं और ध्वनि का उदाहरण उनके अनुसार क्यों दिया—इस बात का भी कोई उत्तर है या नहीं—अनुवादक)। दूसरे, जो 'प्रकाश' का विरोध

उत्प्रेक्षालंकार

लक्षण

जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ की वैसे भिन्न पदार्थ—के रूप में की जानेवाली ऐसी संभावना, जो उन दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो;

अथवा

जिसका जिस धर्म के अभाव से युक्त होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ में वैसे धर्म से युक्त होने की ऐसी संभावना, जो उस धर्म

बताया जा रहा है सो भी नहीं। कारण, प्रकाश-कार का 'उपमेय' पद 'पदार्थ' का उपलक्षण है—अर्थात् 'उपमेय' शब्द से उन्हें कोई भी पदार्थ अर्थ लेना अभीष्ट है। अन्यथा

"केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहिँ विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ॥

(एक राजा का वर्णन है—उसने संग्राम में बलात्कार से जयलक्ष्मी का वैसे ग्रहण कर लिया, जैसे कि गुफाओं ने उसके विधुर (स्त्री रहित) वैरियों को अपने कंठ (अंदर के हिस्से) में दृढ़ता से स्थापित कर लिया।)"

इस उदाहरण में "वैरी (*अपने-आप) भागकर नहीं गए, किंतु गुफाएँ उससे पराजय की संभावना करके उन्हें नहीं छोड़तीं—यह अपह्नुति अभिव्यक्त होती है" यह प्रकाशकार का ग्रंथ असंगत हो जायगा (क्योंकि यहाँ उपमेय का अपह्नव नहीं है)।

---

* काव्यप्रकाश में (स्वयम् = अपने आप) शब्द नहीं है—अनुवादक।

के साथ रहनेवाले किसी सुंदर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो; 'उत्प्रेक्षा' कहलाती है ।

लक्षण का विवेचन

"लोकोत्तरप्रभावं त्वां मन्ये नारायणं परम् ।

(हे राजन् !) आपका प्रभाव अलौकिक है, अतः मैं आपको सर्वोत्कृष्ट नारायण (ईश्वर) मानता हूँ ।"

इस स्थल पर वैसे प्रभाव को नारायण में न रहने की संभावना की दशा में (अनुमान की) सामग्री (*व्याप्ति ज्ञान आदि) के अभाव के कारण अनुमान का उदय न होने से 'प्रायः यह नारायण होना चाहिए' यह संभावना उत्पन्न होती है । इस संभावना में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना यथार्थतया ज्ञात हो' यह अंश लिखा गया है । इस अंश से प्रकृत सभावना का आहार्य (बाधित जानते हुए कल्पित) होना बोधित होता है । इस आहार्य होने का फल यह हुआ कि--

'रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले ।
प्रायो धाराधरोऽयं स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः ॥

अत्यंत चिकने श्याम वर्णवाले राम को देखकर, 'संभव है यह मेघ हो' यह समझकर, वनप्रदेश में, मोर नाच रहे हैं ।

इस संभावना में, एवं (इसी पद्य का उत्तरार्ध)

'धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः ।

---

* धूआँ देखकर आग का अनुमान करने में "जहाँ जहाँ धूआँ हो वहाँ अग्नि होता है" इस बात का ज्ञान 'व्याप्ति का ज्ञान' कहता है ।

मेघ समझकर मोर मंद-मंद नाचते रहते थे।'

(यों बदल दें तो) इस भ्रांति में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

'वदन-कमलेन बाले ! स्मितसुषमालेशमावहसि यदा।
जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति ॥

हे बाले ! जब तू मुख-कमल द्वारा मंदहास की शोभा का एक लेश धारण करती है, मैं उसी समय जान लेता हूँ कि—इस जगह, जगत् को कामदेव ने जीत लिया—यहाँ जो कोई आवेगा उसे किस्त खानी ही पड़ेगी।'

इस पद्य में जो जगत् के जय की संभावना है उसमें अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'उन दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुंदर धर्म को निमित्त मानकर' यह अंश लिखा गया है। यहाँ यद्यपि मंदहास रूपी धर्म संभावना को उठाता है तथापि वह 'जगत्' रूपी संभावना के विषय और 'जीत लिया' रूपी संभावना के विषयी (आरोपित किए जानेवाले पदार्थ) दोनों में साधारणरूप से रहनेवाला धर्म नहीं है, अतः यहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी से—

'प्रायः पतेद् द्यौः शकलीभवेद् ग्लौः
सहाऽचलैरम्बुधिभिः स्खलेद् गौः।
नूनं ज्वलिष्यन्ति दिशः समस्ता
यद् द्रौपदी रोदिति हा हतेति ॥

संभव है, स्वर्ग गिर पड़े, चंद्रमा के टुकड़े हो जायँ, पहाड़ों और समुद्रों-सहित पृथ्वी विचलित हो जाय और बहुत संभव है कि समस्त

दिशाएँ जल उठें; क्योंकि द्रौपदी 'हाय! मरी !!' कहकर रो रही है।'

यहाँ भी रोने के कारण-रूप 'केश पकड़ने' आदि से उत्पन्न पाप को निमित्त मानकर उठाई हुई 'स्वर्ग गिरने' आदि की संभावना में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, पापरूपी निमित्त, 'स्वर्ग' रूपी विषय और 'गिरने' रूपी विषयी—इन दोनों में, समान रूप से रहनेवाला धर्म नहीं है।

'प्रायः यह ठूँठ होना चाहिए', 'बहुधा यह पुरुष हो सकता है' और 'दूर खड़ा यह देवदत्त सा प्रतीत होता है' इत्यादि में क्रमशः निश्चलता, चंचलता और एक विशेष प्रकार के आकाररूपी समान धर्म को निमित्त मानकर होनेवाली संभावना में लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, अतः निमित्तधर्म को 'सुंदर' विशेषण दिया गया है। इन संभावनाओं का निमित्त-धर्म सुंदर (अर्थात् कवि की प्रतिभा से निर्मित) नहीं है, अतः इन्हें उत्प्रेक्षा नहीं कहा जा सकता।

रूपक के बोध में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'संभावना' पद लिखा गया है। रूपक का बोध संभावनारूप नहीं, किंतु निश्चयरूप होता है।

उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—एक धर्म्युत्प्रेक्षा, जिसमें किसी पदार्थ की किसी अन्य पदार्थ के रूप में उत्प्रेक्षा की जाती है; और दूसरी धर्मोत्प्रेक्षा, जिसमें किसी धर्म की किसी ऐसी धर्मी में उत्प्रेक्षा की जाती है जिस धर्मी का उस धर्म के साथ कोई संबंध न हो। धर्म्युत्प्रेक्षा तादात्म्य (अभेद) संबंध द्वारा होती है और धर्मोत्प्रेक्षा अन्य संबंध (सामानाधिकरण्य = साथ रहने) द्वारा। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं के संग्रह के लिये पृथक्-पृथक् दो लक्षण लिखे गए हैं। उनमें से पहला लक्षण का धर्म्युत्प्रेक्षा है और दूसरा धर्मोत्प्रेक्षा का।

उत्प्रेक्षा के भेद

वह उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—वाच्या और प्रतीयमाना (अथवा गम्म्या)। जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री (संस्कृत में) इव, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शंके, उत्प्रेक्षे इत्यादिक और क्यङ्, अचारक्विप् आदि (एवं हिंदी में मानो, मनहु, मनु, सा-सी-से, निहचै आदि) उत्प्रेक्षा-प्रतिपादक शब्दों सहित हो वहाँ **वाच्योत्प्रेक्षा** कहलाती है और जहाँ प्रतिपादक शब्द न हों, किंतु केवल सामग्रीमात्र हो वहाँ **प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा** (अथवा **गम्योत्प्रेक्षा**) कहलाती है।

जहाँ सामग्री न हो और केवल उत्प्रेक्षाप्रतिपादक शब्द हों, वहाँ केवल 'सभावना' मानी जाती है, उत्प्रेक्षा नहीं।

ये दोनों उत्प्रेक्षाएँ प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

संसार के सब पदार्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप तथा इन चारों के अभाव रूप हैं। इन पदार्थों की, अभेद संबंध द्वारा अथवा अन्य किसी संबंध द्वारा, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप—पृथक्-पृथक् अथवा समिलित शब्द द्वारा वर्णित और सिद्ध अथवा साध्य—धर्मों को निमित्त मानकर, यथासंभव, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूपी विषयों में उत्प्रेक्षा करना **स्वरूपोत्प्रेक्षा** कहलाती है।

पूर्वोक्त प्रकार के पदार्थों की, पूर्वोक्त प्रकार के पदार्थों में, पूर्वोक्त प्रकार के निमित्तों द्वारा, यथासंभव, हेतुरूप से अथवा फलस्वरूप से संभावना की जाय तो, क्रमशः **हेतूत्प्रेक्षा** और **फलोत्प्रेक्षा** कहलाती है।

इन उत्प्रेक्षाओं का शरीर कहीं सिद्ध होता है और कहीं साध्य—अर्थात् सिद्ध करना पड़ता है; इस तरह ऐसे बहुतेरे विकल्प बन सकते हैं। तथापि यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

१—धर्म्युत्प्रेक्षा के उदाहरण

स्वरूपोत्प्रेक्षा

(१) आख्यायिका में; जात्यवच्छिन्नस्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे—

तनयमैनाकगवेषणलंबीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी।

(यह यमुना) उस भगवती गंगा की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिये लंबी की हुई और समुद्र के उदर में घुसी हुई, हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ यदि गंगा-शब्द को एक व्यक्ति-वाचक माना जाय तो गंगारूपी द्रव्य में और यदि कल्प-भेद से अनेक व्यक्तियों का वाचक माना जाय तो जाति में, हिमाचल से संबंध रखने वाले 'भुजत्व' जाति से अवच्छिन्न (विशिष्ट) पदार्थ (अर्थात् 'भुजा') की, अभेद संबंध द्वारा, उत्प्रेक्षा की जा रही है।

इस उत्प्रेक्षा में गंगा में रहनेवाले—श्वेतता, शीतलता, लंबा होना और समुद्र के उदर में प्रविष्ट होना रूपी—चार धर्मों को, निमित्त बनाने के लिये उनका हिमालय की भुजा रूपी विषयी में रहना सिद्ध करना आवश्यक है (क्योंकि जो धर्म विषय-विषयी दोनों में न रहता हो वह उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं बन सकता—यह बात पहले लिखी जा चुकी है), उनमें से श्वेतता और शीतलतारूपी अनुपात्त (शब्द द्वारा अवर्णित) धर्म तो हिमाचल से संबंध रखते ही हैं, (क्योंकि ये दोनों बातें हिमाचल में स्वभावसिद्ध हैं) अतः उनका तो भुजा में रहना स्वतः सिद्ध हो जाता है (क्योंकि जिसके जैसे अन्य अंग होंगे वैसी ही भुजा भी होगी)।

अब रहे दो धर्म—'लंबा करना' और 'समुद्र के उदर में प्रविष्ट होना'। उनका भी भुजा में रहना सिद्ध करने के लिये '(अपने) पुत्र मैनाक के ढूँढ़ने' रूपी फल की उत्प्रेक्षा की गई है; कारण, (भुजा) ढूँढ़ने का साधन है—इस बात का ज्ञान (भुजा के) लंबे करने और समुद्र के उदर में प्रविष्ट होने के अनुकूल प्रयत्न का उत्पन्न करनेवाला है—अर्थात् यह समझ लेने से कि—हाथ ढूँढ़ने का साधन है, उसका (ढूँढ़ने के लिये) लंबा करना और समुद्र के उदर में घुसना सिद्ध हो जाते हैं। इस तरह सिद्ध हुए विषयी (हिमालय की भुजा) में रहनेवाले 'लंबे पन' और 'समुद्र में प्रविष्ट होने' रूपी धर्मों के साथ विषय (गंगा) में रहनेवाले स्वभावसिद्ध 'लंबे पन' और 'समुद्र के उदर में प्रविष्ट होने' का अभेद मान लिया जाता है, जो कि अतिशयोक्ति रूप है। सो इस तरह अतिशयोक्ति द्वारा वे धर्म साधारण सिद्ध हो कर उत्प्रेक्षा के निमित्त बन जाते हैं।

आप कहेंगे—इस पद्य में स्वरूपोत्प्रेक्षा क्यों बताई जा रही है? यहाँ फल (ढूँढ़ने) की भी तो उत्प्रेक्षा है, अतः फलोत्प्रेक्षा क्यों नहीं मानी जाती? इसका उत्तर यह है कि—फलोत्प्रेक्षा न मानने के दो कारण हैं। एक तो उत्प्रेक्षित किए जानेवाले फल (ढूँढ़ने) द्वारा सिद्ध किए गए निमित्त (लंबे होने और समुद्र के उदर में घुसने) से उठाई गई 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही यहाँ विधेय है, अतः चमत्कार का विश्राम वहीं जाकर होता है, फलोत्प्रेक्षा में नहीं। दूसरे, उत्प्रेक्षा के प्रतिपादक ('भुजायमान' शब्द के अंतर्गत) प्रत्यय (क्यङ्) का फल के साथ अन्वय नहीं है, किंतु भुजा के साथ अन्वय है (और यह नियम है कि जहाँ उत्प्रेक्षावाचक का अन्वय फल के साथ हो वहाँ फलोत्प्रेक्षा और जहाँ स्वरूप के साथ हो वहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है)। अतः यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा कहना ही उचित है, क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक का

अन्वय जातिरूप पदार्थ—भुजा—के साथ है, 'ढूँढ़ने' रूपी गल के साथ नहीं।

इस जात्युत्प्रेक्षा में विषय का निगरण (अध्यवसान) नहीं है, क्योंकि विषयवाचक पद (गंगा) पृथक् विद्यमान है; और उपात्त (लंबा करना और समुद्र के उदर में घुसना) तथा अनुपात्त (श्वेतता और शीतलता) दोनों प्रकार के गुणरूप (श्वेतता और शीतलता) और क्रियारूप (लंबा करना और घुसना) धर्म निमित्त हैं। इस उत्प्रेक्षा का विशेषणों सहित शरीर साध्य (कवि-कल्पित) है; कारण, वस्तुतः पहाड़ के कोई ऐसी भुजा नहीं होती।

(२) अभेद संबंध से गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा; जैसे—

अम्भोजिनीबान्धवनन्दनायां कूजन् बकानां समजो विरेजे।
रूपान्तराक्रान्तगृहः समन्तात् पुञ्जीभवञ् शुक्ल इवाऽऽश्रयार्थी॥

(क)

सूर्य-नंदिनी (यमुना) में कूजता हुआ बगुलों का झुंड ऐसा सुशोभित हुआ, मानो, घर (जल) दूसरे रंग (श्याम) से आक्रांत हो गया है, अतः सब तरफ से इकट्ठा हो रहा आश्रय को इच्छावाला शुक्लगुण (श्वेतवर्ण) हो।

यहाँ 'एकत्र स्थित' और 'कूजने' से युक्त बकत्व जाति से अवच्छिन्न (बगुलारूपी) विषय—अर्थात् जातिरूप पदार्थ—में इकट्ठे हो रहे शुक्ल गुण की अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा है।

यहाँ बगुलों में कूजना, निर्मलता और इकट्ठे होना तीन धर्म हैं। ये धर्म जब तक शुक्ल गुण में न हों तब तक बगुलों और शुक्लगुण का अभेद सिद्ध होना कठिन है। इसलिये उनका विषयी (शुक्लगुण) में

रहना सिद्ध करना अपेक्षित है। उनमें से निर्मलता अनुपात्त धर्म है, वह, किसी तरह, उत्प्रेक्षित किए जानेवाले विषयी (शुक्लगुण) में सिद्ध हो जाती है। अब रहे 'कूजना' और 'इकट्ठे होना' ये दो धर्म। इन दोनों धर्मों के सिद्ध करने के लिये 'घर के दूसरे रंग से आक्रांत होने' की और 'आश्रय की इच्छावाले होने' की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की की गई है। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की तरह स्वभावसिद्ध धर्मों का कल्पित धर्मों के साथ अभेद मान लेने से ये दोनों धर्म साधारण हो जाते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी तर्कना कर लेनी चाहिए। पहले उदाहरण में जैसे फल के उत्प्रेक्षित होने पर भी फलोत्प्रेक्षा नहीं मानी जाती, वैसे यहाँ भी हेतु के उत्प्रेक्षित होने पर भी हेतूत्प्रेक्षा नहीं माना जाती; क्योंकि वह विधेय नहीं है।

(३) (अभेद संबंध से) क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे—

कलिंदजानीरभरेऽर्धमग्ना बकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः।
ध्वान्तेन वैराद्विनिगीर्यमाणाः क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः॥

यमुना के जल-समूह में आधे डूबे और यथेष्ट कोलाहल करते बगुले (ऐसे प्रतीत होते हैं), मानों, वैर के कारण अंधकार द्वारा निगले जाते चंद्रमा के बच्चे चिल्ला रहे हों।

इस पद्य में, जो लोग (नैयायिकादिक) शाब्द बोध में प्रथमांत को विशेष्य मानते हैं उनके मत से—

'कालिंदी के जल में आधे डूबे' और 'कोलाहल करते' इन दो विशेषणों से अभेद संसर्ग द्वारा संबद्ध बगुले (उत्प्रेक्षा के) विषय हैं। उनमें, पहले, अंधकार जिसका कर्त्ता है और वैर जिसका हेतु है ऐसी 'निगलना' क्रिया के कर्म से अभिन्न रूप में उत्प्रेक्षित (अर्थात् 'निगलना' क्रिया के कर्म रूप में माने हुए) 'चंद्रमा के बच्चों' की अभेदोत्प्रेक्षा होती है;

और तदनंतर उनमें 'चिल्लाना क्रिया के कर्ता होने' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है। सारांश यह कि—इस पद्य में दो उत्प्रेक्षाएँ हैं—एक 'बगुलों में चंद्रमा के बच्चों' की, दूसरी 'बगुलों से अभिन्न चंद्रमा के बच्चों में चिल्लाने' की। उनमें से पहली धर्म्युत्प्रेक्षा है और दूसरी है धर्मोत्प्रेक्षा।

अब यह नियम है कि—जहाँ अभेद संबंध द्वारा धर्म्युत्प्रेक्षा हो वहाँ विषय और विषयी दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है; और जहाँ अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी संबंध से उत्प्रेक्षा होती है वहाँ—अर्थात् धर्मोत्प्रेक्षा में—उस उत्प्रेक्षित धर्म के साथ रहनेवाला अन्य धर्म, जो विषय में रहता हो, निमित्त होता है। ऐसी दशा में प्रस्तुत पद्य में, 'चिल्लाने' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा में, उसके साथ रहनेवाला धर्म है 'निगलना क्रिया का कर्म होना—अर्थात् निगला जाना'; इस धर्म को विषय (बगुलों) में रहनेवाला सिद्ध करना चाहिए (अन्यथा यह उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं बन सकता)। इस बात को सिद्ध करने के लिये अनुवाद्य रूप में (बगुलों की) चंद्रमा के बच्चों से अभिन्न होने की उत्प्रेक्षा की गई है। सारांश यह कि—यहाँ धर्मोत्प्रेक्षा प्रधान है, उसे सिद्ध करने के लिये धर्म्युत्प्रेक्षा लाई गई है।

इस धर्म्युत्प्रेक्षा का निमित्त-धर्म है अनुपात्त 'श्वेतता'—अर्थात् श्वेत होने के कारण बगुलों को चंद्रमा के बच्चों से अभिन्न मान लिया गया है। अब जैसे विशिष्टोपमा में उपमान-उपमेय के विशेषणों तथा उन विशेषणों के विशेषणों का (शब्दतः न होने पर भी) अर्थतः सादृश्य मान लिया जाता है, ऐसे ही यहाँ भी बगुलारूपी विषय के विशेषण 'आधे डूबने' और उसके विशेषण 'यमुना-जल' का, मूल (अर्थात् निमित्तरूप) उत्प्रेक्षा के विषयी 'चंद्रमा के बच्चों' के विशेषण 'निगलने'

और उसके विशेषण 'अंधकार' के साथ अर्थतः अभेद है—अर्थात् 'आधे डूबने' को 'निगलने' से और 'यमुनाजल' को 'अंधकार' से अभिन्न मान लिया गया है।

इस तरह बगुलों का 'अंधकार द्वारा किया जानेवाला निगलना' सिद्ध हो जाने पर उत्प्रेक्षा 'चिल्लाने' का निर्वाह हो जाता है; क्योंकि जब बगुलों को चंद्रमा के बच्चे मानकर उनका अंधकार द्वारा निगला जाना मान लिया गया तो उनका 'चिल्लाना' बन जाता है। यहाँ 'चिल्लाने' और 'कोलाहल करने' का भी बिंब-प्रतिबिंब-भाव के कारण अभेद है—यह बात भी ध्यान में रखिए।

नैयायिकों के मत से शाब्द बोध

तब इस पद्य के शाब्द बोध का आकार यह हुआ कि—

(क) कालिंदी के जल में आधे डूबे और कोलाहल करते—इन दोनों से अभिन्न बगुले, अँधेरे से निगले जा रहे और चंद्रमा के बच्चे—इन दोनों से अभिन्न (होकर) 'चिल्लाने' रूपी क्रिया के अनुकूल चेष्टा से युक्त हैं।

इस शाब्द बोध का सरल शब्दों में—

कालिंदी के जल में आधे डूबे और कोलाहल करते बगुले, मानों, अँधेरे से निगले जा रहे चद्रमा के बच्चे हैं। अतएव वे, मानो, चिल्ला रहे हैं।

वैयाकरणों के मत से शाब्द बोध

(ख) यह तो हुई शाब्द बोध में प्रथमांत पद को विशेष्य माननेवालों—अर्थात् नैयायिकों—की बात। अब जो लोग 'तिङन्त' में 'भाव' (क्रिया) को प्रधान मानते हैं उन—अर्थात् वैयाकरणों—के मत की बात सुनिए। उनके विचार से यहाँ अभेद संबंध से 'चिल्लाने' रूपी

क्रिया की उत्प्रेक्षा है। इस उत्प्रेक्षा में शाब्दबोध हो चुकने के बाद, शाब्दबोध में बगुलों के विशेषणरूप में आया हुआ भी 'कालाहल करना उत्प्रेक्षा के विषयरूप में उपस्थित होता है और इस उपस्थिति का कारण है अध्यवसान। अर्थात् यद्यपि यहाँ शाब्दबोध के अनुसार 'चिल्लाने' रूपी विषयी का विषय 'कोलाहल करना' नहीं हो सकता, तथापि 'चिल्लाने' रूपी क्रिया में 'कोलाहल करना' भी प्रविष्ट मान लिया गया है; जैसे कि अतिशयोक्ति में उपमानवाचक शब्द से ही उपमेय भी ले लिया जाता है।

इस मत के अनुसार 'चिल्लाने' रूपी क्रिया में पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त बगुले विशेषण बनते हैं और वैसे बगुलों में पूर्वोक्त विशेषण से युक्त चंद्रमा के बच्चे विशेषण रूप बनते हैं। इस शाब्द बोध में साक्षात् चंद्रमा के बच्चे ही क्रिया में विशेषण रूप से अन्वित नहीं हो सकते, किंतु बगुलों के विशेषणरूप बनकर अन्वित हैं, क्योंकि यदि 'चंद्रमा के बच्चों' का क्रिया में साक्षात् अन्वय कर दें तो बगुलों का अन्वय (कहीं) नहीं हो सकता—वे लटकते ही रह जायँ। इसलिये प्रस्तुत—बगुलों—का क्रिया में अन्वय और अप्रस्तुत—चंद्रमा के बच्चों—का बगुलों में अन्वय माने बिना निर्वाह नहीं। अतः वैयाकरणों के मत से इस पद्य का

शाब्द बोध—"अँधेरे से निगले जा रहे और चंद्रमा के बच्चे—इन दोनों से अभिन्न एवं कालिंदी के जल में आधे डूबे और कोलाहल करते—इन दोनों से अभिन्न बगुले जिसके कर्त्ता हैं वह चिल्लाना" यह होता है। इस शाब्द बोध को

सरल शब्दों में—"अँधेरे से निगले जा रहे चंद्रमा के बच्चे रूपी और कालिंदी के जल में आधे डूबे तथा कोलहल करते बगुलों का चिल्लाना" यों कह सकते हैं।

विषय और विषयी के विशेषणों का, इस मत में भी, पूर्वोक्त मत के अनुसार ही, बिंब प्रतिबिंबभाव द्वारा अभेद माना जाता है।

इसी तरह—

राज्याभिषेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः।
सुधाभिर्जगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः॥

चाँदनी का वर्णन है—कामदेव का राज्याभिषेक समझकर, चंद्रमा, मानों, सुधा (अमृत + आरास, कलई) द्वारा पृथ्वी के मध्यभाग को पोत रहा है।

यहाँ भी चंद्रमा उत्प्रेक्षा का विषय है, उसमें वैसे 'पोतने' के कर्तृत्वरूपी धर्म—अर्थात् 'पोतने'—की उत्प्रेक्षा की जा रही है—यह एक सिद्धांत है; और चंद्रमा की किरणों का व्याप्त होना विषय है, उसमें जिसका चंद्रमा कर्ता और सुधा करण है उस 'पोतने' की अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा की जा रही है—यह दूसरा सिद्धांत है।

उनमें से—पहले मत के अनुसार 'श्वेत बनाने' रूपी निमित्त का इस पद्य में उपादान नहीं है, अतः इस उत्प्रेक्षा में निमित्त अनुपात्त है और विषय (चंद्रमा) उपात्त; क्योंकि उसका पद्य में वर्णन है। दूसरे मत में भी निमित्त तो वही है, अतः अनुपात्त है ही, पर इस मत में विषय (चद्र-किरणों का व्याप्त होना) भी अनुपात्त है; क्योंकि वह निगीर्ण है—उसका 'पोतने' द्वारा ही ग्रहण कर लिया गया है। बस, इतना भेद है।

(४) अभेद संबंध द्वारा द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा; जैसे—

कलिन्दशैलादियमाप्रयागं केनाऽपि दीर्घा परिखा निखाता।
मन्ये तलस्पर्शविहीनमस्यामाकाशमानीलमिदं विभाति॥

यमुना का वर्णन है। कवि कहता है—कलिंद पर्वत से लेकर प्रयाग पर्यंत किसी ने, यह लंबी खाई खोद डाली है। मानो, इसमें (अगाध होने के कारण) नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित यह (यमुना-जल के रूप में) गहरा नीला आकाश प्रतीत हो रहा है।

यहाँ 'नीलेपन' और 'लंबेपन' को निमित्त मानकर यमुना में आकाश के अभेद की उत्प्रेक्षा की गई है। आकाश एक है, अतः 'आकाशत्व' आकाशरूप पदार्थ ही है, जातिरूप नहीं; कारण अनेक में रहनेवाला धर्म ही जातिरूप हो सकता है, एक में रहनेवाला नहीं। सो आकाशत्व आकाशस्वरूप द्रव्य है, अतः इस पद्य में 'द्रव्योत्प्रेक्षा' हुई। आप कहेंगे—आकाशत्व को आकाशरूप ही क्यों माना जाय? 'शब्द का आश्रय होना' आकाशत्व का स्वरूप क्यों नहीं माना जाता? हम कहते हैं—ऐसा मानना अनुभव विरुद्ध है। आकाश शब्द का अर्थ 'शब्द के आश्रय' रूप में ही उपस्थित होता हो ऐसा नहीं है। 'शब्द का आश्रय' अर्थ न समझने पर भी आकाश शब्द से ही हमें आकाश पदार्थ का बोध हो जाता है—अतः आकाशत्व को 'शब्द का आश्रयत्व रूप' मानना उचित नहीं।

आकाश में 'नीलेपन' रूपी निमित्त-धर्म को सिद्ध करने के लिये इस पद्य का तीसरा चरण ('नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित' यह विशेषण) निर्माण किया गया है (क्योंकि आकाश के नीला दिखाई देने का कारण उसके पेंदे तक दृष्टि न पहुँचना है) और आकाश में 'लंबेपन' रूपी निमित्त धर्म के सिद्ध करने के लिए इस पद्य का पूर्वार्ध बनाया गया है। अर्थात् 'इतनी लंबी खाई खोदना' लिखा गया है (क्योंकि खड्डे के अनुसार ही उसके अंदर का आकाश होता है)।

जाति आदि के अभावों की उत्प्रेक्षा; जैसे—

(१) बाहुजानां समस्तानामभाव इव मूर्त्तिमान्।
जयत्यतिबलो लोके जामदग्न्यः प्रतापवान्॥

समस्त क्षत्रियों का, मानो, मूर्त्तिमान् अभाव हो ऐसे महापराक्रमी प्रतापी परशुराम, संसार में, सबसे उत्कृष्ट हैं।

इस पद्य में क्षत्रियत्व जाति से अवच्छिन्न के अभाव (अत्यंताभाव) की, क्षत्रियत्व जाति के विरोधी होने को निमित्त मान कर, उत्प्रेक्षा की जा रही है। यदि इसी पद्य में 'अभाव इव' के स्थान पर 'विनाश इव' पाठ कर दिया जाय तो यही पद्य 'ध्वंसाभाव' की उत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा।

(२) और यदि इसी पद्य का पहला चरण 'समस्तलोकदुःखानाम्—सब लोगों के दुःख के' इस तरह बना दिया जाय तो यही पद्य गुणाभाव की उत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा; क्योंकि 'दुःख' गुण है।

(३) द्यौरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथा वव्रे।
जगदखिलमपि यथाऽऽसीन्निर्लोचनवर्गसर्गमिव ॥

आकाश, काजल-सी काली मेघों की पंक्तियों से ऐसे घिर गया; जैसे, मानो, सारे संसार में नेत्रहीनों के थोकों की सृष्टि हुई हो—अर्थात् मेघाडम्बर के मारे सब लोग अंधे हो गए, कोई किसी को दिखाई नहीं देता था।

यहाँ 'नेत्र-संबंधी ज्ञान से सर्वथा रहित होने' को निमित्त मानकर, अंततो गत्वा क्रिया (दिखाई देने) के अभावरूप धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है।

(४) इसी तरह द्रव्याभाव की उत्प्रेक्षा भी स्वयं सोच लेनी चाहिए।

मालोत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा मालारूप भी हो सकती है; जैसे—

द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव
द्वितीय इव चन्द्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव ।
नराकृतिरिवाम्बुधिर्गुरुरिव क्षमामागतो
नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः ॥

मानो दो आँखवाला इंद्र हो, मानो दो कर (हाथ + किरण) वाला सूर्य हो, मानो दूसरा चंद्रमा हो, मानो देह-धारी कामदेव हो, मानो मनुष्य के से आकारवाला समुद्र हो और मानो पृथ्वी पर आए बृहस्पति हों ऐसा, समस्त ब्राह्मणों से प्रशंसित कोई (अनिर्वचनीय) राजा सर्वोत्कृष्ट है ।

यहाँ राजा में रहनेवाले 'दो आँखवालापन' आदि धर्म इंद्र आदि के साथ अभेद के विरोधी हैं—क्योंकि इंद्रादिक में वे बातें नहीं हैं; अतः विरोध मिटाने के लिये आरोपित किये जानेवाले इंद्रादिक में भी उनका आरोप करके, उन धर्मों को साधारण कर दिया गया है ।

आप कहेंगे—यहाँ उपमा ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहते हैं—यहाँ उपमा का निरूपण नहीं हो सकता । कारण, उपमा मानने पर इंद्रादिक को 'दो आँखवाले' आदि कहना निरर्थक हो जायगा; क्योंकि उपमा तो विना उन विशेषणों के भी हो सकती है । आप कहेंगे—'दो आँखवाला होने' आदि के रूप में की जानेवाली साधारणता उपमा सिद्ध करने के लिये है—अर्थात् ये तो उपमा के साधक सामानधर्म हैं । तो यह ठीक नहीं । कारण इनके न होने पर भी व्यंग्य 'परम ऐश्वर्य' आदि के द्वारा उपमा सिद्ध हो सकती है । दूसरे, ये धर्म सुंदर

(चमत्कार-जनक) भी नहीं और कवि इन्हें उपमा के साधक मानता भी नहीं। यहाँ 'दो आँखवाला होने' आदि धर्मों से इंद्रादि की तुलना कवि को अभिप्रेत नहीं; क्योंकि 'दो आँखवाला होने के कारण यह राजा इंद्र के समान है' इस बात को मूर्ख भी मानने को तैयार नहीं (यदि ऐसा ही हो तो 'रामू' नाई और 'श्यामू' कुम्हार भी इंद्र के समान क्यों न कहे जायँ ?) इसी तरह 'दूसरा होने' आदि का चंद्रादिक में आरोप भी उपमा मानने पर निरर्थक हो जायगा; क्योंकि सदृश पदार्थ तो दूसरा होता ही है।

हाँ, अभेदज्ञान में ये सब विशेषण काम के हो सकते हैं; क्योंकि अभेद-ज्ञान में हमें ये बोध प्रतिकूल पड़ते हैं, क्योंकि—इंद्र हजार आँखोंवाला है, सूर्य सहस्रकर (सहस्र किरण वाला) है, चंद्रमा विधाता की सृष्टि में एक है, कामदेव शरीर-रहित है, समुद्र जलरूप है एवं बृहस्पति स्वर्ग में रहता है; और राजा में ये बातें हैं नहीं; फिर उनके साथ प्रकृत राजा का अभेद कैसे हो सकता है ? उसे दूर करने में इन विशेषणों का उपयोग है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा ही है, उपमा नहीं।

एक समझने की बात

इसी पद्य में से यदि 'इव' शब्द हटा लिए जायँ तो यही पद्य **दृढारोप रूपक** का, यदि ('इव' शब्द रहे और) उपमानों के विशेषण ('दो आँखवाले होना') आदि हटा लिए जायँ तो **उपमा** का और यदि 'इव' शब्द और पूर्वोक्त विशेषण दोनों ही हटा लिए जायँ तो **शुद्ध रूपक** का उदाहरण हो सकता है। यह समझ लेने की बात है।

इस तरह 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का संक्षेप दिखाया गया है।

हेतूत्प्रेक्षा

अब हेतूत्प्रेक्षा को लीजिए। जाति-हेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

त्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलैः ॥
नूनं नभस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते ॥

(हे राजन् !) मानो, आपके प्रतापरूपी महादीपक की लौ (शिखा) के विपुल काजलों से आकाश में 'नीलापन' नित-नया सा होता रहता है।

इस पद्य में 'नीलेपन' के साथ उत्प्रेक्षित 'काजलों' की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है। (अतः यह जाति-हेतूत्प्रेक्षा है)

इस पद्य में यदि 'विपुल-कज्जलैः' के स्थान में 'कज्जललेपनैः' पाठ कर दिया जाय तो यही पद्य क्रिया-हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा।

गुण-हेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

परस्परासङ्गसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः ।
तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिं परामवैमि मध्यस्तनिमानमश्नुते ॥

नतभ्रू के दोनों स्तन, मानों परस्पर आसक्त होने—बढ़ बढ़कर मिल जाने—के सुख से अत्यंत पुष्ट हो गए हैं। मानों, उनकी अत्यंत उन्नति को न सहता हुआ मध्यभाग (कटि-प्रदेश) कृशता को प्राप्त हो रहा है।

यहाँ, पूर्वार्ध में, 'सुख' रूपी गुण का हेतु होना तो पंचमी विभक्ति ('सुखात्=सुख से') द्वारा ही बता दिया गया है। उत्तरार्ध में धर्मी (मध्यभाग) के विशेषणरूप में अनुवाद्यरूप से आए गुण (सहन=क्षमा के) 'अभाव' का हेतु होना अर्थप्राप्त है। जैसे 'खानेवाला अथवा खा रहा (मनुष्य) तृप्त होता है' इत्यादि वाक्यों में 'खाने' आदि का तृप्ति आदि के हेतु होना अर्थतः प्राप्त हो जाता है—अर्थात् ऐसे वाक्यों में 'से' 'कारण' आदि शब्दों के न होने पर भी-

जैसे 'खाने के कारण तृप्त हो रहा है' इत्यादि, समझ में आ जाता है वही बात यहाँ भी है।

अथवा जैसे—

व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीता-
माकर्ण्य स्तुतिमुदयत्त्रपातिरेकात्।
आभूमीतलनतकन्धराणि मन्येऽ-
रण्येऽस्मिन्नवनिरुहां कुटुम्बकानि॥

इस वन में, अच्छी तरह गुंजारते भौंरों के झुंडों द्वारा (अपनी) प्रशंसा सुनकर, मानो, उत्पन्न हुई लज्जा की अधिकता के कारण, वृक्ष-समूह, अपनी गरदनें पृथ्वीतल तक झुकाए हुए हैं।

(यहाँ 'अधिकता' रूपी गुण के हेतु होने की उत्प्रेक्षा है।)

क्रियाहेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

महागुरुकलिन्दमहीधरोदरविदारणाविर्भवन्महापात-
कावलिवेल्लनादिव श्यामलिता।

यमुना का वर्णन है—(जो यमुना) महागुरु (जन्मदाता) 'कलिंद' पर्वत का उदर विदीर्ण करने से उत्पन्न महापातकों की पंक्ति के प्राप्त हो जाने के कारण, मानों, काली हो गई है।

द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

वराका यं राकारमण इति वल्गन्ति सहसा
सरः स्वच्छं मन्ये मिलदमृतमेतन्मखभुजाम्।
अमुष्मिन् या काऽपि द्युतिरतिघना भाति मिषता-
मियं नीलच्छायादुपरि निरपायाद् गगनतः॥

कवि कहता है—जिसकी, पामर लोग 'पूरी पूर्णिमा का पति (चंद्रमा) है' इस तरह प्रशंसा करते हैं इसे, मैं, अमृतयुक्त देवताओं का स्वच्छ सरोवर मानता हूँ। इसके अंदर देखनेवालों को जो अत्यंत गहरी (अतएव काली) चमक दिखाई देती है, यह चमक (उसके) ऊपरवाले प्रतिबंधरहित नीलकांतियुक्त आकाश के कारण है।

यहाँ अमृत-सरोवर के रूप में उत्प्रेक्षित चंद्रमा में, नीलता के अंतः प्रविष्ट (नीलता द्वारा ग्रहण किए गए) 'कलंक' की (अमृत-सरोवर के) ऊपरवाले आकाश के कारण से होने की उत्प्रेक्षा की जा रही है।

इस उदाहरण से प्राचीनों का यह प्रवाद (अफवाह) कि—द्रव्य की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा नहीं होती, उड़ जाता है।

जाति आदि के ही अभावों की हेतूत्प्रेक्षा

जाति के अभाव की हेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

नितान्तरमणीयानि वस्तूनि करुणोज्झितः।
कालः संहरते नित्यमभावादिव चक्षुषः।

काल, अत्यंत सुंदर वस्तुओं को, मानो, नेत्र न होने के कारण, निर्दय होकर नित्य संहार करता रहता है—यदि आँख होती तो उससे यह क्रूर कार्य न बन पड़ता।

यहाँ काल के स्वाभाविक संहार में 'नेत्रों के अभाव' की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

निःसीमशोभासौभाग्यं नतांग्या नयनद्वयम्।
अन्योन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलम्॥

सीमारहित शोभा के सौभाग्य रूप, नतांगी के दोनों नेत्र, मानों, परस्पर देखने के आनंद से रहित होने के कारण, चंचल हो रहे हैं।

यहाँ गुण ('आनंद') के अभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

जनमोहकरं तवाऽऽलि मन्ये चिकुराकारमिदं घनान्धकारम्।
वदनेन्दुरुचामिहाऽप्रचारादिव तन्वङ्गि! नितान्तकान्तिकान्तम्॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखि! लोगों के मोहित करनेवाले तेरे केशों के आकार में, मैं, यह गहरा अंधकार मानती हूँ—अर्थात् यह केश नहीं, किंतु अंधकार है। हे कृशांगि, मानो, यहाँ मुखरूपी चंद्रमा की कांति का प्रचार न होने के कारण यह अंधकार गहरी नीली कांति से मनोहर हो रहा है।

यहाँ, उत्तरार्ध में, क्रिया ('प्रचार') के अभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है और पूर्वार्ध में तो (मीमांसकों के हिसाब से; क्योंकि वे अंधकार को पृथक् पदार्थ मानते हैं) जाति से अवच्छिन्न पदार्थ की, अथवा (नैयायिकों के हिसाब से; क्योंकि वे अंधकार को तेज का अभावरूप मानते हैं) जाति से अवच्छिन्न के अभाव की स्वरूपोत्प्रेक्षा ही है।

न नगाः काननगा यद्रुदतीषु त्वदरिभूप-सुदतीषु।
शकलीभवन्ति शतधा, शङ्के, श्रवणेन्द्रियाभावात्॥

कवि कहता है—(राजन्!) आपके शत्रु-राजाओं की सुंदरियों के रोने पर जंगलों के वृक्षों (अथवा पहाड़ों) के जो सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते, मानों, इसका कारण कर्णेंद्रिय का अभाव है।

यहाँ कर्णेंद्रिय जाति, गुण और क्रियाओं से भिन्न है—वह इन तीनों में से एक भी नहीं। विवेचन करने पर वह आकाशस्वरूप सिद्ध होती है, जो कि एक द्रव्य है। अतः आकाश का अभाव द्रव्याभाव हुआ, उस अभाव की यहाँ हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का निमित्त है 'टुकड़े होने' रूपी क्रिया का अभाव।

यह है हेतूत्प्रेक्षा का संक्षेप।

फलोत्प्रेक्षा

जाति-फलोत्प्रेक्षा; जैसे—

दिवानिशं वारिणि कण्ठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती।
वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यम्बुजपङ्क्तिरेषा॥

कवि कहता है—दिन-रात गले भर पानी में सूर्य की आराधना करती हुई यह यह कमलों की पंक्ति, क्या सुनयनी के स्तनत्व के लिये तप कर रही है।

यहाँ 'स्तनत्व' एक अंग (स्तन) में रहनेवाला धर्म है। (मूल में) 'ता' (और भाषार्थ में 'त्व') प्रत्यय का अर्थ जाति है; कारण, 'त्व' और 'ता' प्रत्यय जिस शब्द के साथ लगाए जाते हैं, उनका उस शब्द के अर्थ के प्रवृत्तिनिमित्तरूप भाव में विधान होता है (और प्रवृत्तिनिमित्त जाति, गुण क्रिया और द्रव्य—इस तरह कुल चार प्रकार के हैं, उनमें से 'स्तन' का प्रवृत्तिनिमित्त जातिरूप है, अतः यहाँ 'त्व' अथवा 'ता' प्रत्यय का अर्थ जाति हुआ)। उसी जातिरूप अर्थ की, यहाँ (कमलों के) स्वाभाविक धर्म—जल में रहने—से अभिन्न मानी हुई 'तप करने' रूपी क्रिया के फलस्वरूप में उत्प्रेक्षा की जा रही है। अतः यह जाति-फलोत्प्रेक्षा है।

आप कहेंगे—यहाँ तप का फल 'स्तनत्व की प्राप्ति' है, स्तनत्व नहीं, सो बिना 'प्राप्ति' क्रिया के केवल जाति (स्तनत्व) फल-रूप नहीं हो सकती। तो फिर यहाँ 'स्तनत्व' को न मानकर 'स्तनत्व' की प्राप्ति' रूपी क्रिया को ही फलस्वरूप क्यों नहीं माना जाता ? इसका उत्तर यह कि 'प्राप्ति' क्रिया यहाँ 'संसर्ग' रूप से प्रतीत होती है—वह किसी शब्द का अर्थ नहीं; अतः उसे फलरूप नहीं माना जा सकता। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके द्वारा ही जाति आदि का फलरूप होना बन सकता है, अन्यथा 'फल'रूपी अर्थ को समझानेवाली चतुर्थी विभक्ति ('वक्षोजतायै') बन नहीं सकती; क्योंकि 'स्तनत्व' स्तनों में बैठा-बैठा थोड़े ही उस तपस्या का फल बन सकता है, जब कमलों को उसकी प्राप्ति हो तभी वह फलरूप हो सकता है। अतएव तो "ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्—विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व के लिये अत्यंत दारुण तप किया (वा० रा०)" इत्यादि प्रयोग होते हैं। सारांश यह कि—ऐसे सब प्रयोगों में 'जाति' फलरूप और प्राप्ति संसर्गरूप हो जाती है, अन्यथा जातिवाचक शब्द से चतुर्थी न हो सके, अतः यहाँ जाति की ही फलस्वरूप में उत्प्रेक्षा की गई है—यह मानना उचित है।

गुणफलोत्प्रेक्षा; जैसे —

वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि ! ।
प्रियसंगसुखायेव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥

हे वियोगिनी ! इस विरहाग्नि के कुंडरूप तेरे हृदय में 'मुक्ताहार'-मोतियों का हाररूपी अनशनव्रती (उपवास करनेवाला)—मानो, प्रियतम के संग के सुख के लिये तपस्या कर रहा है।

(यहाँ 'सुख' रूपी गुण की फल रूप में उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है ।)

क्रियाफलोपेक्षा; जैसे—

हालाहलकालानलकाकोदरसंगतिं करोति विधुः ।
अभ्यसितुमिव तदीयां विद्यामद्यापि हरशिरसि ॥

आज दिन भी महादेवजी के शिर पर स्थित चंद्रमा मानों उनकी विद्या (मार डालने) का अभ्यास करने के लिये विष, प्रलयानल और साँपों की संगति कर रहा है ।

यहाँ विरही के वाक्य में 'अभ्यास करने' रूपी क्रिया का फलरूप होना (मूल में) 'तुमुन्' प्रत्यय (भाषा में 'के लिये' प्रत्यय) द्वारा प्रतीत होता है ।

इसी तरह लक्ष्य के अनुसार यथासंभव अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं ।

जाति-आदि के कारण उत्प्रेक्षा के भेद निरर्थक हैं

यहाँ-जाति आदि भेदों के उदाहरण (अलंकारसर्वस्वकार आदि) प्राचीन विद्वानों के अनुरोध से दे दिए गए हैं । वस्तुतः तो इनके चमत्कार में कोई विलक्षणता नहीं है, अतः इन उदाहरणों की कोई आवश्यकता नहीं । कारण, चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप—इन तीनों भेदों में ही है । अर्थात् **वस्तुतः उत्प्रेक्षा के हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा ये ही तीन भेद होने चाहिएँ, अन्य भेद निरर्थक हैं ।**

गम्योत्प्रेक्षा व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा नहीं है

पूर्वोदाहृत पद्यों में ही 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्द छोड़ दिए जायँ तो प्रतीयमाना (गम्या) उत्प्रेक्षाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वहाँ

अंततः, केवल अर्थ के बल पर उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है। पर साथ ही इतना और समझ लीजिए कि यहाँ प्रतीयमाना अथवा गम्या का अर्थ व्यंग्य नहीं है। सारांश यह कि यहाँ व्यंग्यात्व का भ्रम उचित नहीं। कारण, प्रस्तुत में व्यंग्योत्प्रेक्षा का कोई प्रसंग नहीं—यहाँ तो सामग्री के प्रबल होनेके कारण अर्थतः प्राप्त उत्प्रेक्षा का वर्णन है।

धर्म के उदाहरण

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा; जैसे—

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो
महामोहं मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम्।
उपेक्ष्य त्वां यस्माद्विधुमयपकस्मादिह कृती
कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमतनोत्॥

सौंदर्य के निधिरूप तुम्हारा मुँह बना चुकने पर, मैं समझता हूँ, ब्रह्मा को महामोह उमड़ आया, क्योंकि इसने कुशल होते हुए भी, तुम्हारा उपेक्षा करके, कलाओं से हीन और दीन चंद्रमा को, घबराए की तरह, राजा* बना दिया—उसे सूझ ही न पड़ा कि राजा बनाने के योग्य तुम हो अथवा चंद्रमा।

इस पद्य में पूर्वार्ध में 'ब्रह्मा' रूपी धर्मी में 'मोह' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की गई है। उस धर्म की सिद्धि के लिये उत्तरार्ध में उसके साथ रहनेवाले धर्म के रूप में 'बिना विचारे करने' का ग्रहण किया गया है। सारांश यह कि—

---

* चंद्रमा का संस्कृत में 'राजा' भी एक नाम है, उसे लेकर यह उत्प्रेक्षा की गई है।

इस उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म है 'बिना विचारे करना', जो कि 'मोह' से साथ रहनेवाला धर्म है।

निमित्त-धर्म के विषय में कुछ विचार

उत्प्रेक्षा में जब स्वरूप विषयी होता है तब—अर्थात् जहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है वहाँ, निमित्तरूप में आनेवाला धर्म, उपमा की ही तरह, बिंब-प्रतिबिंब-भाव आदि भेदों से युक्त होता है। वह धर्म कहीं उपात्त (शब्द द्वारा वर्णित) और कहीं अनुपात्त (अर्थतः प्राप्त) होता है।

किंतु जहाँ हेतु और फल विषयी होते हैं वहाँ—अर्थात् हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा में तो उसी धर्म के प्रति हेतु और फल का निरूपण होता है, अतः वह धर्म कल्पित होने पर भी (स्वाभाविक भी हो सकता है), उत्प्रेक्षा के 'विषय' में रहनेवाले स्वाभाविक धर्म से अभिन्न माना जाता है और वही उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। अतः वह धर्म उपात्त ही होता है, अनुपात्त नहीं। अन्यथा हेतु और फल का अन्वय होगा किसके साथ ?

(सारांश यह कि—स्वरूपोत्प्रेक्षा में निमित्त-धर्म उपात्त और अनुपात्त दोनो रूपों में रह सकता है, पर हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उसका उपात्त होना अनिवार्य है; क्योंकि वहाँ हेतु और फल उसी धर्म के सिद्ध करने के लिये वर्णन किए जाते हैं—उसके वर्णन के बिना हेतु और फल का वर्णन ही असंबद्ध हो जाय।)

शाब्द बोध

शाब्द बोध के विषय में मतभेद

१

प्राचीनों का मत

उत्प्रेक्षा के विषय में प्राचीनों ने और आधुनिकों ने अनेक प्रकार के सिद्धांत स्थिर किए हैं। उनमें से प्राचीनों का सिद्धांत यों है—

विषयी की विषय में उत्प्रेक्षा सर्वत्र (चाहे विषय धर्मिरूप हो चाहे धर्मरूप) अभेद संबंध से ही होती है, अन्य किसी संबंध से नहीं। इस बात को वे यों सिद्ध करते हैं कि—'धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा' के उदाहरण "मुख मानो चंद्रमा है" इत्यादिक में तो विषयी—चंद्रमा—का विषय—मुख—में अभेद स्पष्ट ही है। कारण, दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-संबंध द्वारा साक्षात् अन्वय व्युत्पत्ति के विरुद्ध है। यह उत्प्रेक्षा उपात्तविषया है; क्योंकि यहाँ विषय—'मुख'—शब्द द्वारा प्रतिपादित है। सो 'धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा' में अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा मानने में कोई संदेह है नहीं। इसी तरह

"अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः॥

दमयंती का वर्णन है। नल कहता है—दमयंती के विषय में मैं मुनियों के भी मोह की तर्कना करता हूँ—मैं सोचता हूँ कि इसे देखकर उन्हें भी अवश्यमेव मोह हो गया, क्योंकि महान् (पूजनीय; वस्तुतः—बड़ा भारी) 'भृगु' (एक ऋषि; वस्तुतः—बिना किनारे का ढलाव, जिसे

राजस्थान में 'भैरूँ झाँप' कहते हैं) (इसके) कुचरूपी पहाड़ का सेवन कर रहा है। मुख 'नानारदाह्लादि' (नारद को संतुष्ट न करे ऐसा नहीं, किंतु अवश्य संतुष्ट करनेवाला; वस्तुतः—अनेक दाँतों के कारण आनंदजनक) है। और 'महाभारतसर्गयोग्य' (महाभारत बनाने की योग्यता रखनेवाला; वस्तुतः—'महाभाः' = महान् कांतिवाला और 'रतसर्गयोग्यः' = रति की सृष्टि के योग्य) 'व्यास' (कृष्ण द्वैपायन; वस्तुतः—विस्तार) ने इसकी जाँघों का आश्रय ले रखा है।"

इस 'नैषधकाव्य' के पद्य में जो 'धर्म-स्वरूपोत्प्रेक्षा' (मुनियों में मोह की उत्प्रेक्षा) है, उसमें भी मुनियों से संबध रखनेवाले अन्य किसी धर्म ('देखने' आदि) रूपी विषय में दमयंती-विषयक मोह (रूपी विषयी) की अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा है। रही यह बात कि—फिर यहाँ विषय ('देखने' आदि) का वर्णन क्यों नहीं? सो इसका उत्तर यह है कि—यह उत्प्रेक्षा साध्यवसाना है—यहाँ विषय विषयी के अंतः प्रविष्ट है, अतः उसका ग्रहण न करना संगत है—अर्थात् ऐसा करने में कोई असंगति नहीं। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म है 'उन-उन अंगों में मुनियों की चित्त वृत्ति का आसक्त हो जाना'।

(उनका कहना है कि) इसी तरह—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः।

अंधकार, मानो, अंगों को (काले रंग से) पोत रहा है; आकाश, मानो, काजल बरस रहा है।"

इत्यादि किसी कवि के पद्य में प्रथमांत 'कर्त्ता' (अंधकार और आकाश) में 'पोतना' और 'बरसना' रूपी क्रियाओं के 'कर्तृत्व (कर्त्ता होने)' की उत्प्रेक्षा नहीं है। कारण, वह (कर्तृत्व) आख्यात

(तिङ=‘लिम्पति’ आदि में ‘ति’ आदि प्रत्यय) के अर्थ (आश्रय) का विशेषण है; अतः वाक्य का प्रधान अंश नहीं, किंतु एकदेश है। सो मुख्य न होने के कारण यहाँ ‘कर्त्तृत्व’ रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा नहीं कही जा सकती। और न ‘पोतने’ आदि के कर्त्ता की अभेद संबंध द्वारा (अंधकार आदि में) उत्प्रेक्षा ही कही जा सकती है; क्योंकि ‘कर्त्ता’ भी क्रिया* का विशेषण है, अतः प्रधान नहीं है। किंतु यहाँ, जिसका ‘अंधकार’ कर्त्ता है और ‘अंग’ कर्म है उस ‘पोतने’ (रूपी क्रिया) की, तथा जिसका आकाश कर्त्ता है और काजल कर्म है उस ‘बरसने’ (रूपी क्रिया) की उत्प्रेक्षा की जा रही है। उन दोनों उत्प्रेक्षित किए जानेवालों—अर्थात् ‘पोतने’ और ‘बरसने’—द्वारा, जिसका अंधकार कर्त्ता है वह ‘व्याप्त होना’ (रूपी क्रिया) जो इस उत्प्रेक्षा का विषय है, निगीर्ण (उदरस्थ) कर लिया गया है, अतः उस—व्याप्त होने—को यहाँ नहीं लिखा गया। तात्पर्य यह कि ‘अंधकार व्याप्त हो रहा है’ इस वाक्य के स्थान पर कवि कह रहा है कि—‘अंधकार, मानो, अंगों को (काले रंग से) पोत रहा है’ और ‘आकाश, मानो, काजल बरस रहा है’; अतः वास्तविक ‘व्याप्त होने’ को उत्प्रेक्षा का विषय और ‘पोतने’ तथा ‘बरसने’ को विषयी माना जाना चाहिए और वह ‘व्याप्त होना’ इन्हीं शब्दों से सूचित हो जाता है, अतः उसे पृथक् नहीं लिखा गया है। अतएव ऐसे-ऐसे स्थलों में यह (उत्प्रेक्षा) अनुपात्तविषया कहलाती है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त-धर्म है ‘काले कर डालना’ आदि; सो वह तो अनुपात्त है ही।

---

* याद रखिए कि वैयाकरणों के मत से वाक्य भर में क्रिया ही प्रधान होती है और अन्य सब शब्दों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं।

(सारांश यह कि—प्राचीनों के हिसाब से धर्मोत्प्रेक्षा भी अभेद संबंध से ही होती है और उसके विषय तथा निमित्त धर्म सदैव अनुपात्त ही रहते हैं। धर्म प्रायः दो प्रकार के होते हैं—गुणरूप और क्रियारूप; उनमें से गुणरूप धर्म की उत्प्रेक्षा का उदाहरण है उपर्युक्त 'नैषध' का पद्य और क्रियारूप धर्म की उत्प्रेक्षा का उदाहरण है "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि......" यह पद्य।)

अतएव मम्मट भट्ट ने—

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

प्रस्तुत विषय की उसके सदृश के साथ संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।"

यह लक्षण बनाकर "लिम्पतीव तमोङ्गानि......" इस उदाहरण के विषय में कहा है कि—"व्यापनादि लेपनादि-रूपतया संभावितम्= अर्थात् यहाँ 'व्याप्त होने' आदि की 'पोतने' आदि के रूप में संभावना की गई है।"

यह तो हुई स्वरूपोत्प्रेक्षा की बात। इसी तरह—

"उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः॥

नायक नायिका से कहता है—(पद्म समझता है कि) 'जो रात्रि में मेरे विकास को सहन नहीं करता उस मेरे जन्मवैरी चंद्रमा का सुंदरतासंबंधी अभिमान, इस कमलदलनयनी ने (अपनी) मुख-कांति द्वारा, बलात्, शांत कर दिया।' मानो, इस हर्ष के कारण, हे ललिततनु, पद्म की शोभा तेरे पैरों में चिपट पड़ी है।"

इत्यादिक प्राचीनों के पद्य में, जो हेतूत्प्रेक्षा है, उसमें भी, 'शोभा' रूपी विषय में केवल 'हर्ष' रूपी हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा रही है, किंतु 'हर्ष जिसका हेतु है उस चिपटने' आदि विषयी की, अभेद संबंध द्वारा, स्वाभाविक 'चिपटने' आदि विषय में, उत्प्रेक्षा की जा रही है—अर्थात् पद्म की शोभा जो पैरों में स्वभावतः चिपटी ही हुई है, न कि हर्ष के कारण; उस स्वभावतः चिपटने में 'हर्ष के कारण चिपटने' (जो कि कल्पित है) की उत्प्रेक्षा की जा रही है।

किन्तु जो लोग (हर्ष के कारण चिपटनेरूपी) कार्य (जो चेतन का कार्य है) को उत्प्रेक्षा का निमित्त मानते हैं, उनके विषय में प्राचीनों का कथन है कि—उन्हें भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि ('हर्ष के कारण चिपटने' रूपी विषयी का) विषय (पैरों) में रहनेवाले उसके सजातीय ('स्वाभाविक चिपटने') के साथ अभेद माना गया है। कारण, जब तक ये दोनों चिपटने' एक नहीं माने जायँगे तब तक 'चिपटना' उत्प्रेक्षा का निमित्त कैसे बन सकता है? क्योंकि निमित्त बननेवाला धर्म विषय और विषयी दोनों में अभिन्न रूप से अवश्यमेव रहना चाहिए, अन्यथा हेतुरूपी विषयी धर्म (पद्म की शोभा के चिपटने) साथ रहनेवाले कार्य (हर्ष के कारण चिपटने) के विषय (पैरों) में न रहने के कारण उत्प्रेक्षा ही न हो सकेगी। अर्थात् उन्हें भी 'स्वाभाविक चिपटने' को 'हर्ष के कारण चिपटने' के अंतः प्रविष्ट (अभिन्न) माने बिना तो गति है नहीं। अतः जो कुछ हमने बताया है वही प्रक्रिया उचित है।

इसी तरह—

"चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किंवाऽनुभविष्यतीति व्यापाटयन् द्रष्टुमिवाऽक्षराणि॥

राजा नृसिंहदेव का वर्णन है—जिसके डर से भगे हुए चोल-नरेश के ललाट की चमड़ी को, कँटीले वन-प्रदेशों ने, अब भी 'न जाने यह क्या अनुभव करेगा' इस कारण, मानो, (विधाता के) अक्षर देखने के लिये, उधेड़ डाली ।"

इस किसी कवि के पद्य की फलोत्प्रेक्षा में, कँटीले वनप्रदेशरूपी विषय में न केवल 'ललाट की चमड़ी उधेड़ना' जिसका निमित्त है उस 'विधाता के अक्षर देखने' की उत्प्रेक्षा की जा रही है, किंतु 'वह (अक्षर देखना)' जिसका फल है उस 'ललाट की चमड़ी उधेड़ने' आदि विषयी की 'काँटों द्वारा किए गए उधेड़ने' आदि विषय में अभेद संबंध द्वारा उत्प्रेक्षा की जा रही है। तात्पर्य यह कि—इस पद्य में 'कँटीले वनप्रदेश' उत्प्रेक्षा का विषय और 'विधाता के अक्षर देखना' विषयी नहीं हैं, किंतु 'काँटों द्वारा किया गया उधेड़ना' विषय और 'अक्षर देखना जिसका फल है वह ललाट की चमड़ी उधेड़ना' विषयी है ।

सारांश यह कि—विषयी की उत्प्रेक्षा सर्वत्र (धर्मोत्प्रेक्षाओं में और हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा में भी) अभेद संबंध से ही होती है—यह है प्राचीनों का सिद्धांत ।

२

प्राचीनों के सिद्धांत पर विचार

इस सिद्धांत पर विचार किया जाता है—

सर्वत्र अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा होती है—इस नियम में कोई प्रमाण नहीं । कारण, लक्ष्यों (उत्प्रेक्षा के उदाहरणों) में भेद-संबंध से भी उत्प्रेक्षा देखी जाती है; जैसे "अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे·····"

इत्यादि में 'मोह' आदि की 'मुनि' आदि में उत्प्रेक्षा। यहाँ 'मुनि' और 'मोह' में अभेद संबंध थोड़े ही है ?

आप कहेंगे—(प्राचीनों के सिद्धांत में पहले ही लिखा जा चुका है कि) "वहाँ मुनियों से संबंध रखनेवाले किसी धर्म (देखने आदि) में मोह की, अभेद संबंध से, उत्प्रेक्षा है, न कि 'मुनियों में मोह' की। हम कहते हैं—जब भेद से उत्प्रेक्षा करने में कोई बाधक नहीं है तो ऐसी कल्पना व्यर्थ है। 'अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा होती है' यह नियम कुछ वेद-बोधित नहीं है कि जिसके लिये ऐसा आग्रह किया जाय। लक्षणों का बनाना तो मनुष्य के अधीन है—वह जैसे लक्ष्य देखे वैसा लक्षण बना ले। यदि आपके लक्षण में केवल अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा होना लिखा है तो आप उस कमी को पूरा कर दीजिए। अपने बनाए लक्षण की अपूर्णता पर मरहम-पट्टी करने के लिये झूठी कल्पनाएँ करना उचित नहीं। यह तो हुई आपके पहले उदाहरण की बात।

अब दूसरे उदाहरण "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि" को लीजिए। यहाँ भी "अंधकार' आदि विषयों में 'पोतने आदि के कर्तृत्व' की ही उत्प्रेक्षा होती है—यही (मानना) उचित है। आप कहेंगे—'कर्तृत्व' तो 'अनुकूल चेष्टा (व्यापार)' का नाम है और वह होता है धातु का अर्थ*। और यह नियम है कि †"धातु का अर्थ प्रत्यय के अर्थ का विशेषण होता है और प्रत्यय का अर्थ प्रधान"। ऐसी दशा में अप्रधान रूप में आनेवाले कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा कैसे कही जा सकती है ? हम कहते हैं—वह 'अनुकूल चेष्टा रूपी कर्तृत्व' ही प्रत्यय (तिङ्) का अर्थ है और उसका प्रथमांत पद के साथ, जो कि वाक्यभर का विशेष्य होता है, अन्वय हुआ करता है। अतः कुछ भी दोष नहीं।

---

*"फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः" (वैयाकरणभूषणम्)

† "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थो विशेषणम्"।

[इस बात को थोड़े से विस्तार से समझ लेना अच्छा होगा। बात यह है कि—प्रत्येक क्रिया पद से प्रायः तीन अर्थों की प्रतीति होती है—फल, व्यापार (चेष्टा) और आश्रय। जैसे "लिम्पतीव तमोंगानि=अंधकार अंगों को पोतता है" इस वाक्य के क्रियापद 'लिंपति=पोतता है' को लें तो इसमें तीन बातें दिखाई देती हैं—एक 'काला हो जाना' (जो पोतने का फल है) दूसरी एक प्रकार की (कर्त्ता की) चेष्टा (जिसे व्यापार कहते हैं) और तीसरा 'पोतनेवाले (कर्त्ता) के साथ उस चेष्टा का संबंध (जो 'आश्रयता' रूप है; क्योंकि पोतनेवाला उस चेष्टा का आश्रय होता है—वह चेष्टा उसके अंदर रहती है)। अतः "अंधकार अंगों को पोतता है" का अर्थ हमारी समझ में यह आता है कि—'अंधकार ऐसी चेष्टा का आश्रय बन रहा है जो अंगों के काले हो जाने के अनुकूल है'। वैयाकरणों के विचार से पूर्वोक्त तीन अर्थों में से दो अर्थ ('फल' और उसके अनुकूल 'व्यापार') धातु (संस्कृत में 'लिप्' धातु और हिंदी में 'पोत' धातु) के अर्थ हैं और 'आश्रयता' है प्रत्यय (संस्कृत में 'ति' और हिंदी में 'ता है') का अर्थ। अतः उनके हिसाब से 'अनुकूल चेष्टा' या 'कर्तृत्व' (क्योंकि यहाँ कर्तृत्व का अर्थ अनुकूल चेष्टा है) प्रत्यय के अर्थ 'आश्रयता' का विशेषण हो जाता है और अतएव वह 'लिंपति=पोतता है' पद के एक हिस्से ('लिप्' या 'पोत') का अर्थ होने के कारण प्रधान रूप में उत्प्रेक्षित नहीं किया जा सकता। यह है प्राचीनों की शंका। इसका समाधान पंडितराज यों करते हैं कि—धातु के फल और व्यापार ये दो अर्थ न मान कर केवल फल को धातु का अर्थ माना जाना चाहिए और 'अनुकूल चेष्टा (व्यापार)' को प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिए। रही 'आश्रयता' सो वह किसी अंश का अर्थ नहीं, किंतु संसर्ग रूप है, जो कि 'अनुकूल चेष्टा' अथवा 'कर्तृत्व' रूपी प्रत्यय के अर्थ को प्रथमांत पद ('अंधकार' आदि) के साथ जोड़

देती है। सारांश यह कि—इस तरह यहाँ 'कर्तृत्व' ही क्रियापद का प्रधान अर्थ हो जाता है, वह एकदेश का अर्थ नहीं रहता; अतः उसकी उत्प्रेक्षा होने में कोई बाधा नहीं।]

आप कहेंगे—ऐसा मानने से "भावप्रधानमाख्यातम्" इस निरुक्त के वाक्य से विरोध होगा; क्योंकि उसमें लिखा है कि—'आख्यात (तिङंत) में व्यापार प्रधान होता है' और आपके हिसाब से प्रथमांत पद प्रधान हो गया। सो कुछ है नहीं। कारण, "भावप्रधानमाख्यातम्" का अर्थ यों करिए कि—'आख्यात' (अर्थात् 'तिङ्' प्रत्यय) का 'प्रधान' (अर्थात् वाच्य) 'भाव' (अर्थात् व्यापार) होता है। आप कहेंगे—आपने 'प्रधान' शब्द का अर्थ 'वाच्य' कैसे कर लिया? तो इसका उत्तर यह है कि (निरुक्त में ही) आगे के वाक्य "सत्त्वप्रधानानि नामानि = प्रातिपदिक द्रव्यवाची होते हैं" में 'प्रधान' शब्द का अर्थ वाच्य किया गया है, अतः यह कुछ हमारी नई कल्पना नहीं। जब आगे के वाक्य में वैसा अर्थ है ही तो फिर हमने यहाँ वैसा अर्थ करके क्या अनर्थ कर दिया?

आप कहेंगे—यदि धातु का अर्थ केवल फल माना जाय, व्यापार नहीं; तो सकर्मक और अकर्मक धातुओं का विभाग कैसे हो सकेगा? कारण, जहाँ फल और व्यापार भिन्न भिन्न आधारों में रहते हों वहाँ धातु सकर्मक होता है और जहाँ फल और व्यापार दोनों एक आधार में रहते हों वहाँ धातु अकर्मक होता है*। व्यापार को प्रत्यय का अर्थ

---

*इसका सार यह है कि—सकर्मक धातुओं के स्थल में फल का आश्रय कर्म होता है; जैसे 'कुम्हार' घड़ा बनाता है' यहाँ 'बनाने' का फल 'मट्टी का फैलना' घड़े में रहता है और चेष्टा कुम्हार में। और अकर्मक धातुओं के स्थल में फल और चेष्टा दोनों कर्त्ता में ही रहते

मानने पर यह विभाग कैसे बन सकेगा ? इसका उत्तर यह है कि—धातु का अर्थ यद्यपि केवल फल है, तथापि उस फल के प्रत्यय के अर्थ (व्यापार) के साथ रहने अथवा भिन्न रहने द्वारा 'सकर्मक होने' और 'अकर्मक होने' का व्यवहार होता है। कहने का तात्पर्य यह कि—व्यापार चाहे धातु का अर्थ हो चाहे प्रत्यय का अर्थ; इस बात के साथ सकर्मकता अकर्मकता का कोई संबंध नहीं, किंतु सकर्मकता अकर्मकता का संबन्ध उन दोनों के 'साथ रहने' तथा 'भिन्न रहने' के साथ है। अतः वे विभिन्न भागों के अर्थ होने पर भी जब एक आधार में रहते हों तब धातु को 'अकर्मक' कहा जाता है और जब भिन्न-भिन्न आधारों में रहते हैं तब 'सकर्मक'। सकर्मकता और अकर्मकता के विभाग के लिये वे दोनों एक ही भाग (धातु) के अर्थ होने चाहिएँ—यह आवश्यक नहीं। अतः यह आपकी शंका व्यर्थ है।

आप कहेंगे—प्रत्यय का अर्थ 'व्यापार' और उसका 'आश्रयता' संबंध से 'प्रथमांत' में अन्वय माना जाय तो 'भाव (अर्थात् व्यापार)' अर्थ में जो कृत्य-प्रत्यय ('घञ्' आदि) होते हैं, उनका भी अर्थ 'व्यापार' होने के कारण उनका भी 'आश्रयता' संबंध से क्यों न अन्वय हो जाय ? तात्पर्य यह कि 'अंधकारो लिम्पति' की तरह उसी अर्थ में 'अंधकारो लेपः' प्रयोग होने में क्या बाधा रही ? तो इसका उत्तर यह है कि—कृत्प्रत्ययांत शब्द प्रातिपदिक होते हैं—उनकी "कृत्तद्धितसमासाश्च" (१।२।४६) इस पाणिनि-सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है; और यह नियम है कि दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-संबंध (अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी संबंध) द्वारा अन्वय हो नहीं सकता; अतः

हैं; जैसे 'मैं नहाता हूँ' यहाँ चेष्टा 'गोता लगाना आदि' और फल 'सफाई आदि' एक ही नहानेवाले में रहते हैं।

भाववाची कृदंतों का प्रथमांत के साथ 'आश्रयता' संबंध से अन्वय नहीं होता ।

अब आपकी एक शंका और रह जाती है। आप कहेंगे—"लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः" (पाणिनि ३।४६९) इस सूत्र से तिङ्-प्रत्ययों का 'कर्त्ता' अर्थ में विधान है, और इस सूत्र में "कर्त्तरि कृत्" (३।४।६७) सूत्र से 'कर्त्तरि' पद की अनुवृत्ति आती है। यदि यहाँ 'कर्त्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्त्तृत्व (व्यापार)' किया जाय तो फिर "कर्त्तरि कृत्" सूत्र में भी 'कर्तृ' शब्द का अर्थ वही करना पड़ेगा; क्योंकि एक ही शब्द के दो सूत्रों में दो अर्थ तो किए नहीं जा सकते और तब कृत्-प्रत्यय (ण्वुल्, तृच् आदि) भी 'कर्त्ता' अर्थ में न होकर 'व्यापार' अर्थ में होने लगेंगे और वस्तुतः ऐसा होता नहीं, सो आपका सारा मंडान बिगड़ा जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि—"कर्तरि कृत्" सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ 'व्यापार का आश्रय (कर्त्ता)' ही है, अतएव तो 'घञ्' आदि प्रत्ययों का 'व्यापार' अर्थ समझाने के लिये "भावे" (३।३ १८) सूत्र बनाना व्यर्थ नहीं होता और जो 'केवल व्यापार' अर्थ मानोगे तो वह सूत्र व्यर्थ हो जायगा। सारांश यह कि—यदि "कर्त्तरि कृत्" सूत्र में 'क़र्तृ' शब्द का अर्थ व्यापार होता तो फिर 'घञ्' आदि प्रत्ययों के अर्थ के लिये "भावे" सूत्र क्यों बनाया जाता? अतः उस सूत्र की व्यर्थता न हो इसलिये "कर्त्तरि कृत्" में 'कर्त्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्त्ता' माना जाता है; पर "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" इस सूत्र में ऐसी कोई अनुपपत्ति नहीं; अतः 'कर्तृ' शब्द का 'कर्त्तृत्व' अर्थ मानने में कोई अड़चन नहीं।

आप कहेंगे—यह तो आपने बड़ी गड़बड़ मचाई। "कर्त्तरि कृत्" सूत्र में 'कर्त्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्त्ता' माना जाता है और उसी सूत्र से लिये गये उसी शब्द का अर्थ "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" सूत्र

में माना जाता है व्यापार; यह आपका परस्पर-विरोधी कथन कैसे बन सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरण शास्त्र में शब्द की अनुवृत्ति भी कहीं-कहीं मानी जाती है। अर्थात् यद्यपि शब्द वैसा का वैसा दूसरे सूत्र में जाता है—इसमें संदेह नहीं; पर दूसरे सूत्र में जाकर भी उस शब्द का वही अर्थ रहे, जो पहले सूत्र में हो यह आवश्यक नहीं। अतः "कर्त्तरि कृत्" इस सूत्र में 'कर्त्तृ' शब्द धर्मिवाचक (व्यापाराश्रय=कर्त्ता का वाचक) होने पर भी "लः कर्मणि······" सूत्र में उसे धर्मवाचक (केवल व्यापार = कर्त्तृत्व का वाचक) मानने में भी कुछ दोष नहीं। यह तो हुई एक बात।

पर यदि शब्दानुवृत्ति में गौरव समझें—आप कहें कि जहाँ तक शब्द और अर्थ दोनो की अनुवृत्ति हो सकती हो तहाँ तक केवल शब्द की अनुवृत्ति मानना उचित नहीं। तो दूसरी बात यह है कि—भले ही 'फल' और 'व्यापार' दोनो धातु के अर्थ और 'आश्रय' तिङ् (प्रत्यय) का अर्थ रहे। जैसा आप मानते हैं वही सही। साराश यह कि 'तिङ्' का अर्थ 'कर्त्ता' मानने मे भी हमें कोई आपत्ति नहीं। परंतु 'देवदत्तः पचमानः=पकाता हुआ देवदत्त' इत्यादि की तरह 'देवदत्तः पचति=देवदत्त पकाता है' इत्यादि में भी तिङ् के अर्थ 'कर्त्ता' का प्रथमांत के अर्थ 'देवदत्त' आदि में अभेद* संबंध से विशेषण होना ही उचित है, न कि भेद-संबंध से धातु के अर्थ व्यापार में। तात्पर्य यह कि—'तिङ्' का अर्थ 'कर्तृत्व' मानो या 'कर्त्ता'; पर उसका विशेष्य प्रथमांत पद का अर्थ होना चाहिए, न कि वैयाकरणों के मत के अनुसार 'व्यापार', क्योंकि ऐसा

---

* 'कर्त्ता' शब्द सामान्यवाची है और प्रथमांत पद होता है उसका विशेषवाची; अतः उनका अभेद संबंध होना उचित है, जैसे 'वृक्ष' और 'आम' का।

न मानने से, एक तो, सब मनुष्यों को जो उत्प्रेक्षा में क्रियापद के के अर्थ की विधेयता और प्रथमांत पद के अर्थ की उद्देश्यता प्रतीत होती है उसका भंग होता है। किसी को भी 'व्यापार' की विधेयता (विषयी होना) और उसके अंदर आए (अध्यवसित) अन्य धर्म की उद्देश्यता (विषय होने) की स्वतः प्रतीति नहीं होती; क्योंकि इस तरह अध्यवसितों का उद्देश्य-विधेय होना अनुभव-विरुद्ध है। दूसरे, जहाँ तक बन सके "*प्रत्यय के अर्थ में प्रकृति का अर्थ विशेषण होता है" इस नियम की भी अनुकूलता रखना ही न्यायप्राप्त है—गति होते हुए भी नियम का विरोध उचित नहीं। पर वैयाकरणों के मत में इस नियम का विरोध होता है; क्योंकि वहाँ प्रकृति—धातु—का अर्थ 'व्यापार' विशेष्य होता है और प्रत्यय—तिङ्—का अर्थ 'कर्ता' विशेषण। अतः 'व्यापार' को विशेष्य मानना और और सब अर्थों को विशेषण यह मत ठीक नहीं, किंतु प्रथमांत पदको विशेष्य मानना ही युक्ति-संगत है।

रहा "भावप्रधानमाख्यातम्" इस पूर्वोक्त निरुक्त के वाक्य का विरोध। सो उसका अर्थ 'धातु का अर्थ व्यापार होता है' यह कर लेने से (अर्थात् पहले आख्यात पद का अर्थ 'तिङ्' किया था अब 'धातु' कर लीजिए) कोई विरोध नहीं रहता।

आप कहेंगे—ऐसा मानने से वैयाकरणों के मत का विरोध होगा—यह भी तो एक दोष ही है। तो हम कहते हैं—यह कोई दोष नहीं। आलंकारिकों का सिद्धांत स्वतंत्र है, वे जो कुछ वैयाकरणों ने माना है वही मानें—यह कोई बात नहीं। इस बात को हम आगे† और भी विस्तृत करेंगे, अतः अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करते हैं।

* "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्।"

† संभव है, पंडितराज आलंकारिकों के स्वतंत्र सिद्धांतों के विषय में कोई अतिरिक्त प्रकरण लिखते, अतएव उन्होंने इस विषय को विस्तृत

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—"लिम्पतीव......" इत्यादि तिङन्त पदोंवाली उत्प्रेक्षा में चाहे (तिङ् का अर्थ 'कर्तृत्व' मानो तो) भेद संबंध ('आश्रयता') से, चाहे (तिङ् का अर्थ 'कर्त्ता' मानो तो) अभेद संबंध से तिङ् के अर्थ ('कर्तृत्व' अथवा 'कर्त्ता') की ही प्रथमांत पद के अर्थ (अंधकार आदि) में उत्प्रेक्षा की जा रही है, न कि अध्यवसित 'व्याप्त होने' आदि में। तात्पर्य यह कि—यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय 'अंधकार' अथवा 'आकाश' है, न कि 'व्याप्त होना'। कारण, एक तो, 'इव' के अर्थ (संभावना) की (वस्तुतः संभावना के विषयी 'क्रियापद के अर्थ' की) विधेयता, जो कि यावन्मात्र मनुष्यों को प्रतीत होती है, वैयाकरणों के मत से, नहीं बन पाती; क्योंकि उद्देश्य-विधेय-भाव के लिए उद्देश्य और विधेय का पृथक्-पृथक् पदों से प्रतिपादित होना अनिवार्य है। दूसरे, यदि प्राचीनों के मतानुसार 'पोतने' में 'व्याप्त होने' का अध्यवसान मानकर उत्प्रेक्षा मानी जाय तो 'तम का किया हुआ लेपन' इस वाक्य से, जिसमें कि उद्देश्यबोधक कोई पद नहीं, उत्प्रेक्षा की प्रतीति होने लगेगी; क्योंकि वैसा अध्यवसान तो यहाँ भी माना जा सकता है।

आप कहेंगे—आपके मत से भी उत्प्रेक्षा का निमित्तधर्म तो है लेपन 'पोताना' आदि ही और वह रहता है केवल विषयी (पोतनेवाले आदि) में। उसे जब तक विषय (अंधकार आदि) में रहनेवाले 'व्याप्त होने' आदि धर्म के साथ एकरूप न माना जाय, तब तक वह निमित्त-रूप नहीं हो सकता; क्योंकि निमित्त रूप होने के लिये उस धर्म का विषय-विषयी दोनों में रहना आवश्यक है। अतः 'पोतने' का

करने की प्रतिज्ञा की है; पर दुर्भाग्य से उपलब्ध रसगंगाधर में वह भाग नहीं आ सका।

'व्याप्त होने' के साथ अध्यवसान माने बिना तो आपका भी निर्वाह नहीं। फिर हमने यहाँ उत्प्रेक्षा के विषय और विषयी का अध्यवसान मान लिया तो क्या अपराध किया ? तो हम कहते हैं—महोदय ! आप हमारी बात को लेकर अपना दोषमार्जन नहीं कर सकते। आप तो इस अध्यवसान के कारण उत्प्रेक्षा को अनुपात्तविषया और अध्यवसानमूला कह रहे हैं और हम तो केवल निमित्त बनाने (अर्थात् साधारण करने) के लिये 'पोतने' द्वारा 'व्याप्त होने' को निगीर्ण मान रहे हैं। यदि आपके विचार से निमित्त के अनुपात्त होने और अध्यवसान-मूलक होने मात्र से विषय का अनुपात्त होना और अलंकार का अध्यवसानमूलक होना माना जाय तो 'मुख-चंद्र' आदि रूपक में भी विषय का अनुपात्त होना (क्योंकि वहाँ भी निमित्त धर्म अनुपात्त है और आपके विचार से निमित्त (साधारणधर्म) का नाम ही विषय है) मानिए और "लोकान् हन्ति खलो विषम् = खल रूपी जहर लोगों को मारता है" इत्यादि में भी रूपक को अध्यवसानमूलक मानिए; क्योंकि वहाँ भी खल संबंधी 'दुख देने' आदि के साथ जहर-संबंधी 'मारने' आदि का अध्यवसान है। अतः निमित्तभाग के अध्यवसान को लेकर उत्प्रेक्षा में विषय का अनुपात्त होना और अध्यवसानमूलक होना मानना भ्रांति ही है।

सारांश यह कि—ऐसा निमित्तभाग का अध्यवसान तो अन्य अलंकारों में भी रहता है; अतः उस भाग में तो अतिशयोक्ति ही है— वहाँ उत्प्रेक्षा है ही नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि—प्राचीनों ने जिनको धर्मोत्प्रेक्षा में विषय और विषयी माना है वे वस्तुतः विषय और विषयी में रहनेवाले धर्म हैं और एकरूप बनकर वे उत्प्रेक्षा के निमित्त बनते हैं। उस भाग में अध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति अलंकार है, उत्प्रेक्षा नहीं। यह तो हुई धर्मोत्प्रेक्षा की बात।

अब हेतूत्प्रेक्षा को लीजिए। इसी तरह "उन्मेषं यो मम न सहते ...." इस हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण में भी उत्प्रेक्षा का विषय है "शोभा" और उसमें 'चिपटने के हेतु' रूप में 'हर्ष' (रूपी विषयी) की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त है 'पैरों के साथ शोभा के स्वाभाविक संबंध (चिपटने)' से अध्यवसित (अंतःप्रविष्ट) 'हर्ष के कारण चिपटना'।

हेतूत्प्रेक्षा का एक उदाहरण और लीजिए—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

रामचंद्र लंका से लौटते हुए सीता से कह रहे हैं—यह वह स्थान है, जहाँ तुझे ढूँढ़ते हुए मैंने पृथ्वी पर गिरा हुआ (तेरा) एक नूपुर देखा था, जो, मानो, तेरे चरण-कमल के वियोग के दुःख से मौन बाँधे हुए था—एकदम चुप हो रहा था।"

यहाँ भी मौन के हेतुरूप में नूपुर के अंदर वियोग के दुःख की उत्प्रेक्षा की जा रही है। अर्थात् यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है 'नूपुर' और 'विषयी' है 'वियोग का दुःख' उसमें 'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होने' को उदरस्थ किए हुए 'मौन' निमित्त है—अर्थात् 'दुःख के कारण चुप होने' और 'निश्चलता के कारण न बजने' को एक मानकर उन्हें उत्प्रेक्षा का निमित्त माना गया है। कारण, इस तरह एकरूप माना हुआ मौन ही वियोग के दुःख का साथी होकर नूपुर में रह सकता है।

यहाँ प्राचीनों के हिसाब से यह समझना उचित नहीं कि—'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होना' विषय है और उसमें 'वियोग के दुःख के कारण होनेवाले मौन' की, अभेद संबंध से, उत्प्रेक्षा की जा-

रही है। कारण, एक तो, उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का अन्वय जिसके साथ हो उसी की उत्प्रेक्षा होती है—यह नियमसिद्ध बात है। दूसरे, जब विषय को निगीर्ण मानते हैं तो विषयी विधेय नहीं हो सकता, जो कि अनुभव-विरुद्ध है। तीसरे, ऐसी स्थिति में अन्य किसी निमित्त को ढूँढ़ना पड़ता है, क्योंकि प्राचीनों के मत में ऐसे स्थलों पर निमित्त सदा अनुपात्त रहता है। यद्यपि यहाँ 'एक काल में उत्पन्न होना' आदि साधारण धर्म निमित्त है, तथापि वह चमत्कारी नहीं; अतः जैसे उपमा में ऐसे (चमत्कारहीन) धर्मों को प्रयोजक नहीं माना जाता वैसे ही उत्प्रेक्षा में भी प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

यही बात फलोत्प्रेक्षा में भी समझिए।

इस लेख से, द्रविडश्रेष्ठ (अप्पयदीक्षित) ने जो प्राचीनों के मत का अनुसरण करते हुए "अथवा हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरणों में भी अभेद-संबंध से ही उत्प्रेक्षा होती है" यह लिखा है, सो भी परास्त हो जाता है।

३
अलंकारसर्वस्व का मत

'अलंकार-सर्वस्व'-कार ने, प्रथमतः, उत्प्रेक्षा का लक्षण यों कहा है—

"विषय को अंतःप्रविष्ट कर लेने के कारण विषयी के अभेद-बोध को 'अध्यवसान' कहते है—अर्थात् जहाँ केवल विषयी का प्रतिपादन हो और विषय को उसके अंतःप्रविष्ट समझकर विषयी से अभिन्न समझ लिया गया हो वहाँ 'अध्यवसान' होता है। वह अध्यवसान दो प्रकार का है—एक सिद्ध और दूसरा साध्य। उनमें से जहाँ अध्यवसान का

साध्यता प्रतीत होती हो—वह सिद्ध न हुआ हो, किंतु सिद्ध हो रहा प्रतीत होता हो—और व्यापार (क्रिया) की प्रधानता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। इसका अर्थ यह है कि विषय के अंतःप्रविष्ट कर चुकने का नाम (अध्यवसान का) सिद्ध हो जाना है अर्थात् जहाँ विषयवाचक शब्द पृथक् न हो वहाँ अध्यवसान 'सिद्ध हुआ' समझा जाता है; और विषय का अंतः प्रविष्ट करना (अध्यवसान का) 'साध्य होना' कहलाता है। जहाँ अध्यवसान सिद्ध हो गया हो वहाँ विषय को उदरस्थ किए हुए विषयी की प्रधानता होती है; जैसे 'अतिशयोक्ति' आदि में और जहाँ अध्यवसान सिद्ध हो रहा हो—अर्थात् साध्य हो—वहाँ विषय को उदरस्थ करने की क्रिया की प्रधानता होती है—अर्थात् वहाँ विषयवाचक शब्द के पृथक् होने पर भी विषय विषयी में प्रविष्ट होता दिखाई देता है; ऐसी जगह उत्प्रेक्षा होती है।"

इस तरह जिसके अंदर अभेद आया हुआ है ऐसा उत्प्रेक्षा का लक्षण बनाकर—अर्थात् 'उत्प्रेक्षा केवल अभेद संबंध से ही होती है' यह मानकर, पीछे से, कहा है कि—

"सैषा स्थली यत्र······" इस (पूर्वोक्त) पद्य में, नूपुर, में रहनेवाले 'मौनीपन' को हेतु बनाकर 'दुःख' रूपी गुण की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का, नूपुर में रहनेवाले 'शब्दरहित होने' से अभिन्न माना हुआ 'मौनीपन' ही, निमित्त है।"

इसी तरह "जहाँ धर्म ही धर्मी में रहनेवाले के रूप में (उत्प्रेक्षित हो)" इत्यादि लिखकर 'धर्मोत्प्रेक्षा' के प्रसंग में कहा है कि—"लिम्पतीव तमोङ्गानि' इस जगह लेपन क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है और उसमें 'व्याप्त होना' आदि निमित्त है।"

४

अलंकारसर्वस्व के मत पर विचार

सो यह सब परस्पर विरोधी है। कारण, 'दुःख' गुण की उत्प्रेक्षा में जिसके गर्भ में अभेद हो ऐसा अध्यवसान नहीं है (अतः तुम्हारा लक्षण यहाँ कैसे घट सकेगा ?)। हाँ, 'मौन' के अंश में अध्यवसान है; क्योंकि 'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होने' को 'मौनीपन' के अंतः प्रविष्ट समझकर अभेद मान लिया गया है; पर वह सिद्ध अध्यवसान है, अतः अतिशयोक्ति का विषय हो सकता है, उत्प्रेक्षा का नहीं और आपके मत में 'मौन' की उत्प्रेक्षा के निमित्तरूप से उत्प्रेक्षा भी नहीं की गई है। इसी तरह "लिम्पतीव तमोङ्गानि" इस जगह 'लेपन' रूपी अंश का अध्यवसान भी अतिशयोक्ति का ही विषय है; क्योंकि 'व्याप्त होने' के रूप में स्थित उसी 'लेपन' को आपने 'कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा का निमित्त बताया है। अब जरा सोचिए कि—आप ही तो यह बाधक अड़ा रहे हैं कि—"यदि 'व्याप्त होने' आदि को उत्प्रेक्षा का विषय मानेंगे तो निमित्त अन्य कोई ढूँढ़ना पड़ेगा—अतः 'व्याप्त होने' को उत्प्रेक्षा का विषय मानना उचित नहीं।" और आप ही अपना पूर्वोक्त लक्षण यहाँ घटित कर रहे है—यह क्या गड़बड़ है ? सारांश यह कि—'दुःख' रूपी गुण की और 'कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा में अध्यवसान या अभेद है। अब यदि निमित्त भाग के अध्यवसान को लेकर उत्प्रेक्षा मानो तो ऐसा अध्यवसान तो उपमादिक में भी विद्यमान है—फिर वहाँ भी उत्प्रेक्षा मान लेनी पड़ेगी, अतः यह सब असंबद्ध है।

एक बात और लीजिये। यदि आप 'अध्यवसान' होने पर ही उत्प्रेक्षा मानते हैं तो हम आप से पूछते हैं कि—'मुख मानों चंद्रमा है' इस उत्प्रेक्षा में अध्यवसान कहाँ है ? क्योंकि वहाँ विषय (मुख)

जीता-जागता सामने बैठा है—वह जब तक विषयी के अंतर्गत न हो जाय तब तक अध्यवसान कैसे माना जा सकता है ? आप कहेंगे—जहाँ अध्यवसान सिद्ध हो चुकता है वहाँ विषय विषयी के उदर में रहता है; पर साध्य अध्यवसान में उसकी पृथक् प्राप्ति होती है। पर हम कहते हैं—साध्य अध्यवसान में कुछ प्रमाण नहीं। यदि विषय के पृथक् रहते हुए भी अध्यवसान माना जाय तो रूपक आदि के अंदर भी अध्यवसान होने लगेगा—इसमें क्या प्रमाण है कि उत्प्रेक्षा में विषय के पृथक् रहते हुए भी अध्यवसान होता है और रूपक में नहीं।

दूसरी बात यह है कि—लक्षणा के 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' ये दो भेद हैं, अतः अध्यवसान भी एक प्रकार की लक्षणा हुई; पर उत्प्रेक्षा के विधेय अंश में लक्षणा नहीं है। कारण, यहाँ अभेद आदि संसर्गों से आहार्य-बोध ही स्वीकार किया गया है—लक्षणा किसी ने नहीं मानी। अतः अलंकारसर्वस्वकार का यह विमर्श अस्त-व्यस्त ही है।

सो प्राचीनों और आधुनिकों—दोनों ही—की उक्तियाँ गंभीर विचार करने पर नहीं टिक सकतीं।

४

सिद्धांत

ऐसी दशा में हम कहते हैं—

पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा के भेदों में से 'धर्म्युत्प्रेक्षा' का निष्कर्ष तो प्राचीनों के मत पर विचार करते समय कर ही आए हैं—अर्थात् 'मुख मानो चंद्रमा है' इत्यादि में तो अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा होती ही है—इस विषय में तो किसी का कुछ मतभेद है नहीं।

(और धर्मोत्प्रेक्षा के दो प्रकार के उदाहरणों में से गुणरूप धर्म की उत्प्रेक्षा के उदाहरण "अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' आदि में भेद-

संबंध से उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है—यह भी लिखा जा चुका है। रहा 'क्रियारूपी' धर्म की उत्प्रेक्षा 'लिम्पतीव तमोङ्गानि' आदि के विषय में मतभेद। उस विषय का बड़ा भारी शास्त्रार्थ करके यह सिद्ध कर दिया गया है कि वहाँ भी प्रथमांत पद के अर्थ में, प्रकृत क्रिया के 'कर्तृत्व' की 'आश्रयता' संबंध से अथवा 'कर्त्ता' की अभेद संबंध से, उत्प्रेक्षा मानना ही उचित है।)

हेतूत्प्रेक्षा में पंचमी विभक्ति का अर्थ 'हेतु' होता है और प्रकृति (जिस शब्द से पंचमी की गई हो उस) के तथा प्रत्यय (पंचमी) के अर्थ का संबंध होता है 'अभेद'। यह एक पक्ष है। इस पक्ष में 'वियोग के दुःख से' इस पद का अर्थ होता है 'वियोग के दुःख से अभिन्न हेतु'। इस अर्थ की 'प्रयोज्यता' संबंध से उत्प्रेक्षा 'इव' आदि द्वारा समझाई जाती है।

दूसरे पक्ष के लोग पंचमी का अर्थ 'प्रयोज्यता' मानते हैं। उनके हिसाब से प्रकृति के अर्थ और प्रत्यय के अर्थ का संबंध होता है 'निरूपितता' और उत्प्रेक्षा होती है 'आश्रयता' संबंध से।

तात्पर्य यह कि—'मानो दुःख से मौनयुक्त' इस वाक्य का शाब्द-बोध (पहले मत के अनुसार)

'मौनयुक्त (पदार्थ), दुःख से अभिन्न (अर्थात् दुःखरूप) हेतु से सिद्ध की जानेवाली उत्प्रेक्षा का, विषय है।'

यह होता है। और दूसरे मत के अनुसार—

'मौनयुक्त (पदार्थ), दुःख से निरूपित प्रयोज्यता के आश्रय (रूप) उत्प्रेक्षा का, विषय है।' यह होता है।

दोनों ही पक्षों में पंचमी के अर्थ की ही उत्प्रेक्षा होती है; क्योंकि 'इव' आदि के अर्थ का उसी के साथ अन्वय होता है।

इस उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है, जिसकी उत्प्रेक्षा की जा रही है उस (अर्थात् 'हेतु') के साथ रहनेवाला धर्म, और उसका हेतु के साथ वही संबंध होता है जो हेतु का उत्प्रेक्षा के साथ होता है (अर्थात् पहले पक्ष में 'प्रयोज्यता' और दूसरे पक्ष में 'आश्रयता')। यहाँ वह धर्म है अतिशयोक्ति द्वारा 'मौन' से अभिन्नरूप में माना हुआ 'निश्चलता के कारण शब्दरहित होना' और इस उत्प्रेक्षा का विषय है 'मौनयुक्त पदार्थ'। इस तरह यहाँ प्रथमतः 'दुःख' रूपी हेतु द्वारा 'मौन' की उत्प्रेक्षा की जाती है, और फिर 'मौन' के कारण 'मौनयुक्त' के सिद्ध होने की संभावना की जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—जिसका धर्म उत्प्रेक्षा का प्रयोज्य हो (उत्प्रेक्षा द्वारा सिद्ध होता हो) ऐसे धर्मी में सभी जगह पंचमी के अर्थ का अन्वय धर्म के द्वारा ही होता है। तात्पर्य यह कि—जिस हेतूत्प्रेक्षा में धर्मी पदार्थ का (जैसे 'मौनयुक्त') का वर्णन हो और हेतु द्वारा उसका धर्म (जैसे 'मौन') सिद्ध किया जाता हो वहाँ पंचमी के अर्थ (हेतु) का धर्मी में स्वतंत्र रूप से नहीं, किंतु धर्म के द्वारा अन्वय होता है। अर्थात् हेतु का अन्वय धर्म में होता है और धर्म का अन्वय धर्मी में। यह तो हुई जिसमें धर्मी विषयरूप हो उस हेतूत्प्रेक्षा की बात।

अब उस उत्प्रेक्षा की बात सुनिए, जहाँ साक्षात् धर्म ही किसी धर्म के साथ अभिन्न माना जाकर उत्प्रेक्षा का विषय हो। वहाँ उस धर्म का अवच्छेदक धर्म निमित्त रूप हुआ करता है; जैसे 'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' के स्थान पर 'विश्लेषदुःखादिव मौनमस्य = इसका मौन, मानो, वियोग के दुःख से है' यों बना दिया जाय तो 'मौन' का अवच्छेदक धर्म 'मौनत्व' उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा।

यही बात 'हेतूत्प्रेक्षा' में जहाँ पंचमी के स्थान पर 'तृतीया' विभक्ति आई हो, वहाँ तृतीया के अर्थ के विषय में भी समझो। सारांश यह कि वहाँ भी इसी तरह शाब्दबोध होता है।

फलोत्प्रेक्षा में (संस्कृत में) 'तुमुन्' प्रत्यय (और हिंदी में 'के लिये') आदि का अर्थ होता है 'फल'। 'हेतूत्प्रेक्षा के प्रथम पक्ष की तरह प्रकृति (जिस शब्द से 'तुमुन्' आदि किए गए हों) और प्रत्यय ('तुमुन्' आदि) के अर्थ (फल) का 'अभेद' संबंध होता है। और 'इव' (हिंदी में 'मानो) आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों के साथ फल का अन्वय 'साधनता' संबंध से होता है; अतः वहाँ उसी संबंध से उत्प्रेक्षा मानी जाती है। अर्थात् फलोत्प्रेक्षा सदा 'साधनता' संबंध से होती है। सारांश यह कि—"वन प्रदेशों ने ललाट की चमड़ी को, मानो, अक्षर देखने के लिये उधेड़ डाला" इस वाक्य का—

शाब्द बोध—"अक्षर देखने से अभिन्न (अर्थात् अक्षर देखने रूपी) फल की साधनरूप उत्प्रेक्षा का विषय है ललाट की चमड़ी उधेड़नेवाले वनप्रदेश" यह होता है।

जिस अंश में फल की उत्प्रेक्षा की जाती है वह अंश फलोत्प्रेक्षा का विषय होता है। उस विषय के विशेषण रूप में भासित होनेवाला धर्म फलोत्प्रेक्षा का निमित्त होता है, जैसे उपर्युक्त फलोत्प्रेक्षा में 'वन-प्रदेश' रूपी विषय का विशेषण 'ललाट की चमड़ी का उधेड़ना' निमित्त है।

फलोत्प्रेक्षा में भी, हेतूत्प्रेक्षा की तरह, धर्मी और धर्म दोनों विषय हो सकते हैं। जहाँ विषय धर्मी हो वहाँ विषयी के धर्म से अभिन्न समझा हुआ विषय का (पूर्वोक्त) धर्म निमित्त होता है। जैसे प्रकृत

उत्प्रेक्षा में 'वनप्रदेश' विषय है, वह धर्मी है, और विषयी है 'अक्षर देखना'। 'वनप्रदेश' का धर्म है 'ललाट की चमड़ी का साधारण (बिना किसी फल के) उधेड़ना' और 'अक्षर देखने का' धर्म है 'अक्षर देखना जिसका फल हो वह''''''उधेड़ना'। यहाँ द्वितीय 'उधेड़ने' को प्रथम 'उधेड़ने' से अभिन्न मान लिया गया है और वह इस फलोत्प्रेक्षा का निमित्त है।

और जहाँ फलोत्प्रेक्षा का विषय धर्म रूप हो वहाँ उस धर्म के विशेषण रूप में रहनेवाला अन्य धर्म—अर्थात् अवच्छेदक धर्म (जैसा कि हेतूत्प्रेक्षा में समझा आए हैं)—निमित्त होता है।

विषय के प्रधान न होने पर शाब्दबोध

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—जहाँ विषय समास अथवा प्रत्यय द्वारा गौण हो गया हो—अर्थात् समासादि के कारण अन्य पद का अथवा प्रत्यय का अर्थ प्रधान हो और विषयवाचक शब्द का अर्थ उनका एक देश बन गया हो, अतः हेतु और फल का विषय के साथ साक्षात् अन्वय न हो सकता हो, वहाँ प्रधान को ही उत्प्रेक्षा का विषय माना जाना चाहिए, और 'विषय' होने की योग्यता रखनेवाले विशेषण को द्वार मानकर 'प्रयोज्यता' और 'प्रयोजकता' संबंधों से, क्रमशः, हेतु की और फल की उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए। अर्थात् जैसे उपर्युक्त धर्मी-वाली हेतूत्प्रेक्षा में धर्म के द्वारा हेतु का धर्मी रूपी विषय में अन्वय होता है, वैसे ही यहाँ विषय होने की योग्यता रखनेवाले विशेषण द्वारा हेतु और फल का प्रधान-अर्थ रूपी विषय में अन्वय होना चाहिए।

यद्यपि विशेषण में भी, किसी-न-किसी तरह, हेतु और फल का अन्वय हो जाने से विशेषण का विषय होना उचित है; तथापि उत्प्रेक्षा

में जो विषय के उद्देश्य होने और विषयी के विधेय होने की प्रतीति होती है, उसके अनुरोध से यह मार्ग स्वीकार करना पड़ा है; क्योंकि एक देश को उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता। हाँ, यदि उद्देश्य-विधेय-भाव का अनुरोध न हो तो प्राचीनों का सिद्धांत ही सुंदर हो सकता है। पर, दुःख है कि एक तो अनुभव इस बात का विरोध करता है। दूसरे, प्राचीनों का सिद्धांत मानने पर हेतूत्प्रेक्षा के स्थल में विषयी से निगीर्ण (अध्यवसित) विषय में (जो वहाँ लिखा हो) उस हेतुवाले कार्य और फलोत्प्रेक्षा के स्थल में उस (जो वहाँ लिखा हो) फलवाले कारण के, स्वरूप की ही उत्प्रेक्षा में पर्यवसान होता है, हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में नहीं। अर्थात् प्राचीनों का सिद्धांत मानें तो हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा को भी स्वरूपोत्प्रेक्षा ही कहा जा सकता है; क्योंकि उनके हिसाब से हेतु और फल का तो उत्प्रेक्षा के साथ अन्वय होता नहीं और इस तरह प्राचीनों का किया हुआ विभाग उड़ जा सकता है। अर्थात् प्राचीनों के हिसाबसे तीन प्रकार की उत्प्रेक्षा न रहकर केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा ही रह जाती है।

यदि आप कहें कि—तीनों उत्प्रेक्षाओं में स्वरूपतः कोई विशेषता न होने पर भी जिस उत्प्रेक्षा में हेतु और फल विशेषण रूप में न आए हों वह शुद्ध स्वरूपोत्प्रेक्षा कहलाता है और जिसमें हेतु विशेषणरूप से आया हो वह हेतूत्प्रेक्षा तथा जिसमें फल विशेषणरूप से आया हो वह फलोत्प्रेक्षा कहलाती है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, ऐसी दशा में

"तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी"

इस पूर्वोदाहृत स्वरूपोत्प्रेक्षा में 'पुत्र मैनाक का ढूँढना' रूपी फल उत्प्रेक्षा किए जानेवाले पदार्थ ('भुजा') की विशेषण-कोटि में

प्रविष्ट हो गया है, अतः वहाँ भी फलोत्प्रेक्षा होने लगेगी; क्योंकि जहाँ फल विशेषणरूप में आवे वहाँ आपके हिसाब से फलोत्प्रेक्षा होनी चाहिए। आप कहेंगे—वहाँ फल यद्यपि विशेषण है, तथापि उत्प्रेक्षा किए जानेवाले को साक्षात् विशेषण नहीं, किंतु परंपरया है, अतः फलोत्प्रेक्षा नहीं मानी जा सकती। तो हम कहते हैं कि—फल उत्प्रेक्षा किए जानेवाले पदार्थ का साक्षात् ही विशेषण होना चाहिए, परंपरया नहीं, इस बात में कोई अनुकूल तर्क नहीं है; क्योंकि दोनों जगह अप्रधानता समान है। अतः प्राचीनों ने इस विषय में धोखा खाया है। सत्य बात वही है जो हमने लिखी है। अच्छा अब इस घरेलू झगडे को समाप्त करिए—समझदारों के लिये इतना पर्याप्त है।

कई उत्प्रेक्षाएँ हों तो वहाँ कौन उत्प्रेक्षा बतानी चाहिए ?

उत्प्रेक्षित किए जानेवालों में भी (अर्थात् जहाँ अंगरूप में अन्य उत्प्रेक्षाएँ हों वहाँ भी) जिस विषयी की उत्प्रेक्षा विधेयरूप में प्रतीत हो उसी की उत्प्रेक्षा बताना उचित है। कारण, प्रधानता उसी उत्प्रेक्षा की होती है। सो "विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्" इस जगह नूपुर में रहनेवाले दुःखरूपी धर्म की उत्प्रेक्षा (गम्या) होने पर भी उस उत्प्रेक्षा का निर्देश उचित नहीं—अर्थात् इस वाक्य को 'धर्मोत्प्रेक्षा' का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। कारण, वह उत्प्रेक्षा अंग होने के कारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं। किंतु पंचमी के अर्थ की उत्प्रेक्षा (हेतूत्प्रेक्षा) का निर्देश उचित है; क्योंकि 'इव' शब्द से उसी का बोध होने के कारण विधेय वही है।

इसी तरह "चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य......" इस पद्य में भी 'वनप्रदेश, में 'ललाट के अक्षर देखने' की उत्प्रेक्षा बताना भी उचित

नहीं, किंतु 'तुमुन्' के अर्थ की उत्प्रेक्षा (फलोत्प्रेक्षा) बताना ही उचित है; क्योंकि 'इव' शब्द का उसी के साथ योग है।

इसी तरह "तनयमैनाक···" इत्यादि गद्य में फलोत्प्रेक्षा न बताई जानी चाहिए और न "कलिन्दजानीरभरऽर्धमग्नाः···"इस पद्य में चंद्रमा के बच्चों की अभेदोत्प्रेक्षा अथवा उस उत्प्रेक्षा से उठाई गई 'अंधकार जिसका कर्त्ता है और वैर जिसका हेतु है ऐसे निगलने के कर्म' की अभेदोत्प्रेक्षा। कारण वही पूर्वोक्त है। और "कलिन्दजानीनीरभरेऽर्धमग्नाः" इस उदाहरण में भी 'शशिकिशोर' की अभेद संबंध से और तन्मूलक 'ध्वान्तकर्तृक वैरहेतुक निगरण क्रिया के कर्म की 'तादात्म्य संसर्ग' से उत्प्रेक्षा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि ये विधेय नहीं हैं।

निमित्त धर्म

(उत्प्रेक्षा का निमित्तरूप) धर्म भी दो प्रकार का है—एक स्वतः साधारण (विषय विषयी दोनों में रहनेवाला, जिसे 'अनुगामी' कहते हैं) दूसरा साधारण बनाने के उपाय द्वारा असाधारण होने पर भी साधारण कर लिया गया। उनमें से स्वतः साधारण के विषय में तो कुछ कहना नहीं है। रहा साधारण बनाने का उपाय; सो वह कहीं रूपक, कहीं श्लेष, कहीं अपह्नुति, कहीं बिंबप्रतिबिंबभाव, कहीं उपचार और कहीं अभेद का अध्यवसान (एक धर्म के प्रतिपादक शब्द में अन्यधर्म को प्रविष्ट समझ लेना) रूपी 'अतिशय' होता है। जैसे—

नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरं मिलदिन्दिरम्।
इदमिन्दीवरं मन्ये सुन्दराङ्गि! तवाऽऽननम्।

हे सुंदरांगि! नयनरूपी भौंरों का आनंद-स्थान और शोभा से संयुक्त यह तेरा मुख, मानो, कमल है।

यहाँ पूर्वार्ध में आया हुआ पहला धर्म 'भौंरों के आनंद का स्थान होना' रूपक ('नयनरूपी भौंरे) द्वारा विषय (मुख) और विषयी (कमल) दोनों में साधारण कर दिया गया है। और दूसरा 'शोभा से संयुक्त होना' रूपी धर्म भिन्न-भिन्न प्रकार की शोभाओं (क्योंकि मुख और कमल की शाभाएँ जुदे-जुदे प्रकार की हैं) का अभेद मानकर (अर्थात् 'अतिशय' द्वारा) साधारण कर दिया गया है।

निमित्त धर्म केवल शब्दात्मक भी हो सकता है; जैसे—

अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि ।
शङ्के पङ्केरुहाणीति शरीराणि शरीरिणाम् ॥

मैं शंका करता हूँ कि—शरीरधारियों के शरीर कमल हैं। कारण, ये 'अक्षसंघातो' (इंद्रियसमूहों; अन्यत्र—कमलगट्टों के समूहों) से चिह्नित हैं। और 'सरोग' (रोगसहित; अन्यत्र—सरोवर में रहनेवाले) हैं।

केवल शब्दात्मक धर्म उपात्त ही होता है। और अर्थरूप धर्म तो अनुपात्त भी हो सकता है; जैसे—"द्विनेत्र इव वासवः—(यह राजा) मानो दो आँखोंवाला इंद्र (है)" इत्यादि में 'जगत्पति होना' आदि।

आप कहेंगे—यहाँ 'दो आँखवाला होना' रूपी उपात्त धर्म ही साधारण धर्म है—'जगत्पति होने' आदि उपरान्त के धर्म की कल्पना ठीक नहीं; क्योंकि साधारण करने के लिए ही तो विषयी (इंद्र) में उस ('दो आँखोंवाला होने' आदि) धर्म का आरोप किया गया है। पर यह आपका कथन ठीक नहीं। कारण, उस धर्म के साधारण कर देने पर भी; सुंदर न होने के कारण वह धर्म उत्प्रेक्षा को नहीं उठाता;

क्योंकि चमत्काररहित धर्म उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं हो सकता। आप कहेंगे—तब यह साधारण करना किस मर्ज की दवा है? तो हम कहते हैं—वह तो 'सहस्र आँखवाला होने' रूपी उत्प्रेक्षा के प्रतिबन्धक धर्म के हटाने के लिए है; जैसा कि पहले कहा ही जा चुका है।

श्लेष द्वारा साधारण किया हुआ निमित्तधर्म; जैसे—

दृष्टिः संभृतमङ्गला बुधमयी देव! त्वदीया सभा
काव्यस्याऽऽश्रयभूतमास्यमरुणाधारोऽधरः सुन्दरः।
क्रोधस्तेशनिभूरनल्पधिषण! स्वान्तं तु सोमास्पदं
राजन्! नूनमनूनविक्रम! भवान् सर्वग्रहालम्बनम्॥

राजा की स्तुति है—हे देव! आपकी दृष्टि 'मंगल' (शुभ + मंगल ग्रह) से परिपूर्ण है; आपकी सभा 'बुधमयी' (प्रचुर विद्वानोंवाली + बुधग्रह-रूप) है; आपका मुख 'काव्य' (कविता + शुक्रग्रह) का आश्रय है; आपका सुन्दर अधर 'अरुण' (ललाई+सूर्यग्रह) का आधार है; आपका क्रोध '(ऽ) शनि' ('अशनि=वज्र + शनिग्रह) का स्थान है; और हे महामते! आप का मन 'सोम' (सांब=शिव + चंद्रग्रह) का निवास-स्थान है। (अतः) हे महा पराक्रमी राजन्! आप, निश्चय ही, सब ग्रहों के आलम्बन हैं—एक भी ग्रह ऐसा नहीं जो आपसे संबंध न रखता हो।

इस पद्य में 'सब ग्रहों के आलंबन' की (राजा में अभेद संबंध से) उत्प्रेक्षा की जा रही है। उस 'आलंबन' के धर्म हैं 'उन-उन ग्रहों से आश्रित अंगोंवाला होना'; क्योंकि जिनके अंगों में ग्रह आश्रित हों वही तो 'ग्रहों' का आलंबन कहा जा सकता है। वे धर्म "दृष्टि 'मंगल' से परिपूर्ण है" इत्यादि अनेक रूपों में आए हैं, उनके विशेषण रूप में आए हुए वे-वे (अर्थात् मंगल आदि) ग्रह, उत्प्रेक्षा के विषय 'राजा'

के धर्म 'शुभ से परिपूर्ण होने' आदि के विशेषण बने हुए 'शुभ' आदि धर्मों के साथ, श्लेष द्वारा, अभिन्न बना दिए गए हैं। अर्थात् यद्यपि 'मंगल ग्रह' का राजा के धर्म में किसी तरह प्रवेश नहीं हो सकता, तथापि 'मंगल' शब्द के दूसरे अर्थ 'शुभ' का प्रवेश उसके धर्म में हो सकता है। सो 'मंगल' शब्द में इन दोनो अर्थों का श्लेष होने के कारण वे अर्थ अभिन्न बना दिए गए हैं और उस अभिन्न बनाने द्वारा वैसे (पूर्वोक्त) धर्मों की साधारणता सिद्ध हो जाती है।

अथवा जैसे—

विभाति यस्यां ललितालकायां
मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः।
कपोलपालिं तव तन्वि ! मन्ये
नरेन्द्रकन्ये ! दिशमुत्तराख्याम् ॥

नायक नायिका से कहता है—हे कृशांगी राजकुमारी ! 'ललिता-लका' (सुंदर अलकोंवाली; अन्यत्र—सुन्दर अलका पुरीवाली) और जिस पर 'वैश्रवण' (निश्चितरूपेण कानों; अन्यत्र—कुबेर) की मनोहर शोभा प्रकाशित हो रही है ऐसी तेरी कपोल-भित्ति को, मैं, 'उत्तर' नामवाली दिशा मानता हूँ।

यहाँ भी विषय ('कपोलभित्ति') का धर्म है 'सुन्दर अलकोंवाली होना' आदि और विषयी ('उत्तर दिशा') का धर्म है 'सुंदर अलका-पुरीवाली होना' आदि। इन धर्मों के विशेषणरूप में 'अलक' और 'अलका' तथा 'श्रवण' और 'वैश्रवण' आए हैं। उनके श्लेष द्वारा अभिन्न हो जाने पर धर्म की साधारणता हो गई।

अथवा जैसे—

नासत्ययोगो वचनेषु, कीर्त्तौ तथाऽर्जुनः, कर्मणि चापि धर्मः ।
चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वशंवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः ।

हे राजन् ! आपके वचनों में जो 'नासत्ययोग' (असत्य का योग नहीं; अन्यत्र—अश्विनीकुमारों = नकुल-सहदेव का संयोग) है; कीर्ति में 'अर्जुन' (श्वेतता; अन्यत्र—अर्जुन) है; कर्म में 'धर्म' (पुण्य; अन्यत्र—युधिष्ठिर) है; और चित्त में 'जगत्प्राणभव' (परमेश्वर*; अन्यत्र—भीम) है, सो क्या पांडव लोग आपके वशवर्ती हैं ?

यहाँ 'पांडव' विषय हैं। उनमें 'राजा के वशवर्ती' की अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ विषयी का धर्म है 'राजा के आश्रित होना' वह, श्लेषद्वारा, विषयों (पांडवों) का और विषयी में रहनेवालों—असत्य के अभाव, श्वेतगुण, पुण्य और परमेश्वर—का अभेद सिद्ध कर दिए जाने से विषयों के साथ साधारण कर दिए गए हैं।

अपह्नुति द्वारा निमित्त धर्म का साधारण करना; जैसे—

स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ।
मनोऽनुरागि ते तन्वि ! मन्ये वल्लभमीक्षते ॥

हे कृशांगि ! स्तनों के मध्यवर्त्ती रक्तिमा-युक्त माणिक के रूप में बाहर आया हुआ तेरा अनुरागी मन, माना, प्रियतम को देख रहा है।

---

*'जगत्प्राणभव' का नागेश ने 'हनुमान्' अर्थ भी किया है; पर पण्डितराज को परमेश्वर अर्थ ही अभीष्ट है। अतएव आगे विवेचन में उन्होंने 'परमेश्वर' अर्थ ही लिखा है।

यहाँ 'मन' में 'प्रियतम के देखने' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त 'मन का अंदर से बाहर आना' अपेक्षित है; क्योंकि बाहर आए बिना 'देखना, नहीं बन सकता। 'बाहर आने' का अर्थ है '(देह के) किसी बाहरी हिस्से से संबंध' रूपी धर्म, जो केवल माणिक में रहता है, मन में उस धर्म का संभव नहीं; अतः माणिक की 'अपह्नुति' द्वारा (अर्थात् माणिक को छिपाकर) उस धर्म को 'मन में रहनेवाला' बनाया गया है।

बिंब-प्रतिबिंब-भाव (द्वारा धर्म का साधारण करना) तो "कलिन्द-जानीरभरेऽर्धमग्नाः......" इस पूर्वोक्त उदाहरण में लिखा ही जा चुका है।

उपचार द्वारा धर्म का साधारण करना; जैसे—

माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसंभूता।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां ननु सुधा कविता ॥

मधुरता की परम सीमा, सरस्वती-संबंधी (साहित्यरूपी) समुद्र से उत्पन्न हुई और पीनेवालों को महान् आनंददायिनी कविता, मानो, पृथ्वी पर अमृत है।

यहाँ कविता में मुख्य (वाच्य) 'मधुरता' और 'पीना' रूपी धर्म असंभव हैं; अतः 'आस्वादन' और 'सुनने' रूपी कविता के धर्मों को उपचार (लक्षणा) द्वारा (पूर्वोक्त) मुख्य धर्मों के साथ साधारण कर दिया गया है। और लक्षणा लाक्षणिक अर्थ को मुख्य अर्थ से अभिन्न रूप में समझाया करती है; अतः इन दोनों अर्थों को अभिन्न माना गया है।

केवल अभेद के अध्यवसान (अतिशय) द्वारा धर्म का साधारण करना; जैसे पूर्वोक्त "व्यागुञ्जज्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीताम्......" इस हेतूत्प्रेक्षा में। वहाँ 'नीची शाखावाले' और 'झुकी गरदनवाले'

इन दोनों विषय-विषयियों का साधारणधर्म 'गरदन झुकाना' लिखा गया है। उसकी दोनों में साधारणता करने का उपाय 'शाखाओं के नीचे होने' और 'गरदन झुकाने' के अभेद का अध्यवसान ही है— यदि 'गरदन झुकाने' शब्द से ये दोनों अर्थ न लिए जायँ तो 'गरदन झुकाना' दोनों अर्थों में किसी तरह साधारण नहीं हो सकता।

केवल यही नहीं, किंतु जहाँ जहाँ हेतु और फल की उत्प्रेक्षा की जाय वहाँ सब जगह, जिसके हेतु की अथवा फल की उत्प्रेक्षा की जाय वह पदार्थ, इसी तरह साधारण बनाया जाकर निमित्त माना जाता है— वहाँ सर्वत्र अप्रकृत धर्म में प्रकृत धर्म का अध्यवसान रहता है; यह बात बार-बार समझा दी गई है।

कहीं-कहीं निमित्तधर्म नहीं रहता, किंतु उसका उठानेवाला धर्म ही रहता है।

इसी तरह कहीं धर्म उपात्त होने पर भी, या तो विषय और विषयी दोनों में साधारण न होने के कारण, या सुंदर न होने के कारण, स्वयं उत्प्रेक्षा को साक्षात् उठाने में यद्यपि असमर्थ होता है—अर्थात् स्वयं निमित्तधर्म नहीं हो सकता; तथापि उत्प्रेक्षा के उठाने में समर्थ किसी अन्य धर्म के उपस्थित करने में अनुकूलता करने के कारण उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है। जैसे—

द्यौरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथावव्रे।
जगदखिलमपि यथाऽऽसीन्निर्लोचनवर्गसर्गमिव॥

आकाश, काजल-सी काली मेघों की पंक्तियों से ऐसे घिर गया; जैसे, मानो, सारे संसार में नेत्रहीनो के थोको की सृष्टि हुई हो।

इस पूर्वोदाहृत पद्य में यद्यपि 'आकाश' का 'मेघ-पंक्ति से युक्त होना' रूपी धर्म ग्रहण किया गया है, तथापि वह 'जगत् के नेत्रहीनों

के शोकों सृष्टि से युक्त होने' की उत्प्रेक्षा में उपयुक्त नहीं है; क्योंकि 'मेघों की पंक्ति से युक्त होना' और 'नेत्रहीनों के शोकों की सृष्टि से युक्त होना' ये दोनों धर्म साथ साथ नहीं रहते; और जो धर्म उत्प्रेक्षा किए जानेवाले धर्म के साथ न रहता हो वह धर्मोत्प्रेक्षा का निमित्त हो नहीं सकता तथापि 'मेघपंक्ति से युक्त होना' 'सघन अंधकार' को सिद्ध करता है और उसके द्वारा 'नेत्र-संबंधी सब प्रकार के ज्ञान से रहित होना' रूपी धर्म सिद्ध हो जाता है, जो कि इस उत्प्रेक्षा का निमित्त है। इस तरह परंपरया निमित्त धर्म के उपस्थित करवा देने से 'मेघों की पंक्ति से युक्त होना' रूपी धर्म उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है।

विषय का अपह्नव

'विषय' का भी उपात्त का तो निरूपण हो ही चुका है; क्योंकि अब तक के सभी उदाहरणों में विषय उपात्त ही आया है। पर कहीं यह (विषय) अपह्नुत (अपह्नुति अलंकार द्वारा छिपाया हुआ) भी होता है, जैसे—

जगदन्तरममृतमयैरंशुभिरानन्दयन्नयं नितराम्।
उदयति वदनव्याजात् किमु राजा हरिणशावनयनायाः॥

(अपनी) अमृतमय किरणों से जगत् के मध्य भाग को अत्यंत आनंदित करता हुआ, यह क्या, मृगशावकनयनी के मुख के मिष से, चंद्रमा उदय हो रहा है ?

यहाँ 'मुख' रूपी उत्प्रेक्षा का विषय, अपह्नुति अलंकार द्वारा, छिपा दिया गया है और इस छिपाने का फल है 'मुख में चद्रमा के अभेद की संभावना का दृढ़ हो जाना'। अर्थात् इस तरह लिखने से उत्प्रेक्षा और भी दृढ़ हो जाती है।

अतिशयोक्ति अलङ्कार

लक्षण

विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) के निगरण को अतिशय कहते हैं। इस अतिशय की उक्ति का नाम है अतिशयोक्ति।

लक्षण का विवेचन

लक्षण में 'निगरण' पद का अर्थ है विषयिवाचक—'चन्द्र' आदि-पद के द्वारा शक्यतावच्छेदक—चन्द्रत्व आदि—के रूप से ही लक्ष्य अर्थ–मुख आदि—का बोध करवाना। सीधे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि जहाँ केवल उपमानवाचक ('चंद्र' आदि) शब्द निरूपण किये गये हों और उनके द्वारा उपमानतावच्छेदक ('चन्द्रत्व' आदि) से अवच्छिन्न उपमेय पदार्थ (मुख-आदि) का बोध होता हो वहाँ 'निगरण' समझना चाहिए।

शाब्दबोध

अतिशयोक्ति के शाब्दबोध के विषय में तीन मत हैं—

(१) पहला मत यह है कि—उपमानवाचक पद की लक्षणा जो लक्ष्य आदि का (मुख आदि) का बोध करवाती है उस बोध में केवल शक्यतावच्छेदक (चन्द्रत्व आदि ही) प्रकार (विशेषण) के रूप में प्रतीत होता है और लक्ष्य अर्थ विशेष्य के रूप में अर्थात् अतिशयोक्ति में निरूपित 'चन्द्र' शब्द का अर्थ होता है 'चन्द्रत्वप्रकारक मुख'। इस लिए यदि वाच्य अर्थ के असाधारण धर्म (चन्द्रत्व) की प्रतीति होगी तो लक्ष्य अर्थ के असाधारण धर्म (मुखत्व) की प्रतीति

नहीं हो सकती और यदि लक्ष्य अर्थ के असाधारण धर्म (मुखत्व) की प्रतीति होगी तो वाच्य अर्थके असाधारण धर्म के (चन्द्रत्व) की प्रतीति नहीं हो सकती'—यह विरोध नहीं रहता।

(२) दूसरा मत यह है कि—शक्यतावच्छेदक के साथ 'केवल' शब्द नहीं लगाना चाहिए और इसलिए ऐसे स्थलों पर लक्ष्य अर्थ का असाधारण धर्म (मुखत्व आदि) भी प्रतीत होता है। अर्थात् इस मत के अनुसार अतिशयोक्ति में 'चन्द्र' पद द्वारा प्रतिपादित मुख में चंद्रत्व और मुखत्व दोनों धर्म प्रतीत होते हैं।

(३) तीसरा मत यह है कि—लक्षणा द्वारा होनेवाले बोध में प्रथमतः लक्ष्य अर्थ का असाधारण धर्म ही प्रकार रूप से प्रतीत होता है, अर्थात् लक्षणा में मुखत्व से अविच्छिन्न मुख की ही प्रतीति होती है, न कि चन्द्रत्व से अविच्छिन्न मुख की। किंतु पीछे से व्यंजना द्वारा चंद्रत्वप्रकारक मुख का बोध हो जाता है। रही यह बात कि मुखत्व से अवच्छिन्न मुख में चंद्रत्व से अवच्छिन्न होने की प्रतीति बाधित है, अतः व्यंजना द्वारा वह कैसे हो सकती है? सो यह कुछ है नहीं। कारण, यह पहले समझाया जा चुका है कि व्यंजनाजन्य ज्ञान में बाधज्ञान कोई रुकावट नहीं डालता।*

---

* इस मत का अभिप्राय यह है कि अतिशयोक्ति में अभेद-बोध आहार्य होता है, क्योंकि बाधक के बोध के साथ होनेवाले बोध को ही आहार्य कहा जाता है; किन्तु प्राचीन आचार्यों का मत इससे भिन्न है। वे अतिशयोक्ति में अभेदबोध को आहार्य नहीं मानते। उनका सिद्धान्त यह कि 'कमलमनम्भसि = बिना जल के कमल है' इत्यादि अतिशयोक्ति के उदाहरण में 'कमल' शब्द का लक्ष्यतावच्छेदक धर्म होता है 'आह्लादकत्व'। इस तरह प्रथमतः आह्लादकत्व के रूप में बोध हो जाने पर आह्लादकत्व धर्म से अवच्छिन्न (मुख आदि) व्यंजना

(ये तीनों मत प्रथम भाग के पृ० ३९८ से प्रथम भाग के अंत तक विस्तृत रूप से समझा दिये गये हैं)।

रूपक और अतिशयोक्ति में भेद

अब यदि आप कहें कि तब रूपक में और अतिशयोक्ति में क्या भेद रहा तो इसका उत्तर यह है कि अतिशयोक्ति में उपमान और उपमेय दोनों का एक पद से ग्रहण होने के कारण उद्देश्य-विधेय भाव नहीं होता और रूपक में उपमान-उपमेय का भिन्न पदों से ग्रहण होने के कारण उद्देश्य-विधेय भाव होता है। बस, इतना ही भेद है।

(१)

उदाहरण

सावयवा अतिशयोक्ति; जैसे—

कलिन्दगिरिनन्दिनीतटवनान्तरं भासयन्
सदा पथि गतागतक्लमभरं हरन् प्राणिनाम्।
स्फुरत्कनककान्तिभिर्नवलताभिरावेल्लितो
ममाशु हरतु श्रमानतितमां तमालद्रुमः॥

द्वारा कमल का अभेदज्ञान होता है, जो कि आहार्य नहीं है। करण; आह्लादकत्व धर्म से अविच्छिन्न में कमल के अभेद की बाधा का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि आह्लादक तो कमल भी है ही। अतएव काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि 'गौणसाध्यवसानयां सर्वथैवाभेदावगमः—अर्थात् गौण साध्यवसाना (अतिशयोक्ति) में सर्वथा ही अभेद समझ पड़ता है।' इस तरह यह सिद्ध हुआ कि रूपक में अभेद-बोध आहार्य होता है और अतिशयोक्ति में अनाहार्य। प्राचीनों के हिसाब से, रूपक और अतिशयोक्ति में यही भेद है।

—नागेश

जो यमुना-तट-वर्ती वन के मध्यभाग को प्रकाशित कर रहा है, जो प्राणियों के मार्ग में गमनागमन के क्लेश-समूह को हरण कर रहा है एवं जो चमचमाते कनक की सी कान्तिवाली नवीन लताओं से परिवेष्टित है, वह तमाल वृक्ष मेरे श्रमों (कष्टों) का संपूर्णतया शीघ्र हरण करे।

यहां 'तमाल के द्वारा भगवान् कृष्ण के निगरण किये जाने में निगरण का समर्थन करने के लिए, श्लोक के तीन चरणों में आए हुए 'यमुना के तट के वन-मध्य को प्रकाशित करने वाला' 'प्राणियों के मार्ग में गमनागमन के श्रम को हरण करने वाला' तथा 'कनक कीसी कान्तिवाली नवीन लताओं से युक्त' ये तीनों विशेषण साधारण धर्म के रूप में साक्षात् ग्रहण किए गए हैं। इसी तरह चौथे चरण में आया हुआ 'श्रमो का हरण करे' यह चौथा विशेषण भी वैयाकरणों से भिन्न विद्वानों के सिद्धान्त के अनुसार (श्रमों का हरण करने वाला' इस रूप में प्रतीत होने से) निगरण का समर्थन करता है। किन्तु वैयाकरणों के मत से 'श्रमों का हरण करें' इस क्रियापद का अर्थ होता है 'जिसका कर्त्ता तमाल से अभिन्न है ऐसी (श्लोकोक्त) श्रमहरण की क्रिया' उसके द्वारा तर्कित 'उक्त क्रिया का कर्त्तृत्व' निगरण का समर्थन करता हुआ विषय-विषयी के साधारणधर्म के रूप में स्थित है।

इसी तरह द्वितीय चरण में 'मार्ग में गमनागमन' द्वारा 'नीची-उंची योनियों में भटकते रहने' का निगरण किया गया है और तृतीय चरण में 'लताओं' द्वारा 'गोपियों' का निगरण किया गया है।

ये सब विशेषण 'तमाल' द्वारा 'भगवान् कृष्ण' के निगरण को समर्थित करने के लिए लाये गये हैं, अतः यह अतिशयोक्ति सावयवा है।

निरवयवा अतिशयोक्ति

जहां समर्थन के लिए अन्य कोई निगरण नहीं वर्णन किया गया हो किन्तु केवल साधारणधर्मादिक ही लिखे गये हों वहां निरवय वा अतिशयोक्ति होती है जैसे—

नयनानन्दसंदोहतुन्दिलीकरणक्षमा ।
तिरयत्वाशु संतापं कापि कादम्बिनी मम ।

नेत्रों के आनन्द-समूह को पुष्ट करने में समर्थ अनिर्वचनीय मेघमाला मेरे संताप को शीघ्र ही निवृत्त करे ।

यहां (केवल) भगवान् की मूर्त्ति का (मेघमाला द्वारा) निगरण किया गया है, अन्य कोई निगरण नहीं है, अतः निरवयवा है ।

अतिशयोक्ति में विषयतावच्छेदक ही अभेदरूप माना जाता है

दो प्रातिपदिकार्थों का 'अभेद' संसर्ग से विशेष्य-विशेषण होना व्युत्पत्ति-सिद्ध है, इस कारण रूपक में विषय और विषयी का अभेद संसर्ग द्वारा विशेष्य-विशेषण भाव उचित है, किन्तु अतिशयोक्ति में ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यहां (एक ही प्रातिपदिकार्थ—उपमानमात्र होने के कारण) उपमेय (उपर्युक्त शाब्दबोध की रीति से) उपमानतावच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है इस लिए अभेद संसर्ग का प्रसंग ही नहीं है ।

अब यदि आप यह कहें कि फिर 'अतिशयोक्ति में अभेद प्रधान होता है' यह प्रवाद कैसे प्रचलित है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे पूर्वोक्त ('आस्ये पूर्णशशाङ्कता = मुख में पूर्णचन्द्रत्व है इत्यादि') संसर्गारोप रूपक में उपमानतावच्छेदक को ही 'भेद का अभाव' रूप माना जाता है वैसे ही (अर्थात् उपमानतावच्छेदक 'चन्द्रत्व' आदि

को अभेद रूप मान कर ही) अतिशयोक्ति में भी अभेद का निर्वाह करना चाहिए। (इसका विशेष विवेचन रूपकप्रकरण में किया जा चुका है) ।

अतिशयोक्ति में उपमानतावच्छेदक का निरूपण—

अतिशयोक्ति में उपमानतावच्छेदक का निरूपण दो प्रकार से होता है—

(१) कहीं तो उपमानतावच्छेदक केवल उपमेय में रहनेवाले धर्म से रहित होने एवं केवल अपने (उपमानतावच्छेदक के) साथ रहनेवाले धर्म से रहित होने (इन दोनों)के द्वारा प्रसिद्ध होता है। अर्थात् अतिशयोक्ति में जिन धर्मों का वर्णन हो वे ऐसे होने चाहिए जो न तो केवल उपमेय में ही रहते हों और न केवल उपमान में ही, किन्तु दोनों के साथ साधारण रूप से लगाये जा सकें, जैसे "कलिन्दगिरिनन्दिनी..." इस उदाहरण में (वर्णित विशेषणों से विशिष्ट) 'तमालत्व' आदि। क्योंकि वहाँ ऐसे धर्म लिखे गये हैं जो न केवल उपमेय (कृष्ण) में ही रहते हैं और न केवल उपमानतावच्छेदक के साथ ही अर्थात् केवल उपमान में ही। ऐसे विशेषण इसलिए दिये जाते हैं जिससे निगरण दृढ़ हो जाय। अर्थात् यदि कोई धर्म ऐसा दे दिया जाय कि जो केवल उपमेय में ही रहता हो तो उपमेय सहसा प्रतीत हो जायगा और तब उपमेय उपमान में पूर्णतया अन्तर्हित न हो सकेगा।

(२) और कहीं वह उपमानतावच्छेदक ऐसे धर्मों से रहित होने के विषय में प्रसिद्ध न होने पर भी कल्पितोपमा आदि में उपमान की तरह कवि के द्वारा अपनी प्रतिभा से कल्पित होता है, क्योंकि धर्मी की तरह धर्म की कल्पना भी अविरुद्ध है। जैसे कि (प्रथमानन के आरम्भ में लिखे हुए) 'स्मृतापि तरुणातपम्...' इत्यादि में। (यहाँ 'स्मरण करने पर भी तरुणातप को मिटाना' भगवान् (उपमेय) में हो

सकता है, किन्तु मेघमाला (उपमान) में नहीं, तथापि उपमान में यह धर्म कवि की प्रतिभा द्वारा कल्पित है ।)

(३) अथवा, जैसे—

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलयन् ।
जनानां संतापं त्रिविधमपि सद्यः प्रशमयन् ॥
श्रितो वृन्दारण्यं नत-निखिल-वृन्दारकनुतो ।
मम स्वान्तध्वान्तं तिरयतु नवीनो जलधरः ॥

समग्र जगत् को चन्द्रिकामय नवीन सुधाओं से व्याप्त करता हुआ एवं जनता के त्रिविध (आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक) संताप को तत्काल शान्त करता हुआ समस्त प्रणत देवताओं से स्तुत वृन्दावन-निवासी नवीन मेघ मेरे हृदय के अन्धकार को निवृत्त करे ।

यहाँ अलौकिक (नवीन) मेघ की उपमेय (कृष्ण) के धर्मों से विशिष्ट होने के रूप में कल्पना की गई है और तब वैसे मेघत्व के रूप में भगवान् का प्रतिपादन करने पर उस मेघत्व के सहवर्ती रूपमें कल्पित विशेषणों की अनुकूलता हो जाती है ।

कुवलयानन्द का खंडन

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि निगरण में सभी जगह विषय की प्रतीति विषयितावच्छेदक धर्म के रूप में ही होती है, न कि विषयी से अभिन्न होने के रूप में । ऐसी स्थिति में जो कुवलयानन्द में

"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः

अर्थात् निगरण करके अध्यवसान होने से रूपकातिशयोक्ति होती है" यह कह कर "अतिशयोक्ति में 'रूपक' विशेषण यह दिखाने के लिए लगाया गया है कि रूपक में जैसे भेद होते हैं उनका यहाँ भी संभव है, अतः यहाँ भी अभेदातिशयोक्ति और ताद्रूप्यातिशयोक्ति ये

दो भेद होते हैं।" यह लिखा है वह परास्त हो जाता है, क्योंकि अतिशयोक्ति में यह पूर्वोक्तरीत्या अभेद की स्वतंत्र प्रतीति होती ही नहीं* यह है नवीनों का सिद्धान्त।

प्राचीन तो कहते हैं कि "रूपक की तरह यहां भी विषयी का अभेद प्रतीत होता है, किन्तु वह निगरण किए हुए विषय (उपमेय) में होता है (इसका अभिप्राय यह है अतिशयोक्ति में उपमेय पृथक् नहीं लिखा रहता और रूपक में वह पृथक् लिखा रहता है) यही अतिशयोक्ति में रूपक से विशेषता है और उत्प्रेक्षा से अतिशयोक्ति में यह विशेषता है कि उसमें अध्यवसान साध्य होता है, अतः वह संभावनात्मक होती है और अतिशयोक्ति में अध्यवसान सिद्ध हो चुकता है, अतः वह निश्चयात्मक होती है।"

एक शङ्का और उसका उत्तर

आप कहेंगे कि—यदि विषयितावच्छेदक के रूप से विषय की प्रतीति होने पर ही अतिशयोक्ति होती है तो फिर

---

*नागेश कहते हैं कि—कुवलयानन्द का यह खण्डन उचित नहीं। कारण, काव्यप्रकाश की रीति से उनने यह वर्णन किया है और उनके हिसाब से वैसा होने में कोई बाधा है भी नहीं। दूसरे, आपको भी 'अतिशयोक्ति में अभेद प्रधान होता है' इस प्राचीनों के सिद्धान्त की संगति के लिए यह माना ही है कि (उनके मतमें) विषयितावच्छेदक ही अभेदरूप है। तब फिर 'अभेदातिशयोक्ति' कहने में क्या आपत्ति है।

पर इस समाधान की क्या आवश्यकता है प्राचीनों के मत से तो पण्डितराज खण्डन कर नहीं रहे हैं।

—अनुवादक

कमलमिदमनम्बुजातं जयतितमां कनकलतिकायाम् ।

अर्थात् बिना पानी के पैदा हुआ यह कमल कनकलता में सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो रहा है।

इत्यादिक में 'यह' आदि शब्दों से विषयितावच्छेदक (कमलत्व) का उल्लेख होने के कारण निगरण कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर यह है कि जब पद्य में उक्त 'यह' शब्द कमल का विशेषण हो तभी यहां अतिशयोक्ति होगी और यदि वह उद्देश्यतावच्छेदक—अर्थात् मुखका निरूपक—हो तो रूपक ही होगा। इसी तरह 'यह बैल है' और 'यह आयु ही है' इत्यादिक में भी समझना चाहिए अर्थात् 'यह' यदि बैल का विशेषण है तो अतिशयोक्ति है और यदि 'यह' किसी सामने बैठे गँवार के लिए प्रयोग किया गया है तो रूपक है। अतएव "अतिशयोक्ति में अभेद अनुवाद्य ही होता है, विधेय नहीं" यह प्राचीनों की उक्ति संगत होती है, अन्यथा उद्देश्य विधेय दोनों के वाचक शब्द विद्यमान रहने से यह उक्ति असंगत हो जायगी।

यह हुआ 'अतिशय' का एक प्रकार, जिसमें कि भेद होने पर भी अभेद बतलाया जाता है।

२

अतिशय का दूसरा प्रकार वह है जहाँ अलौकिकता का प्रतिपादन करने के लिए 'अभेद होने पर भी भेद वर्णन किया जाय'। इसी भेद को काव्यप्रकाशकार ने "प्रस्तुतस्यान्यत्वम्" इन शब्दों द्वारा बतलाया है। उदाहरण—

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ।

लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्यहृद्या
विद्यावतां सकलमेव चरित्रमन्यत् ॥

विद्यावानों का सभी चरित्र भिन्न होता है। उनके मन की प्रवृत्ति दूसरी तरह की होती है, जो जगत् के हित से परिपूर्ण रहती है; उनकी वचनावलियों की रचना भी अन्य होती है, कार्य भी उनके अलौकिक होते हैं और आकृति भी सज्जनों के हृदय को प्रिय होती है।

३

इसी तरह एक और भी प्रकार है, जहाँ 'वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष के लिए संबंध के अभाव में भी संबंध वर्णन किया जाता है'; जैसे—

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद ! मे मासिको गर्भः ।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठरं समुच्छलति ॥

हे जलद, तुम्हारी गम्भीर ध्वनियों को रहने दो। कारण, मेरा एक महीने का गर्भ मदमत्त हाथी समझकर पेट के अंदर उछल रहा है।

इस सिंहनी के वचन में 'गर्भ के साथ उछलने का संबंध न होने पर भी उछलने के संबंध का कथन' शूरवीरता को बढ़ाता है। अथवा जैसे—

गिरं समाकर्णयितुं यदीयां सदा रसज्ञैरनुभावनीयाम् ।
समीहते नित्यमनन्यचेता नभस्वदात्मम्भरिवंशनेता ॥

जिसकी रसज्ञ पुरुषों से अनुभव करने योग्य वाणी सुनने के लिए सर्पराज (शेष) अनन्य चित्त हो कर नित्य चेष्टा किया करता है।

यहां शेष के साथ 'सुनने की चेष्टा का संबंध न होने पर भी संबंध की उक्ति' राजा की विद्वत्ता को बढ़ाती है। अथवा जैसे—

तिमिर-शारदचन्दिर-तारकाः कमल-विद्रुम-चम्पककोरकाः ।
यदि मिलन्ति कदापि तदाननं खलु तदा कलया तुलयामहे ॥

यदि अन्धकार, शरद्दतु का चन्द्रमा, तारागण, कमल, मूंगा और चंपे की कलियां संमिलित हों तो हम उसके मुख की कदाचित् किसी अंश में तुलना कर सकें ।

पहिले उदाहरण में संबन्ध का निर्णय किया जा रहा है और यहां उसकी संभावना की जा रही है—यह इसमें (पूर्वोदाहरण से) विशेषता है ।

४

इसी तरह एक और भी प्रकार है, जहाँ संबंध में भी असंबंध होता है, जैसे—

पीयूषयूषकल्पामल्पामपि ते गिरं निपीतवताम् ।
तोषाय कल्पते नो योषाधरबिम्बमधुरिमोद्रेकः ॥

गाढ़े अमृत के समान तुम्हारी वाणी का जिनने थोड़ा भी पान किया है उनको कामिनी के अधर-बिम्ब की मधुरता का उभार संतुष्ट करने के लिए समर्थ नहीं है ।

यहां कामिनी के अधर बिम्ब की मधुरता से संतोष का संबंध होने पर भी संतोष के संबंध का अभाव वर्णन किया गया है ।

५

इसी तरह एक और भी प्रकार है—जिसमें कारण और कार्य की पूर्वापरता की विपरीतता वर्णन की जाती है । वह विपरीतता दो प्रकार से होती है—एक कारण और कार्य के साथ-साथ होने से और दूसरी

कारण के कार्य के अनन्तर होने से (क्योंकि कारण का पहले होना और कार्य का बाद में होना नियमसिद्ध है)।

उनमें से पहिली; जैसे—

"प्रतिखुरनिकरशिलातलसंघट्टसमुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृत - विस्फुलिङ्गच्छटापटलानां वाजिनाम्—

ऐसे घोड़े थे, जिन के खुर-समूहों की पत्थरों के साथ प्रत्येक रगड़ में उछलती हुई चिनगारियों की छटा का समूह बिजली की लाइनें बना देता था।"

इस घोड़ों के वर्णन में 'चिनगारियो' और 'बिजली की लाइनें बनाने' की एक साथ उत्पत्ति प्रतीत होती है; और उत्पन्न होनी चाहिए पहले चिनगारियां और तब बिजली की लाइनें, क्योंकि चिनगारियां बिजली की लाइनों के बनने का कारण हैं।

दूसरी; जैसे—

पुरः पुरस्तादरिभूपतीनां भवन्ति भूवल्लभ! भस्मशेषाः।
अनन्तरं ते भ्रुकुटी-विटङ्कात् स्फुरन्ति रोषानल-विस्फुलिङ्गाः॥

हे राजन्, पहिले आपके शत्रु-राजाओं की पुरियां भस्म शेष होती हैं और बाद में आपके भ्रुकुटीरूपी विटङ्क से रोषानल की चिनगारियां निकलती हैं।

(यहाँ 'रोषानल की चिनगारियाँ' रूपी कारण से पहले ही 'भस्म-शेष हो जाने' रूपी कार्य का वर्णन किया गया है।)

इन दोनों भेदों में कारण के 'अतिशय' में किया हुआ कार्य की शीघ्रता का अतिशय प्रतीत होता है।

इस तरह अतिशयोक्ति के पाँच भेद हुए ।

अतिशयोक्ति के भेदों पर विचार

प्राचीनों का कथन है कि 'उक्त पाँचों भेदो में से कोई एक होना' यह अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है ।

किंतु अन्य विद्वानों का कथन है कि 'संबंध में असंबंध' और 'असंबंध में संबंध' ये दोनो भेद अतिशयोक्ति नहीं हैं; क्योंकि ऐसा 'अतिशय' स्वभावोक्ति के अतिरिक्त रूपक, दीपक, उपमा और अपह्नुति आदि प्रायः सभी अलंकारों में रहता है। कारण, यथास्थित वस्तु के वर्णन में कोई चमत्कार नहीं होता, अतः उन्हें वैसा 'अतिशय' लाना ही पड़ता है। दूसरे, इन दोनों भेदों के अतिशयोक्ति न होने का एक यह भी कारण है कि 'पूर्वापरता की विपरीतता' भी उसी भेद (असंबंध में संबंध) के अंतर्गत हो जाती है, इसलिए उसको अतिरिक्त भेद मानना न बन सकेगा। अतः (१) विषयी के द्वारा विषय का निगरण करके अध्यवसान (२) प्रस्तुत का अन्य बताना (३) 'यदि' आदि शब्दो से असंभवी वस्तु की कल्पना करना और (४) कार्यकारणों की पूर्वापरता की विपरीतता—इन चार भेदों में से कोई एक होना अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है ।

किंतु नवीन विद्वानों का मत है कि "निगरण करके अध्यवसान' ही अतिशयोक्ति कहलाती है, अन्य भेद तो अनुगत रूप के अभाव से दूसरे ही अलंकार हैं। "इसके उत्तर में यदि आप कहें कि 'प्रस्तुत की अन्यता' रूपी भेदमें भेद के द्वारा अभेद का, असंबंध में संबंध' रूपी भेद में संबंध के द्वारा असंबंध का, 'संबध में असंबंध' रूपी भेद में असंबंध के द्वारा संबंध का और 'कार्यकारण की पूर्वापरता' रूपी भेद में कार्य-कारण की पूर्वापरता के द्वारा उनकी आनुपूर्वी का निगरण हो जाता है, जैसा

कि 'अलंकार रत्नाकर' एवं 'विमर्शिनी (अलंकार-सर्वस्व की टीका)' के कर्त्ता आदि ने निरूपण किया है।" तो यह उचित नहीं। कारण, इन भेदों में 'अन्यत्व' आदि से युक्त अनन्य (तद्रूप) वस्तु की प्रतीति ही चमत्कारिणी होती है, न कि 'अन्यत्व' आदि से युक्त तद्रूप वस्तु की प्रतीति। और यदि वैसा अनुभव माना जाय तो वह आपकी प्रक्रिया से बनता नहीं। कारण, 'लक्षणा द्वारा ही 'अन्यत्वावच्छिन्न अनन्यत्व' की प्रतीति हो सकती है और लक्षणा 'अन्यैव कापि रचना वचनावलानाम्' इत्यादि में है नहीं, क्योंकि वहाँ तो जो बोध करवाना है वह अभिधा द्वारा ही प्रतीत हो रहा है; अतः 'भेद के द्वारा अभेद का निगरण' रूपी अध्यवसान जो आपने बताया है वह असंभव ही है, क्योंकि वैसा बोध यहाँ कभी हो ही नहीं सकता।

दूसरी आपत्ति यह है कि—आप जो उपमेय का उपमान से और 'अभेद का भेद से' इत्यादि निगरण बता रहे हैं उन सबमें एक अनुगत धर्म नहीं है, अतः 'केवल निगरण' के कारण उनको एक अलंकार नहीं कहा जा सकता। इसका उत्तर यदि आप यह दें कि 'उक्त निगरणों में से अन्यतम (कोई एक) होना' यह उनका अनुगत रूप हो सकता है तो यह उचित नहीं, क्योंकि जब चमत्कार में विलक्षणता है, तब 'उनमें से अन्यतम होना' इतना मात्र कह देने से कुछ सिद्ध नहीं होगा। कारण, यदि ऐसा ही है तो आप अतिशयोक्ति का लक्षण या तो यह बनाइए कि 'उपमा रूपक आदि (जिनमें किंचित् भी अतिशयोक्ति रहती है उन) में से अन्यतम होना' अथवा 'सभी अलंकारों में से अन्यतम होना' (क्योंकि अतिशयोक्ति का थोड़ा बहुत संबंध तो सर्वत्र रहता ही है) और कह देना कि उपमादिक तो अतिशयोक्ति के ही भेद हैं। अतः यह सब गड़बड़ ही है।

यदि आप कहें कि—उक्त भेदों को अतिरिक्त अलंकार मानने में गौरव दोष होगा तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ किसी अकल्पित

पदार्थ की कल्पना नहीं करनी है कि जिससे गौरव हो। यह तो आपको भी स्वीकृत है ही कि 'अलंकार उन्हें कहते हैं जो प्रधान (रस आदि व्यंग्यों) को उत्कृष्ट करें'। ऐसी दशा में अतिरिक्त अलंकार भी उन्हीं में रहेगा—कोई नई वस्तु तो बन नहीं जायगा, फिर 'गौरव' किस बात का। रही अलंकारों को विभक्त करनेवाली उपाधि ('उपमात्व' आदि) की गणना, सो वह पुरुषों द्वारा कल्पित है, अतः जैसे इतने बनाये गए वैसे यदि कुछ और बना लिये जायँ तो क्या दोष हो गया। सो यहाँ गौरव की कोई बात नहीं।' यह भी कहते हैं।

दृढ़ाध्यवसानातिशयोक्ति

गगनचरं जलबिम्बं कथमिव पूर्णं वदन्ति विद्वांसः।
दशरथचत्वरचारी हृज्ज्वरहारी विधुस्तु परिपूर्णः॥

विद्वान् लोग आकाश में घूमनेवाले जलमय बिंब को न जाने कैसे पूर्ण (चंद्रमा) कहते हैं ? पूर्णचंद्रमा तो दशरथ के आँगन में विचरने वाला है, जो हृदय के संताप को हरण करता है।

इत्यादिक में स्वाभाविक विषयी (चन्द्र) के अपह्नव करने के कारण **दृढाध्यवसाना अतिशयोक्ति** होती है।

कुवलयानंद का खंडन

और जो कुवलयानंद में—

"यद्यपह्नवगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता।
त्वत्सूक्तिषु सुधा राजन् भ्रान्ताः पश्यन्ति तां विधौ॥

यदि अतिशयोक्ति के गर्भ में अपह्नुति हो तो वह अतिशयोक्ति सापह्नवा कही जाती है; जैसे कि—हे राजन्, सुधा तुम्हारी सूक्तियों में रहती है, चंद्रमा में तो उसे भ्रांत लोग देखते हैं।"

इस जगह पर्यस्तापह्नुतिगर्भा अतिशयोक्ति कही गई है। सो यह विचारणीय है, क्योंकि पर्यस्तापह्नुति का अपह्नुति होना प्रामाणिक पुरुषों को संमत नहीं है—यह पहिले ही निवेदन किया जा चुका है।

और जो कि उन्हीं ने कहा है—

"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्।
सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम्॥

असंबन्ध में संबंध की कल्पना को अतिशयोक्ति कहते हैं; जैसे इस पुर के महलों में शिखर चन्द्रमण्डल का स्पर्श करते हैं।"

सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि इसी पद्य में 'स्पृशन्ति विधुमण्डलम्' के स्थान पर 'स्पृशन्तीन्दुमवेण्डलम्—मानो चन्द्रमण्डल का स्पर्श करते हैं' यह कर दिया जाय तो बतलाइये कौन अलंकार होगा? इसका उत्तर होगा 'उत्प्रेक्षा', तो आप ही के हिसाब से यहाँ 'इव' आदि के अभाव के कारण गम्योत्प्रेक्षा होनी चाहिए; क्योंकि 'इव' आदि होने पर जो वाच्योत्प्रेक्षा होती है वही 'इव' आदि के अभाव में गम्योत्प्रेक्षा होती है—यह नियम सर्वसंमत है। दूसरे,

"त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्।

घूमने से थकी हुई तुम्हारी कीर्ति स्वर्ग-गङ्गा में प्रविष्ट हो गई।"

इस तुम्हारी लिखी गम्योत्प्रेक्षा में और 'सौधाग्राणि······' उदाहरण में जो उत्प्रेक्षा का अंश है उन दोनों में कोई भिन्नता भी नहीं पाई जाती। देखिए, 'त्वत्कीर्त्तिः······' इस उपर्युक्त श्लोक में 'अत्यन्त दूर जाने' रूपी अथवा 'स्वर्ग पहुँचने' रूपी विषय में 'स्वर्ग-गङ्गा-प्रवेश' रूपी विषयी की तादात्म्योत्प्रेक्षा है—यह सिद्धान्त माना जाय तो यह अनुपात्तनिमित्ता है, क्योंकि यहाँ 'स्वर्ग से सम्बन्ध रखना' रूपी निमित्त

नहीं लिखा गया है और यदि यह माना जाय कि 'कीर्त्ति'रूपी विषय में 'स्वर्गगङ्गा जिसका कर्म है उस प्रवेश रूपी क्रिया के कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा है, तो भी अनुपात्तनिमित्ता है, क्योंकि उसका निमित्त 'स्वर्गगमन' भी यहाँ नहीं लिखा है और, यदि विशेषण रूप में आए 'भ्रमण से श्रान्त होने' रूपी हेतु की उत्प्रेक्षा है—यह माना जाय तो यह उपात्तनिमित्ता है, क्योंकि उसका निमित्त 'स्वर्गगमन से अभिन्न रूप में अध्यवसित 'स्वर्ग-गङ्गा-प्रवेश' रूपी धर्म यहाँ स्पष्टतया वर्णित है।

इन तीनों प्रकारों में से कोई भी प्रकार मानो, पर है सर्वथा गम्योत्प्रेक्षा ही।

अब लीजिए आप के 'सौधाग्राणि······' इस उदाहरण को, यहाँ यदि 'अत्यन्त ऊंचे प्रदेश के संयोग' रूपी विषय में 'चंद्रमण्डल के स्पर्श' रूपी विषयी की तादात्म्योत्प्रेक्षा मानी जाय तो अनुपात्तनिमित्ता है, क्योंकि इसका निमित्त 'अत्यन्त ऊंचे प्रदेश में रहना' यहाँ वर्णित नहीं है और यदि 'सौधाग्र' रूपी विषय में 'चन्द्रमण्डल के स्पर्शरूपी क्रिया के कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा मानी जाय तो भी अनुपात्तनिमित्ता है, क्योंकि उसका निमित्त 'अत्यन्त ऊंचे प्रदेश का संयोग' यहाँ वर्णित नहीं है। अतः यह भी गम्योत्प्रेक्षा ही है।

इस लिए संबंधातिशयोक्ति का उदाहरण ऐसा देना चाहिये जिसमें उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो, जैसे कि हमारा 'धीरध्वनिभिः······' यह उदाहरण है।

एक स्मरण रखने की बात

इस अतिशयोक्ति के लक्षण के प्रसंग में भी 'सुन्दर होने पर जो अन्य को उपस्कृत करे वह अलंकार कहलाता है' इस अलंकार के साधारण लक्षण को न भूलना चाहिये। तात्पर्य यह कि केवल अध्यवसानमात्र से अतिशयोक्ति अलंकार नहीं होता, किन्तु उसमें सुन्दरता भी होनी

चाहिये, अन्यथा वह अलङ्कार नहीं कहलाता, किन्तु केवल अतिशयोक्ति कहलाती है।

अतिशयोक्ति की अतिप्राचीनता

यह अतिशयोक्ति वेदों में भी पाई जाती है; जैसे—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

दो पक्षी हैं जो साथ रहनेवाले मित्र हैं एवं एक ही वृक्ष से चिपटे हैं, उनमें से एक पीपल के स्वादिष्ठ फल को खाता है और दूसरा न खाता हुआ भी तेजस्वी है।"

(यहाँ जीव और अन्तर्यामी का 'दो पक्षियों' द्वारा, देह का 'वृक्ष' के द्वारा और कर्मफल का 'पीपल के फल' द्वारा निगरण किया गया है।)

स्मृति (भगवद्गीता) में भी देखी जाती है; जैसे—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी

जो सब प्राणियों की रात्रि है उसमें संयमी जगता है।"

(यहाँ 'अज्ञान' का रात्रि के द्वारा और 'बोध' का जागने द्वारा निगरण है) इत्यादि।

अतिशयोक्ति की ध्वनि

अब इसकी ध्वनि का उदाहरण लीजिये—

देव! त्वद्दर्शनादेव लीयन्ते पुण्यराशयः।
किं चादर्शनतः पापमशेषमपि नश्यति॥

भक्त भगवान् से कहता है—हे देव, आप के दर्शन से ही पुण्य की राशियों का प्रलय हो जाता है और अदर्शन से निश्शेष पाप नष्ट हो जाता है।

सुख से भोग के पुण्य का नाश होता है और दुःख के भोग से पाप का—यह सिद्धांत है। तदनुसार यहाँ 'दर्शन' द्वारा 'दर्शन से उत्पन्न सुख का और 'अदर्शन' द्वारा अदर्शन से उत्पन्न दुःख का और 'राशि' तथा 'निश्शेष' शब्दों द्वारा उन सुख-दुःखों का 'सैकड़ों जन्मों में उपभोग्य होना' आक्षिप्त होता है; अतः यहाँ 'अनेक जन्मों में भोगने योग्य सुखों' के द्वारा 'दर्शन-जन्य सुख' का और 'अनेक जन्मों में भोगने योग्य दुःखों' के द्वारा 'अदर्शन-जन्य दुःखों' का निगरण अभिव्यक्त होता है।

यदि आप कहें कि यहाँ 'दर्शन से उत्पन्न सुख' द्वारा 'सैकड़ों जन्मों में भोगने योग्य सुख का और 'अदर्शन से उत्पन्न दुःख' के द्वारा 'सैकड़ों जन्मों में उपभोग्य दुःखों' का निगरण ही क्यों न मान लिया जाय तो इसका उत्तर यह है कि 'पुण्यराशि' और 'निश्शेष पापों' का नाश 'समग्र जन्मों में भोगने योग्य सुखों और दुःखों' के द्वारा ही हो सकता है, अतः वैसा उलटा निगरण यहां नहीं हो सकता। दूसरे, यह भी एक नियम है कि उपमान महान् होना चाहिए और उपमेय क्षुद्र, अतः उपमेय में महत्ता उत्पन्न करने के लिए महान् उपमान द्वारा क्षुद्र उपमेय का निगरण उचित होता है—इस हिसाब से भी 'सैकड़ों जन्मों में उपभोग्य सुख और दुःख' उपमान होते हैं, क्योंकि वे बहुत बड़े—अनंतकाल व्यापी—हैं और 'दर्शन' तथा 'अदर्शन' से उत्पन्न सुख और दुःख उपमेय होते हैं, क्योंकि वे—अल्पकालव्यापी हैं—इस लिए हमारा कथन ही ठीक है।

इससे 'तदप्राप्तिमहादुःख·········(चतुथ उल्लास ८१-८२) इत्यादि काव्य प्रकाश के उदाहरण की भी व्याख्या हो जाती है।

तुल्ययोगिता

लक्षण

केवल प्रकृतों का अथवा केवल अप्रकृतों का गुण, क्रिया आदि रूपी एक धर्म में अन्वय तुल्ययोगिता कहलाती है।

लक्षण का विवेचन

इस अलङ्कार में उपमा व्यंग्य रहती है, क्योंकि इसमें उपमा को सिद्ध करनेवाले समानधर्म (गुण क्रिया आदि) का ग्रहण तो रहता है और उपमा का वाचक ('इव' आदि) शब्द नहीं रहता। इसी से यह जाना जाता है कि **आलङ्कारिकों के मत में भी 'सादृश्य साधारण धर्मरूप नहीं है, किन्तु अतिरिक्त पदार्थ है'**; अन्यथा यहाँ उपमा के गम्य होने की उक्ति नहीं बन सकती।

कुछ लोगों का कथन है कि सकल 'सादृश्यों' में रहनेवाला 'सादृश्यत्व' धर्म ही अतिरिक्त है और 'सादृश्य' तो भिन्न भिन्न साधारणधर्मरूप ही है। वह सादृश्यत्व 'इव' आदि पदों का शक्यतावच्छेदक है, इसलिए उन साधारण धर्मों के वाचक शब्दों द्वारा उन-उन साधारण धर्मों के अपने-अपने शक्यतावच्छेदक धर्मों के रूप में बोध हो जाने पर भी सादृश्यत्व-रूप से बोध व्यञ्जना द्वारा ही होता है, इसलिए सादृश्य को व्यंग्य कहा गया है।

(इस मत में अरुचि है और उसका कारण यह है कि अन्त में जाकर जब 'सादृश्यत्व' को अतिरिक्त पदार्थ मानना ही पड़ा, तब 'अन्ते रण्डा विवाहश्चेदादावेव कुतो न हि = अर्थात् विधवा यदि बुढापे में विवाह करे तो पहिले ही क्यों न करले' इस न्याय के अनुसार सादृश्य को ही क्यों न अतिरिक्त पदार्थ मान लिया जाय।)

उदाहरण

प्रिये ! विषादं जहिहीति वाचं प्रिये सरागं वदति प्रियायाः ।
वारामुदारा विजगाल धारा विलोचनाभ्यां मनसश्च मानः ॥

'हे प्रिये, आप विवाद छोड़ दीजिए' इस तरह प्यारे के प्रेम-सहित कहते ही प्रिया के दोनों नेत्रों से अश्रुओं की बड़ी धारा और मन से मान दोनों गिरे ।

यहाँ मानिनी का वर्णन किया जा रहा है । इस कारण उससे संबंध रखनेवाले अतएव प्रकृत, 'गिरे' रूपी क्रिया के कर्त्ता, 'अश्रु' एवं 'मान' के समानधर्मरूप में 'गिरना' रूपी क्रिया ग्रहण की गई है और वही क्रिया 'नेत्र' और 'मन' रूपी अपादानों के भी समानधर्मरूप में है, क्योंकि सभी कारकों का क्रिया में अन्वय समान रूप से हुआ करता है ।

किन्तु इस तरह यद्यपि क्रियारूपी समानधर्म चारों (दो कर्त्ता और दो अपादान) का एक है, तथापि उपमा दो-दो की (कर्त्ताओं की और अपादानों की) ही प्रतीत होती है, न कि चारों की । कारण, 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस न्याय के अनुसार समानधर्म का पर्यवसान क्रिया से संबंध रखनेवाले उसके 'अपादानत्व' और उसके 'कर्तृत्व' रूपी विशेषों में जाकर ही होता है । इस विषय की विशेष बातें शास्त्रान्तर से समझनी चाहिए । (यहाँ उनके विस्तार के लिए अवकाश नहीं है ।)

गुणरूप समान धर्म का उदाहरण; जैसे—

न्यञ्चति वयसि प्रथमे समुदञ्चति किञ्च तरुणिमनि सुदृशः ।
उल्लसति कापि शोभा वचसां च दृशां च विभ्रमाणां च ॥

प्रथम अवस्था (बाल्यावस्था) के हटते समय और युवावस्था के आरम्भ होते समय सुनयनी के वचन, नेत्र और विलासों की अनिर्वचनीय शोभा उल्लसित हो रही है।

यहाँ 'शोभा' रूपी गुण समानधर्म के रूप में आया है। किन्तु यदि इसका उत्तरार्ध

"विलसन्त्यहमहमिकया वाचो गतयश्च विभ्रमाश्च भृशम्।

(अर्थात् वाणी, गति और विलास एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर अत्यन्त विलसित हो रहे हैं।)

यों बना दिया जाय तो (विलसित होना रूपी) क्रिया समानधर्म रूप हो जाती है। और यदि

"दधति स्म मधुरिमाणं वाचो गतयश्च विभ्रमाश्च भृशम्।"

(अर्थात् वाणी, गति और विलास अत्यन्त मधुरता को धारण करते हैं।)

यों बना दिया जाय तो (मधुरतारूपी) गुण से युक्त ('धारण करना रूपी क्रिया' समान धर्म रूप हो जाती है। क्योंकि इस पद्य में केवल गुण (मधुरता) के साथ वाणी आदि का साक्षात् अन्वय नहीं होता और केवल क्रिया (धारण करना) चमत्कारी नहीं है।

अप्रकृतों की तुल्ययोगिता; जैसे—

न्यञ्चति बाल्ये सुदृशः समुदञ्चति गण्डसीम्नि पाण्डिमनि।
मालिन्यमाविरासीद्राकाधिप-लवलि-कनकानाम्॥

सुनयनी के बालकपन के हटते समय और कपोल प्रदेश में गुराई के उभरते समय पूर्ण चन्द्र, हरफा रेवडी और सोने में मलिनता प्रकट हो गई।

-यहाँ 'मलिनता' रूपी 'गुणरूप समानधर्म' है, क्योंकि 'प्रकट होने' रूपी क्रिया का 'पूर्ण चन्द्र'—आदि धर्मियों के साथ साक्षात् अन्वय नहीं है और 'मलिनता' रूपी गुण का उनके साथ साक्षात् अन्वय है।

उक्त पद्य का उत्तरार्ध यदि—

"न्यञ्चति राकाधिपतिर्लवली पुरटं च पुण्डरीकं च।"

(अर्थात् पूर्ण चन्द्रमा, हरफारेवड़ी, सोना और श्वेतकमल नीचे हुए जा रहे हैं।) यों कर दिया जाय तो क्रियारूप समानधर्म हो जायगा। इसी तरह यदि

"धवलीभवत्यनुदिनं लवली, कनकं, कलानिधिश्चायम्॥"

(अर्थात् प्रतिदिन हरफारेवड़ी, सोना और यह (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला) चन्द्रमा सफेद हुए जा रहे हैं।)

यों कर दिया जाय तो गुणयुक्त क्रिया समानधर्मरूप हो जाती है।
केवल **शब्दरूप समानधर्म** वाली तुल्य योगिता; जैसे—

त्वयि पाकशासनसमे शासति सकलं वसुन्धरावलयम्।
विपिने वैरिवधूनां वर्षन्ति विलोचनानि च दिनानि॥

इन्द्र के समान आपके समग्र पृथ्वीमण्डल का शासन करते समय बैरियों की स्त्रियों के नेत्र और दिन दोनों 'वर्षन्ति' (बरस रहे हैं + वर्ष हुए जा रहे हैं)।

यहाँ न तो कोई ऐसा गुण है, न क्रिया, जो नेत्र और दिन दोनों का साधारण धर्म बन सके; अतः यहाँ केवल 'वर्षन्ति' इस शब्द को समान धर्म रूप मानना पड़ता है। अथवा 'वर्षन्ति' शब्द का श्लेष-

मूलक समुदायात्मक अर्थ, जो कि एक शब्द से प्रतिपादित होने के कारण अभिन्नरूप मान लिया गया है, समानधर्म हो सकता है।

'अलङ्कार-सर्वस्व' और 'कुवलयानन्द' का खण्डन

तुल्ययोगिता का लक्षण लिखते हुए 'अलंकार-सर्वस्व'–कार ने "गुण और क्रिया से संबद्ध होने पर" और उसके अनुगामी कुवलयानन्द-कारने "गुण और क्रिया रूपी एक धर्म में अन्वय" यह लिखा है, सो ये दोनो ही लेख आपाततः-हैं—सुविमृष्ट[1] नहीं है; क्योंकि—

"शासति त्वयि हे राजन्नखण्डावनिमण्डलम्।
न मनागपि निश्चिन्ते मण्डले शत्रुमित्रयोः॥

१—नागेश कहते हैं—"वैयाकरणों का मत है' कि 'जाति क्रिया और द्रव्य के अतिरिक्त सभी धर्म गुण हैं' इस मत से यहाँ लिखा गया है, अतः गुणों में अभाव का भी समावेश है। दूसरे, 'किञ्चित् भी निश्चिंत नहीं हैं' यहाँ 'चिंतारहित से भिन्न है' यह भिन्नता 'चिंता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अतः यहाँ भी गुण ही साधारणधर्म है—यह कहा जा सकता है।"

पर ये दोनों ही समाधान अकिंचित्कर है। एक तो वैयाकरणों के मतानुसार गुणशब्दार्थ अलंकार शास्त्र में गृहीत नहीं है। दूसरे, अभाव का अभाव मानकर, 'चिंता गुण' का अन्यव मानना भी मरहमपट्टी मात्र है, क्योंकि अलंकारता के लिए शाब्द अन्वय भी अपेक्षित है, अभाव का अभाव मानकर अन्वय करने में कोई चमत्कार नहीं रहता। अतः 'गुण और क्रिया को धर्म मात्र का उपलक्षण मानना' ही उचित है; जैसा कि ग्रंथकार का मत है।—अनुवादक

- हे राजन्, आपके अखण्ड अवनिमण्डल के शासन करते समय शत्रु और मित्र दोनों के मण्डल किंचित् भी निश्चिन्त नहीं है। (शत्रु भय से चिंतित हैं और मित्र प्राप्त के रक्षार्थ।

यहां अभावरूप धर्मका ही अन्वय है, न कि गुण-क्रिया रूपी धर्म का।

अथवा (इन लोगों के मत में) 'गुण और क्रिया ये दोनों धर्म धर्ममात्र के उपलक्षण हैं'—ऐसा मानना चाहिए। इस तरह

"एकस्त्वं दानशीलोऽसि प्रत्यर्थिषु तथार्थिषु।

अर्थात् आप अकेले ही शत्रु तथा याचक दोनों के विषय में 'दान शील' (खण्डनशील वितरणशील) हैं।"

इत्यादिक में भी 'दानशील' रूपी एक में प्रकृतों का अन्वय होने के कारण तुल्ययोगिता के लक्षण की प्रवृत्ति हो जाती है; क्योंकि उक्तदृष्टि से तुल्ययोगिता होने के लिए 'किसी भी प्रकार अनेकों में एक वस्तु का चमत्कारी अन्वय' अपेक्षित है। अतः—

"हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
प्रदीयते पराभूतिर्मित्र शात्रवयोस्त्वया॥

हित और अहित में वृत्ति (रहने) की समानता को दूसरी तुल्य-योगिता कहते हैं; जैसे; आप मित्र और शत्रु दोनों को पराभूति (उत्कृष्ट ऐश्वर्य + पराभव) दान करते हैं।"

इत्यादि के द्वारा कुवलयानन्दकारने तुल्ययोगिता का जो दूसरा लक्षण बनाया है और उदाहरण दिया है वह परास्त हो जाता है। कारण, यह भेद भी—

"वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता।

अर्थात् प्रकृत और अप्रकृतों के धर्म की एकता को तुल्ययोगिता कहते हैं।"

इस पूर्वोक्त लक्षण में समाविष्ट[२] होजाता है, क्योंकि यहां एक आनुपूर्वी से बताई हुई वस्तु ('पराभूति') जिसका कर्म है उस 'दान' का

२—नागेस कहते हैं कि—"दोनों तुल्ययोगिताओं में भेद है। जहाँ हित और अहित के साथ व्यवहार की समानता की प्रतीति का चमत्कार हो वहाँ यह होती है और जहाँ यथोक्त धर्मियों के एक धर्म में अन्वय का चमत्कार हो वहाँ दूसरी होती है। 'प्रदीयते पराभूतिः' और 'यश्च निंबं परशुना०' इन पद्यों में पूर्वोक्त उदाहरण की अपेक्षा चमत्कार में भेद है, वहाँ केवल एकधर्मान्वय के कारण चमत्कार है और यहाँ हित अहित के साथ शुभ अथवा अशुभ किसी एक के कर्ता के व्यवहार के कारण ही चमत्कार है—इसमें सहृदयों का हृदय प्रमाण है।"

यों शपथ दिलाकर कहते हैं—"अतएव 'जगाल मानो हृदयादमुष्या विलोचनाभ्यामिव वारिधारा—इस (नायिका) के हृदय से मान गिरने लगा, जैसे कि नेत्रों से जलधारा' इत्यादि में तुल्ययोगिता नहीं है और 'चंद्रइव सुंदरं मुखम्'—इत्यादि में दीपक नहीं है, क्योंकि वहाँ सादृश्यकृत चमत्कार ही है। कहा जायगा कि तब 'प्रदीयते पराभूतिः' और 'यश्च निंबं परशुना' इत्यादि में कोई अन्य अलंकार ही कहना चाहिए तो यह सत्य है। इसी अस्वरस के कारण तो कुवलयानंदकार ने 'इयं सरस्वती=कंठाभरणोक्ता यह सरस्वती=कंठाभरण में कही गई है' यह कहा है। कहा जायगा कि तुल्ययोगिता में सादृश्य गम्य होता है, अतः गम्योपमा से ही निर्वाह हो जायगा, यह उचित नहीं क्योंकि यहाँ केवल उतने ही के कारण चमत्कार नहीं है, एक धर्म के अन्वय के कारण भी चमत्कार है, दूसरे सादृश्य यद्यपि यहाँ प्रतीत होता है तथापि उसका साधारणधर्म सुंदर नहीं होता, अतः वह सुन्दर नहीं है।"

पात्र होने रूपी धर्मकी, अथवा परम्परा से वैसे शब्दरूपी धर्मकी, किंवा पूर्वोक्त रीति से पिण्डित (संमिलित) अर्थरूपी धर्मकी एकता है।

कुवलयानन्दकारने इस भेद का दूसरा उदाहरण यह दिया है—

"यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः ॥

जो नीम को कुल्हाड़े से (काटता है) और जो इसे शहद और घी से (सींचता है) एवं जो इसे गन्ध पुष्प आदि से (पूजता है) सभी के लिए वह कड़ुआ है।

यहाँ भी 'कड़ुएपन से युक्त नीम' का ही परम्परया (अर्थात् 'नीम जिनका कर्म है उन क्रियाओं के आश्रयत्वरूपी संबंध के द्वारा काटने वालों, सींचनेवालों और पूजनेवालों के धर्मरूप में होना संभव है। अतः इस भेद को अतिरिक्त मानना व्यर्थ ही है।

इतना लंबा लिखकर भी नागेश कोई बलवती युक्ति द्वारा यह नहीं दिखला सके कि यहाँ 'एकधर्मान्वयकृत चमत्कार नहीं है'। केवल सहृदयों के हृदय पर यह सब छोड़ दिया गया, पर विचारणीय विषय यह है कि जब यह उदाहरण भी उक्त लक्षण से आक्रांत है तो फिर पृथक् भेद क्यों बनाया जाय। इसका उत्तर कुछ नहीं। रही 'जगाल मानो'० तुल्ययोगिता और 'चंद्र इव सुन्दरं मुखम्' में दीपक न होने की बात। सो वहाँ तो स्पष्ट प्रतीत होनेवाले सादृश्य का अपलाप कैसे किया जा सकता है। अतः यह सब पंडितराज की प्रत्येक बात को काटने और अप्पय दीक्षित के समर्थन की धुनमात्र ही है।—अनुवादक

धर्म के संबंध में

इस विषय में इतना और समझ लेना चाहिए कि यहाँ धर्म का धर्मियों में रहना वृत्तिनियामक संबंध के द्वारा विवक्षित नहीं है— अर्थात् तुल्ययोगिता के लिए 'धर्म की समानता होना' मात्र पर्याप्त है, वह धर्म जिस संबंध से एक धर्मी में रहता है उसी से दूसरे धर्मी में भी रहता है अथवा नहीं यह विचार अनावश्यक है; क्योंकि ऐसा न मानने से आगे लिखे जाने वाले 'वसु दातुं यशो धातुम्' इत्यादि कारक-तुल्ययोगिता आदि के उदाहरणों में इस लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

तुल्ययोगिता और दीपक को अतिरिक्त अलङ्कार क्यों माना जाता है ?

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'एक धर्म में अन्वयमात्र' का नाम तुल्ययोगिता है तो 'चाँद-सा सुंदर मुख' इत्यादि उपमालङ्कार के उदाहरणों में, चन्द्रमा और मुख आदि का एक धर्म में अन्वय होने के कारण, तुल्ययोगिता के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी।

अब यदि आप इसका उत्तर यह दें कि तुल्ययोगिता वहीं होती है जहाँ केवल प्रकृतों या केवल अप्रकृतों का ही एक धर्म में अन्वय हो, सो वह बात यहाँ है नहीं; क्योंकि उक्त उदाहरण में मुख प्रकृत है और चन्द्रमा अप्रकृत, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर भी "प्रिये विवादम्" इस पूर्वोक्त पद्य का उत्तरार्ध

"जगाल मानो हृदयादमुष्या विलोचनाभ्यामिव वारिधारा।

अर्थात् जैसे आँखों से जल की धारा वैसे ही इसके हृदय से मान भी गिर गया।"

इस प्रकार बना देने पर 'मान और जल की धारा' इन दोनों प्रकृतों की उपमा में अतिव्याप्ति हो जायगी। रहा 'चाँद-सा सुंदर मुख' सो यहाँ भी आगे कहे जाने वाले दीपकालङ्कार के लक्षण की तो अतिव्याप्ति हो ही जायगी।

इस आपत्ति को हटाने के लिए यदि आप कहें कि तुल्ययोगिता और दीपक के लक्षणों में 'उपमा के गम्य होने पर' इतना और बढ़ा दिया जाना चाहिए, तो भी निर्वाह नहीं; क्योंकि।

"चन्द्रांशुनिर्मलं वारि चन्द्रो हंससमद्युतिः।
हंसास्तु शरदि स्मेरपुण्डरीकमनोरमाः॥

अर्थात् शरद्ऋतु में जल चन्द्रकिरणों के समान निर्मल, चन्द्रमा हंसों के समान कान्तिमान् और हंस खिले हुए श्वेत कमल के समान मनोहर हो जाते हैं।"

ऐसे स्थलों में वाचक शब्द ('इव' आदि) के अभाव से जो गम्योपमा होती है उसमें फिर भी अव्याप्ति रहेगी ही।

अब यदि यह सूक्ष्म विचार किया जाय कि यहाँ उपमा व्यङ्ग्य नहीं है, किन्तु (वैयाकरणों के हिसाब से) समास द्वारा वाच्य अथवा (नैयायिकों के हिसाब से) पूर्व पद द्वारा लक्ष्य है; तथापि।

"हंसास्तु मानसभुवश्चन्द्रा एव न संशयः।

मानसरोवर में उत्पन्न होनेवाले हंस तो चंद्रमा ही हैं—इसमें संदेह नहीं।'

इत्यादिक रूपक—आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी। इस विषय में यदि आप यह कहें कि चन्द्र-आदि पदों के 'चन्द्रादिसादृश्ययुक्त' अर्थ में लक्षित होने के कारण उपमा लक्ष्य ही है तो कह नहींस कते। कारण, पहले ही बताया जा चुका है कि रूपक में (नवीनों के मतानुसार) लक्षणा नहीं होती, अतः तुल्ययोगिता को अतिरिक्त अलङ्कार सिद्ध नहीं किया जा सकता।

तो इसका समाधान यह है कि जहाँ यथोक्त धर्मियों का यथोक्त धर्म में अन्वयमात्र चमत्कारी हो और धर्मी केवल प्रकृत हों अथवा केवल अप्रकृत हों तो तुल्ययोगिता और यदि प्रकृत अप्रकृत दोनों प्रकार के धर्मी हों तो दीपक होता है; परन्तु जहाँ धर्म का अन्वय तो हो किन्तु वह स्वयं चमत्कारी न होकर उसके कारण होनेवाला सादृश्य अथवा अभेद चमत्कारी हो वहाँ उपमा अथवा रूपक आदि ही होते हैं; क्योंकि 'सुन्दरता होने पर उपस्कारक होना' अलङ्कारता का प्रयोजक है यह बार बार कहा जा चुका है। अन्यथा जैसे आप उपमा, रूपक आदि में तुल्ययोगिता अथवा दीपक की अतिव्याप्ति बताते हैं वैसे इन दोनों में सादृश्य की प्रतीति होने के कारण सादृश्य को लेकर उपमा का व्यवहार भी होने लगेगा। अतः जहाँ जिसका चमत्कार हो वहाँ उसी का व्यवहार करना चाहिए यह है इस सबका संक्षेप।

तुल्ययोगिता के भेद

इस तरह तुल्य योगिता के अतिरिक्त सिद्ध हो जाने पर अब उसके भेद सुनिए।

रशनारूप तुल्ययोगिता

दधीचिबलिकर्णेषु हिमहेमाचलाब्धिषु।
अदातृत्वमधैर्यं च दृष्टे भवति भासते॥

हे राजन्, आपके देख लेने पर दधीचि, बलि और कर्ण में, एवं हिमालय, सुमेरु और समुद्र में अदातृत्व और अधैर्य प्रतीत होता है।

इत्यादि उदाहरणों में रशनारूप तुल्ययोगिता है; क्योंकि यहाँ दधीचि के समान बलि और बलि के समान कर्ण इत्यादिक की रशनारूप में प्रतीति होती है। यह तुल्ययोगिता यथासंख्य (अलंकार) से उपोद्बलित है; क्योंकि पहली तिकड़ी में 'अदातृत्व' का और दूसरी में 'अधैर्य' का क्रमशः अन्वय होता है।

अलङ्काररूप तुल्ययोगिता

दृष्टः सदसि चेदुग्राश्चन्द्रचन्दनचन्द्रिकाः।
अथ त्वं संगरे सौम्याः शेषकालानलाब्धयः॥

यदि आपको सभा में देखा तो चन्द्रमा चन्दन और चन्द्रिका भी उग्र दिखाई देते हैं; और यदि युद्ध में देखा तो शेष, प्रलयानल और प्रलय का समुद्र भी सौम्य दिखाई देते हैं।

यहाँ 'उग्रत्व' और 'सौम्यत्व' रूपो दो समानधर्मों के रूप में स्थित तुल्ययोगिता 'राजविषयक रति' रूपा 'भाव' को भूषित कर रही है, अतः अलङ्काररूप है।

कारकतुल्ययोगिता

जहाँ केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत क्रियाओं का एक कारक में अन्वय होता है वहाँ कारकतुल्ययोगिता होती है; जैसे—

वसु दातुं यशो धातुं, विधातुमरिमर्दनम्।
त्रातुं च सकलां पृथ्वीमतीव निपुणो भवान्॥

आप धन देने में, यश स्थापित करने में, शत्रुओं का मर्दन करने में और सारी पृथ्वी की रक्षा करने में अत्यन्त निपुण हैं।

इस राजा की प्रशंसा के वाक्य में सब प्रकृत क्रियाओं का एक कर्त्ता है, वही साधारणधर्मरूप बनकर उनके सादृश्य की प्रतीति करवाता है।

अथवा जैसे—

दूरीकरोति कुमतिं, बिमलीकरोति
चेत, श्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ॥
भूतेषु किञ्च करुणां बहुलीकरोति
सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥

सत्पुरुषों का संग कुमति को दूर करता है, चित्त को विमल करता है, पुराने पाप को नष्ट करता है और प्राणियों पर दयाको बढ़ाता है। वह किस मङ्गल को विस्तृत नहीं करता ?

यहाँ **कारकतुल्ययोगिता अर्थान्तरन्यास से युक्त है;** क्योंकि यहां 'कुमति को दूर करने' आदि विशेषों का 'किस मङ्गल को विस्तृत नहीं करता' इस सामान्य के द्वारा समर्थन किया गया है।

केऽपि स्मरन्त्यनुसरन्ति च केचिदन्ये
पश्यन्ति पुण्यपुरुषाः कति च स्पृशन्ति ।
मातर्मुरारिचरणाम्बुजमाध्वि ! गङ्गे !
भाग्याधिकाः कतिपये भवतीं पिबन्ति ॥

हे भगवान् के चरण कमल के मकरन्दरूप गङ्गे ! कुछ लोग आप का स्मरण करते हैं, दूसरे आपका अनुसरण करते हैं, कुछ पुण्यात्मा

पुरुष आप के दर्शन करते हैं, कितने ही स्पर्श करते हैं और कुछ भाग्यशाली पुरुष आप का पान करते हैं।

इस कारक तुल्ययोगिता में 'एक कर्म' क्रियाओं के साधारण-धर्मरूप में आया है।

व्यङ्ग्य तुल्ययोगिता; जैसे—

> अये लीलाभग्नत्रिपुरहरकोदण्डमहिमन्!
> कथा यत्रोदञ्चत्यतुल्यबलधैर्यस्य भवतः।
> अयं को वा तत्र प्रसृमरफणाकोणनिहित-
> क्षितिः शेषः श्रीमान् कमठकुलचूडामणिरपि॥

हे लीला से ही शिव-धनुष के महत्त्व को नष्ट कर देनेवाले (राम)! जहाँ अतुलित बल और धैर्य वाले आप की कथा उठ खड़ी होती है वहां जिन के विस्तृत फण के कोने पर पृथ्वी रक्खी हुई है वह शेष, और श्रीमान् कच्छप-कुल-शिरोमणि भी भला कौन हैं?

यहां 'भला कौन हैं' इस उक्ति से 'गिनती में न होना' रूपी व्यंग्य प्रतीत होता है; क्योंकि 'गिनती में न होना' यह अर्थ न तो 'भला कौन हैं' इस वाक्यांश का वाच्य अर्थ है, न लक्ष्य। इस व्यंग्य धर्म का अप्रकृत शेष और कच्छप के साथ अन्वय प्रतीत होता है, अतः यह व्यंग्य तुल्ययोगिता है।

तुल्ययोगिता समाप्त

———

दीपकालङ्कार

लक्षण

प्रकृत और अप्रकृतों का एक साधारणधर्म में अन्वय दीपक कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

इस अलङ्कार को दीपक इसलिए कहा जाता है कि इस में 'प्रकृत' (धर्मी) के लिए ग्रहण किया हुआ धर्म प्रसंगवशात् अप्रकृत को भी दीपित अर्थात् प्रकाशित करता है। तात्पर्य यह कि सुन्दर बना देता है। अथवा 'दीपक' शब्द का अर्थ होता है दीप के सदृश। यहां 'संज्ञायां कन्' (५।३।२७) इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार 'कन्' प्रत्यय होता है। इस अलङ्कार में दीप से सदृशता इस लिए है कि यह प्रकृत और अप्रकृत दोनों को प्रकाशित (सुशोभित) करता है।

उदाहरण

अमृतस्य चन्द्रिकाया ललितायाश्चापि कवितायाः।
सुजनस्य च निर्माणं जनयति न हि कस्य संतोषम् ॥

अमृत का, चन्द्रिका का, ललित कविता का एवं सज्जन का निर्माण किस को संतोष उत्पन्न नहीं करता ?

यह तो हुआ **गुणरूप समानधर्म** का उदाहरण।

अब क्रिया का उदाहरण सुनिए—

सुधायाश्चन्द्रिकायाश्च संजीविन्या महौषधेः।
दयादृष्टेश्च ते राजन् ! विश्वसंजीवनं गुणः ॥

हे राजन्, अमृत का, चन्द्रिका का, संजीविनी महौषधि का और तुम्हारी दया दृष्टि का समग्र जगत् को जीवन दान करना गुण है ।

अथवा, जैसे—

मृतस्य लिप्सा, कृपणस्य दित्सा, विमार्गगायाश्च रुचिस्वकान्ते
सर्पस्य शान्तिः, कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा ॥

मरे हुए में लाभ की इच्छा, कृपण में दान की इच्छा, व्यभिचारिणी में अपने पति पर प्रीति, सर्प में शान्ति और कुटिल में मित्रता विधाता की सृष्टि में आज दिन तक नहीं देखी गई ।

यहां **अभाव** साधारण धर्म है ।

दीपक और तुल्ययोगिता का भेद

यदि धर्मियों में से कोई एक प्रकृत हो और अन्य अप्रकृत हों तो दीपक होता है और यदि सब या तो केवल प्रकृत हों या केवल अप्रकृत, तो तुल्ययोगिता होती है ।

एक स्मरण रखने की बात

जहाँ क्रिया साधारणधर्मरूप होती है वहाँ इतनी बात और याद रखनी चाहिए कि उस पद्य में जितने कर्त्ता, कर्म, अधिकरण आदि कारकों का संनिधान हो उनका अपने सजातीय अन्य कारक से तुल्ययोगिता अथवा दीपक पृथक्-पृथक् ही होता है । अर्थात् जहाँ एक पद्य में जितने भिन्न-भिन्न कारक हों वहाँ उतनी ही तुल्ययोगिताएँ अथवा उतने ही दीपक माने जाने चाहिए । इसका कारण है उन कारकों से व्यङ्ग्य उपमाओं का पृथक्-पृथक् प्रतीत होना जैसे—

सुजनाः परोपकारं, शूराः शस्त्रं, धनं कृपणाः ।
कुलवत्यो मन्दाक्षं प्राणात्यय एव मुञ्चन्ति ॥

सज्जन परोपकार को, शूर शस्त्र को, कृपण धन को और कुलाङ्गनाएं लज्जा को प्राण छूटने पर ही छोड़ते हैं।

यहाँ कर्त्ता और कर्म के दो भिन्न-भिन्न दीपक हैं। इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले "लावण्येन प्रमदाः" इस जगह कर्त्ता और करण का एवं "दिवि सूर्यः" इस जगह कर्त्ता और अधिकरण का दीपक होता है।

कारकदीपक

इसी हिसाब से अनेक क्रियाओं का एक कारक में अन्वय होने पर कारकदीपक कहलाता है। जैसे—

वसु दातुं, यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातुं च मादृशान् राजन्नतीव निपुणो भवान् ॥

हे राजन्, आप धन देने के लिए, यश स्थापित करने के लिए, शत्रुओं का मर्दन करने के लिए और मेरे से लोगों की रक्षा करने के लिए अत्यन्त निपुण हैं।

यहाँ किसी जीविकाहीन दीन के वचन में 'धन दान करना' और 'अपनी रक्षा करना' इन दो प्रकृत क्रियाओं का और 'शत्रुमर्दन' रूपी अप्रकृत क्रिया का, तथा 'यश स्थापित करने रूपी प्रकृताप्रकृत क्रिया का 'कर्त्ता कारक' साधारणधर्म रूप में आया है।

अथवा जैसे—

वासयति हीनसत्त्वानतिसत्त्वानुद्धतान् विवासयति ।
त्रासयति सकलशत्रून् नीतिविदामग्रणीर्नराधिपतिः ॥

जो राजा नीतिज्ञों में प्रधान होता है वह राजा निर्बलों को बसाता है, प्रबल और उद्धतों को उजाड़ता है और सब शत्रुओं को त्रस्त करता है।

यहाँ किसी राजा के प्रति निर्बल की, अथवा किसी प्रबल को न सह सकनेवाले की, यद्वा किसी शत्रु से पीडित की उक्ति में जो सामान्य-विशेष रूप अप्रस्तुत प्रशंसा है उसमें एक क्रिया प्रकृत है और अन्य क्रियाएँ अप्रकृत। उनमें 'राजा' रूपी 'कर्त्ताकारक' साधारणधर्म रूप में आया है।

किन्तु यदि यह उक्ति पूर्वोक्त वक्ताओं से भिन्न किसी राजा की स्तुति मात्र करनेवाले की अथवा केवल राजनीति का बोध करानेवाले की मानी जाय तो क्रियाओं के प्रकृताप्रकृतरूप में न होने से तुल्ययोगिता ही होगी, दीपक नहीं।

काव्यप्रकाश पर विचार

अब काव्यप्रकाशकार ने जो

"सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥

अर्थात् प्रकृत-अप्रकृत रूप धर्मियों के धर्म का एक बार ग्रहण करना एक दीपक कहलाता है और अनेक क्रियाओं में एक कारक का एक बार ग्रहण करना द्वितीय दीपक कहलाता है।"

यह लक्षण कह कर

'स्विद्यति, कूणति, वेल्लति, विवलति,
निमिषति, विलोकयति तिर्यक्।

अन्तर्नन्दति, चुम्बितुमिच्छति
नवपरिणया वधूः शयने ॥

नवविवाहिता वधू शय्यापर प्रस्विन्न होती है, संकुचित होती है, आलिङ्गन करती है, करवटें बदलती है, आँखें मूँदती है, तिरछा देखती है, मन-ही-मन प्रसन्न होती है एवं चुम्बन करना चाहती है।"

यह द्वितीय दीपक का उदाहरण दिया है—इस पर विचार किया जाता है—

यहाँ एक तो प्रथम लक्षण से ही दोनों दीपकों का संग्रह हो जाने के कारण दूसरा लक्षण व्यर्थ है; क्योंकि जिस तरह गुणियों और कारकों के गुण और क्रियारूपी धर्म का एक बार ग्रहण होता है उसी तरह गुण और क्रियारूपी धर्मियों के 'कारक' रूपी धर्म का एक बार ग्रहण यहाँ स्पष्ट है। फिर दूसरा लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर यदि आप यह दें कि क्रियाओं के प्रकृताप्रकृत न होने पर—अर्थात् क्रियाओं के केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत होने पर भी जहाँ कारक का एक बार ग्रहण हो वहां दीपक ही समझा जाना चाहिए, तुल्ययोगिता नहीं, और जहाँ धर्मी क्रिया से भिन्न हों वहाँ धर्मियों के प्रकृताप्रकृत रूप होने पर एवं क्रियादिक धर्म का एक बार ग्रहण होने पर ही दीपक माना जाना चाहिए—इस विलक्षणता के कारण दो लक्षण लिखे गये हैं। तो यह ठीक नहीं। कारण, इस तरह कारक तुल्ययोगिता का उच्छेद हो जायगा, जो कि सब आलङ्कारिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दूसरे, ऐसा मानने में एक यह भी दोष है कि दीपक के इन दोनों लक्षणों का अनुगम न हो सकेगा—अर्थात् इन दोनों लक्षणों में ऐसी

कोई समानता नहीं पाई जासकेगी कि जिसके कारण इन दोनों को एक अलङ्कार के लक्षण माने जायँ। इस आपत्ति को मिटाने के लिए 'उक्त दोनों भेदों में से अन्यतर (एक) होना दीपक का लक्षण है'—यह कहा जाय तो एक तो गौरव दोष होगा, दूसरे अतिशयोक्ति में लिखित रीति के अनुसार बखेड़ा खड़ा हो जायगा कि तब फिर अन्य अलंकारों को भी दीपक का ही भेद अथवा दीपक को ही अन्य किसी अलंकार का भेद क्यों न मान लिया जाय। अतः इस द्वितीय भेद को प्रथम लक्षण के अन्तर्गत मानना ही उचित है।

अच्छा, अब जब इस तरह यह सिद्ध हो गया कि दीपक प्रकृताप्रकृतों का ही होता है, केवल प्रकृतों अथवा केवल अप्रकृतों का नहीं, तब उक्त उदाहरण पर विचार करिए कि 'स्विद्यति कूणति···' इत्यादि दीपक का उदाहरण भी असंगत है, क्योंकि यहाँ क्रियाएँ केवल प्रकृत ही हैं—वे प्रकरणप्राप्त नायिका से ही संबंध रखती हैं। फिर यहाँ दीपक कैसे हो सकता है।

अब रही तुल्ययोगिता। सो सूक्ष्म विचार करने पर वह भी यहाँ नहीं हो सकती; क्योंकि सभी अलङ्कारिकों का यह सिद्धान्त है कि दीपक और तुल्ययोगिता का जीवनमूल व्यङ्ग्य उपमा है और उक्त उदाहरण में वह प्रतीत नहीं होती। कारण यद्यपि यहाँ स्वेदन, कूणन, आदि का एक कारक में अन्वय है तथापि उनकी सदृशता दिखाना कवि के संरंभ का विषय नहीं है। इसलिए यहाँ समुच्चय अलङ्कार की छाया [1] उचित है, न कि तुल्ययोगिता।

१—उक्त श्लोक में समुच्चयवाचक 'च' शब्द के न होने के कारण समुच्चय न लिखकर समुच्चय की छाया लिखी गई है।

रही हमारे उदाहरणों की बात। सो वहाँ 'वसु दातुम्...' तथा 'वासयति हीनसत्त्वान्...' इन दोनों पद्यों में 'धन देना' तथा 'निर्बलों को बसाना' इत्यादि धर्मों की, जिनका कि राजा कर्त्ता है, परस्पर उपमा प्रतीत होती है इस बात को सहृदयों के हृदय से पूछ देखिए; इसलिए प्रतिबन्दी देने का अवसर नहीं है।

इतने पर भी यदि आपका 'स्वेदन-आदि में भी सादृश्य की प्रतीति होती ही है' यह आग्रह हो, तो क्रियाओं के केवल प्रकृत होने के कारण तुल्ययोगिता कथंचित् हो सकता है, न कि दीपक; अतः अब इस विषय में विशेष लिखना व्यर्थ है।

'विमर्शिनी' पर विचार

और जो विमर्शिनीकारने

> "आलिङ्गितुं शशिमुखीं च सुधां च पातुं
> कीर्तिं च साधयितुमर्जयितुं च लक्ष्मीम्।
> त्वद्भक्तिमद्भुतरसां हृदये च कर्तुं
> मन्दादरं जनमहं पशुमेव जाने॥

जो मनुष्य शशिमुखी का आलिङ्गन करने में, अमृत पान करने में, कीर्ति सिद्ध करने में, लक्ष्मी उपार्जन करने में और अद्भुत रसवाली तुम्हारी (ईश्वर की) भक्ति हृदय में लाने में मन्दादर है उसको मैं पशु ही जानता हूँ।"

यह उदाहरण देकर लिखा है कि "यहाँ आलिङ्गन—आदि अनेक क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में एक ही जन का निर्देश किया गया है।" सो यह भी विचारणीय है, क्योंकि आलिङ्गनादि क्रियाओं का मन्दादरता के द्वारा एक आश्रय होने पर भी अर्थात् कर्त्ता के विशेषण

'मन्दादर' शब्द में सब क्रियाओं का 'आश्रयता' संबन्ध से अन्वय होने पर भी इन सब क्रियाओं का एक ही कर्त्ता हो यह आवश्यक नहीं है। कारण, जो शशिमुखी का आलिङ्गन करने में, जो अमृत पान करने में, जो कीर्तिसाधन करने में, जो लक्ष्मी अर्जन करने में और जो तुम्हारी भक्ति करने में मन्दादर है उन सभी मनुष्यों को मैं पशु जानता हूँ'— इस तरह पूर्वोक्त क्रियाओं के भिन्न-भिन्न कर्त्ता होने पर भी बात बन सकती है। अतः यहां पर 'एक कारक में अन्वय के कारण क्रियाओं का सादृश्य चमत्कारी है' यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु यहां जो चमत्कार है वह शशिमुखी, सुधा, कीर्त्ति, लक्ष्मी और भक्ति इनके बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण ही है। दूसरे, यहां सब क्रियाओं का एक कर्त्ता मानने से अर्थ की परिपुष्टि भी नहीं होती, प्रत्युत प्रतिकूलता ही है; क्योंकि सबको पशु बताने की अपेक्षा 'उन सब क्रियाओं के करने में जिसका आदर मन्द है उस अकेले' को पशु बनाने की उक्ति रमणीय नहीं है।

इतने पर भी यदि 'विमर्शिनीकार की उक्ति का अवश्य ही समर्थन करना चाहिए'—यह आग्रह हो तो इस तरह करिए। उक्त क्रियाओं का कर्त्ता एक न होने पर भी कर्तृता के अवच्छेदक धर्म 'मन्दादरत्व' के एक होने से और परम्परासंबन्ध से 'मन्दादरत्व' के ही उक्त अनेक क्रियाओं के साधारणधर्मरूप होने से 'धर्म' का एक बार ग्रहण सिद्ध हो जाता है, इसलिए दीपकालङ्कार मानने में दोष नहीं, क्योंकि जैसे कारक के एक बार ग्रहण करने से कारकदीपक माना जाता है वैसे यह भी परिभाषा बनाई जा सकती है कि 'कारक का विभाजक उपाधि के अवच्छेदक के एक बार ग्रहण' को भी कारक-दीपक माना जाय। किन्तु फिर भी कारक के एक बार ग्रहण करने का उदाहरण तो हमारे अनुसार ही होना चाहिए, विमर्शिनी-कार के अनुसार नहीं।

तुल्ययोगिता से दीपक अतिरिक्त नहीं है

यहां यह समझ लेना भी उचित होगा कि तुल्ययोगिता से दीपक का पृथक् होना बनता नहीं है, क्योंकि 'धर्म' के एक बार ग्रहण करने के कारण जो चमत्कार होता हैं उसका इन दोनों में कोई भेद नहीं है। और यह सिद्धान्त है कि चमत्कार की विलक्षणता ही अलंकारों के विभाग का हेतु है। यदि आप कहें कि धर्म के एक बार ग्रहण करने के कारण भेद न होने पर भी, तुल्ययोगिता में धर्मियों के केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत ही होने के कारण और दीपक में प्रकृत-अप्रकृत दोनों रूपों में होने के कारण भेद हो सकता है। तो यह उचित नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर आपके हिसाब से भी तुल्ययोगिता में धर्मियों के केवल प्रकृत और केवल अप्रकृत होने रूपी दो भेदों के कारण दो पृथक्-पृथक् अलङ्कार होने लगेंगे। आपके पास इस बात का कोई उत्तर नहीं कि जब प्रकृताप्रकृतता के लिए पृथक् अलङ्कार माना जाय तो केवल प्रकृत के लिए एक और केवल अप्रकृत के लिए दूसरा क्यों न माना जाय? इसी तरह श्लेष में भी सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेष ये दो पृथक्-पृथक् अलङ्कार होने लगेंगे। इतना ही नहीं, किन्तु सभी अलङ्कारों में भेदों की विलक्षणता होने के कारण अलङ्कारों की भी विलक्षणता हो जायगी।

अब यदि यह कहें कि दीपक में वस्तुतः उपमा व्यङ्ग्य है, क्योंकि प्रकृत का उपमेय और अप्रकृत का उपमान होना मानी हुई बात है; और तुल्ययोगिता में उपमा का व्यङ्ग्य होना केवल वक्ता की इच्छा के कारण ही मान लिया जाता है, क्योंकि केवल प्रकृतों अथवा केवल अप्रकृतों का उपमान-उपमेय होना वास्तव में बनता नहीं; इसलिए इन दोनों में विलक्षणता हो जायगी। तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उपमेय प्रकृत ही होना चाहिए और उपमान अप्रकृत ही—इसमें

कोई प्रमाण नहीं। यदि ऐसा माना जाय तो 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादिक उपमेयोपमा अलङ्कार में और प्रतीपालङ्कार में भी उपमा न हो सकेगी।

अतः तुल्योगिता के तीन भेद होना ही उचित है—१-प्रकृतों के ही धर्म का एक बार ग्रहण, २-अप्रकृतों के ही भेद का एक बार ग्रहण, ३-प्रकृत और अप्रकृत दोनों के धर्म का एक बार ग्रहण। इस तरह यह सिद्ध होता है कि तुलययोगिता से दीपक को पृथक् अलङ्कार बनाने में प्राचीनों ने केवल दुराग्रह ही किया है—यह है नवीन विद्वानों का कथन।

दीपक के भेद

इस अलङ्कार के तीन भेद बताये जाते हैं—१-गुणक्रियादिरूप धर्म के आदि में आने से, २-मध्य में आने से, और ३-अन्तमें आने से। जैसे—

न भाति रमणीयोऽपि वैराग्येण विना यतिः।
वैदुष्येण विना विप्रो नरलोकस्त्वया विना॥

(हे राजन्!) नहीं शोभित होता है बिना बैराग्य के सन्यासी, बिना विद्वत्ता के ब्राह्मण और बिना आपके मनुष्य लोक। (यहाँ न शोभित होना' रूपी धर्म पद्य के आदि में आया है।)

लावण्येन प्रमदा मदातिरेकेण वारणाधिपतिः।
भाति विभवेन भवकान् राजन्! भवता च वसुमतीवलयम्।

लावण्य से प्रमदा और मद की अधिकता से गजराज शोभित होता है; एवं रोश्वर्य से आप और आपसे भूमण्डल। (यहाँ शोभित होना रूपी धर्म मध्य में आया है।)

आखण्डलेन नाकः कुण्डलिकुलकुण्डलेन पातालम् ।
नरमण्डन ! रिपुखण्डन ! भवता भूमण्डलं विभातितमाम् ॥

इन्द्र से स्वर्ग, सर्प-समूह के कुण्डल से पाताल और हे नरमण्डन तथा हे रिपुखण्डन, आप से भूमण्डल अत्यन्त शोभित है (यहाँ 'शोभित होना' रूपी धर्म अन्त में आया है।)

इसी तरह तुल्य योगिता में भी तर्कना करना चाहिए।

उक्त भेदों का खण्डन

वास्तव में तो धर्म के आदिगत, मध्यगत और अन्तगत होने पर भी चमत्कार की विलक्षणता का अभाव होने से ये तीन भेद मानना गम्भीर विचार से शून्य हैं, अन्यथा धर्म के उपादिगत, उपमध्यगत और उपान्तगत होने से भी और उससे कुछ इधर-उधर होने के कारण भी अनन्त भेद बनाये जा सकते हैं।

अन्य भेद

इस तरह केवल अनुगामी साधारणधर्म होने पर दीपक का उदाहरण दिया गया है बिम्बप्रतिबिम्बभाव से भी यह हो सकता है। जैसे—

शीलभारवती कान्ता पुष्पभारवती लता ।
अर्थभारवती वाणी भजते कामपि श्रियम् ॥

सदाचार-समूह से युक्त कान्ता, पुष्प-समूह से युक्त लता और अर्थ-समूह से युक्त वाणी अनिर्वचनीय शोभा को प्राप्त होती है।

इसी उदाहरण को यों भी कह सकते हैं—

लता कुसुमभारेण शीलभारेण सुन्दरी।
कविता चार्थभारेण श्रयते कामपि श्रियम्।

ये ही दोनों पद्य लतादिक में से किसी एक के प्राकरणिक होने पर दीपक के उदाहरण हैं, अन्यथा तुल्ययोगिता के।

यहाँ इतना और समझ लीजिए कि बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के उदाहरणों में 'केवल क्रियारूपी अनुगामी धर्म' चमत्कार का कारण नहीं होता, किन्तु 'बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप पुष्पादिक से मिश्रित' ही वह चमत्कारजनक होता है। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि उपमादिक अलङ्कारों की सिद्धि अनुगामी धर्म से रहित केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से भी हो सकती है, जैसे 'कोमलातपशोणाभ्र.. (४०) इत्यादि उदाहरणों में; किन्तु दीपक और तुल्ययोगिता में वैसा नहीं हो सकता; क्योंकि अनुगामी के बिना दीपक और तुल्ययोगिता के स्वरूपाधायक धर्म का स्वरूप ही नहीं बन पाता। कारण, केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बमात्र होने से धर्म का एक बार ग्रहण संभव नहीं।

इसी तरह 'मृतस्य लिप्सा (पृ० ४२५) इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में एवं 'वसु दातुम्...(पृ० ४२६) इत्यादि कारकदीपक तथा कारकतुल्ययोगिता के उदाहरणों में जहाँ कि क्रियाएँ धर्मीरूप हैं, क्रियाओं में अन्वित होनेवाले 'धन' आदि का बिम्बप्रतिबिम्बभाव समझना चाहिए।

मालादीपक

जहाँ पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर में उपकारक हो वहाँ मालादीपक होता है, जैसे—

आस्वादेन रसो, रसेन कविता, काव्येन वाणी, तया
लोकान्तःकरणानुरागरसिकः सभ्यः सभा चामुना।

दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधर !
क्षोणीनाथ ! तया भवांश्च भवता भूमण्डलं भासते ॥

हे दारिद्र्यरूपी अग्नि से जलती हुई पृथ्वी के लिए अमृत के मेघरूप पृथ्वीनाथ ! आस्वादन से रस, रस से कविता, कविता से वाणी, वाणी से मनुष्यों के हार्दिक प्रेम के रसिक सभ्यपुरुष, ऐसे पुरुष से सभा, सभा से आप और आपसे भूमण्डल शोभित होता है ।

यह उदाहरण हमने केवल प्राचीनों के अनुरोध से दिया है। वस्तुतः तो इसे दीपक कहा ही नहीं जा सकता; क्योंकि यहां सादृश्य का संपर्क हो नहीं है। किन्तु इसे एकावली का भेद कहा जाना चाहिए—यह हम आगे बतावेंगे ।

तुल्ययोगिता और दीपक के दोष

(१) इन दोनों अलंकारों में **क्रियादिक धर्मों का धर्मियों में एक रूप से अन्वित न होना** दोष है। उपर्युक्त पद्य में 'लोकान्तःकरणानुरागरसिकः सभ्यः सभा चामुना' इस द्वितीय चरण के स्थान पर यदि 'लोकान्तःकरणानुरागरसिकाः साभाजिकास्तैः सभा' यों बना दिया जाय तो 'भासते' क्रिया का एकवचनान्त धर्मियों के साथ एकरूपता से अन्वय होनेपर भी 'सामाजिकाः' इस बहुवचनान्त धर्मी के साथ अन्वय नहीं हो सकता ; और वचन बदलकर अन्वय करने पर भी उपमा की तरह यहाँ दोष रहेगा ही ।

(२) इसी तरह ऐसे प्रातिपदिकार्थ (संज्ञा अथवा विशेषण) रूपी धर्म के, जिसका विशेष्य के अनुसार लिंग बदल सके, एक बार ग्रहण करनेपर **लिङ्गभेद होना** भी दोष है। जैसे—

जगति नरजन्म, तस्मिन् वैदुष्यं, तत्र सत्कविता।
कवितायां परिणामो दुष्प्रापः पुण्यहीनेन ॥

पुण्यहीन को जगत में मनुष्यजन्म, मनुष्यजन्म में विद्वत्ता, विद्वत्ता होनेपर सत्कविता और सत्कविता में परिणाम (परिपाक) दुर्लभ है।

यहाँ (संस्कृत में) 'दुष्प्रापः' यह पुल्लिंग प्रातिपदिकार्थ स्त्रीलिंग नपुंसकलिंग विशेष्यों के साथ उसी रूप में अन्वित नहीं हो सकता। यदि यहाँ 'दुष्प्रापः पुण्यहीनेन' के स्थान पर 'तपसा नाल्पेन शक्यते लब्धुम्' इस तरह तिङन्त का प्रयोग कर दिया जाय तो दोष नहीं रहता (क्योंकि संस्कृत में तिङन्त क्रियाओं में लिङ्गभेद नहीं है।)

किन्तु यह दोष एकलिङ्गी प्रातिपादिकार्थ के एक बार ग्रहण करने में नहीं होता, क्योंकि उसमें अन्य लिंग होता ही नहीं। जसे उक्त पद्य का चतुर्थ चरण 'फलमतिशयितं तपस्यायाः' यों बना देने पर।

(३) इसी तरह पुरुष की एकरूपता न होना भी दोष है, जैसे-

दिवि सूर्यो भुवि त्वं च पाताले पन्नगाग्रणीः।
दिक्षु दिक्पालवर्गश्च राजपुङ्गव! राजते ॥

हे राजश्रेष्ठ, स्वर्ग में सूर्य, पृथ्वी पर तुम, पाताल में शेष और दिशाओं में दिक्पालसमूह शोभित होता है।

यहाँ 'राजते' इस क्रिया का (संस्कृत में), जो कि प्रथम पुरुष है, 'त्वम्' के साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि उसके साथ मध्यम पुरुषवाली क्रिया होनी चाहिए। किन्तु यहाँ यदि 'त्वम्' के स्थान पर 'भवान्' कर दिया जाय तो कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि उसके साथ प्रथम पुरुष होता है।

(४) इसी तरह काल के भेद में भी समझना चाहिए ।

उक्त कारणों से—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत् समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः, शरैररिशिर, स्तेनापि भूमण्डलम्,
तेन त्वम्, भवता च कीर्त्तिरतुला, कीर्त्या च लोकत्रयम् ।।

हे देव, सुनिए, संग्रामांगण में आकर आपके धनुष चढ़ाने पर जिस जिसने जो-जो प्राप्त किया, धनुष ने वाण, याणों ने शत्रु का शिर, शत्रु के शिर ने भूमण्डल, भूमण्डल ने आप, आपने कीर्ति और कीर्त्ति ने तीनों लोक ।

यह प्राचीनों का पद्य दीपक के अंश में भी दोषयुक्त ही है, क्योंकि यहां क्रिया के लिंग, वचन आदि न बदलने पर अन्वय नहीं हो सकता ।

दीपकालङ्कार समाप्त ।

प्रतिवस्तूपमालङ्कार

लक्षण की उत्थानिका

यह पहले लिखा जा चुका है कि 'जहाँ सादृश्य चमत्कारी होता है वहाँ उपमा होती है' और उपमा में साधारणधर्म के सभी प्रकार भी यथासंभव निरूपण किये जा चुके हैं। इतना ही नहीं, सादृश्य से उपस्कृत अन्य वस्तु के चमत्कारी होने पर भेदप्रधान और अभेदप्रधान अलङ्कार भी निरूपण किये जा चुके हैं, एवम् उनमें साधारणधर्मों की स्थिति भी प्रसंगानुसार यथासंभव दिखाई जा चुकी है। सारांश यह कि अब तक जिनमें सादृश्य प्रधान अथवा अप्रधान रूप से रहता है वे अलङ्कार और उनमें साधारणधर्मों की स्थिति का यथेष्ट वर्णन किया जा चुका है, जिसका दुहराना यहाँ निरर्थक है। अब उन धर्मों में से वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न साधारणधर्म द्वारा उठाई जाने वाली एवं वाक्यार्थ (मात्र) में रहने वाली प्रतिवस्तूपमा का निरूपण किया जाता है—

उपमा से भिन्नता

इस विषय में यह भ्रम न करना चाहिए कि यह अलङ्कार केवल वाक्यार्थगत होने के कारण ही उपमा से भिन्न है—अर्थात् उपमा और प्रतिवस्तूपमा में केवल इस तरह भेद नहीं समझ लेना चाहिए कि 'प्रतिवस्तूपमा वाक्यगत होती है और उपमा वाक्यगत नहीं होती'; क्योंकि '**दिवि भाति यथा भानुस्तथा त्वं भ्राजसे भुवि**—अर्थात् जैसे आकाश में सूर्य शोभित होता है वैसे आप पृथ्वी पर प्रकाशमान हो रहे हैं' इत्यादिक वाक्यार्थ में भी उपमा हो सकती है। अतएव उपमा और प्रतिवस्तूपमा में यह विलक्षणता भी नहीं बतलाई जा सकती कि 'उपमा में समानधर्म एक ही शब्द द्वारा ग्रहण किया जाता है और

प्रतिवस्तूपमा में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा'; क्योंकि उपमा के उक्त उदाहरण में 'भाति' और 'भ्राजते' इन भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा एक ही धर्म का बोध स्पष्ट है। इस लिए अन्य अलङ्कारों से प्रतिवस्तूपमा की विलक्षणता (आगे लिखे जाने वाले) लक्षण के अनुसार ही समझना चाहिए।

लक्षण बनाने के विषय में विचार

अच्छा, अब यह सोचिए कि प्रतिवस्तूपमा का लक्षण क्या होगा? यदि 'वाक्यार्थगत उपमात्व' इसका लक्षण माना जाय तो उपर्युक्त वाक्यार्थोपमा में अतिव्याप्ति हो जाती है और यदि उसमें 'अर्थप्राप्त' यह विशेषण और लगा दिया जाय तो भी दृष्टान्तालङ्कार में अतिव्याप्ति हो जाती है। हां, यदि 'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारणधर्म वाली' यह विशेषण और बढ़ा दिया जाय तो काम बन सकता है, किन्तु यदि इस विषय में यह शङ्का की जाय कि—

"तावत् कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोपि रसालः समुल्लसति॥

हे कोकिल, तब तक अन्य वन में रहकर इन नीरस दिवसों को बिताओ जब तक जिस पर भौंरों के झुंड मँडरा रहे हों ऐसा कोई आम का वृक्ष विकसित नहीं होता।'

इस अप्रस्तुतप्रशंसा में अतिव्याप्ति हो जायगी। तो यह ठीक नहीं; क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव का, जो कि भिन्न शब्दों द्वारा एक अर्थ के ग्रहण के रूप में होता है, होना संभव नहीं है। कारण, वहाँ एक वाक्य से दो भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है, न कि दो भिन्न-भिन्न शब्दों से एक अर्थ की।

अतः प्रतिवस्तूपमा का लक्षण यह बनता है कि—

लक्षण

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारण धर्मवाले दो वाक्यार्थों की अर्थप्राप्त उपमा को प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

**'आननं मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम्।
भ्रमद्भ्रमरसंभारं स्मरामि सरसीरुहम्॥**

नायक कहता है—चंचल अलकों से आच्छादित मृगशावकनयनी के मुख को देख कर जिसपर भौरों के झुंड भ्रमण कर रहे हों ऐसे कमल को स्मरण करने लगता हूँ।'

इस स्मरणालंकार में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए उपमा का 'वाक्यार्थगत' होना बताया गया है; क्योंकि यहाँ उपमा अर्थप्राप्त होने पर भी पदार्थगत ही है, वाक्यार्थगत नहीं। कारण, यहाँ स्मरण का उपमानोपमेयभाव से संपर्क* नहीं तात्पर्य यह है। कि जहाँ दोनों

---

* इसका अभिप्रायः यह है कि जिस प्रकार 'दिवि भाति यथा भानुस्तथा त्वं भाति वै भुवि' इस वाक्यार्थोपमा में यह बोध होता है कि आकाश जिसका अधिकरण है और भानु जिसका कर्त्ता है ऐसी शोभा से विशिष्ट पृथ्वी जिसका अधिकरण है और तू जिसका कर्त्ता है वह शोभा'; और विशिष्टता का नियामक संबन्ध है (तेरी शोभा का) 'अपने (आकाशवर्ती शोभा के) कर्त्ता के समान कर्त्तावाली होना' और इस संबन्धविशेष के तात्पर्यग्राहक हैं वहां पर 'यथा' 'तथा' शब्द; (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार उक्त शाब्दबोध में उपमानोपमेयभाव में

वाक्यों (उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य) में आए हुए सब पदों की समानता हो वही प्रतिवस्तूपमा होती है, पर इस उदाहरण में स्मरण

शोभा का अन्तर्भाव है) वैसे 'आननं मृगशावाक्ष्याः०' इस उदाहरण में स्मरण के अन्तर्भाव से उपमानोपमेयता नहीं बनती, किन्तु 'जिस पर भौंरे मँडरा रहे हैं वैसे कमल के समान चंचल अलकों से आवृत मृगनयनी का मुख' यही शाब्दबोध है। इस बोध में स्मरण का कहीं भी अन्तर्भाव है नहीं, अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा नहीं है। अतएव शरदागम (कुवलयानन्द की टीका) के कर्त्ता ने यह लिखा है कि— 'जहाँ दोनों वाक्यों में आए हुए सब पदार्थों की परस्पर समानता हो वहीं प्रतिवस्तूपमा होती है—जहाँ वाक्य का एक भी पद साम्य से छूट जाता हो, वहाँ नहीं।"

कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त वाक्यार्थोपमा में 'वैसी (उक्त विशेषणों से विशिष्ट) शोभा के आश्रय भानु के सदृश ऐसी (उक्त विशेषणों से विशिष्ट) शोभा का आश्रय तू है' यह सीधा ही बोध क्यों नहीं मान लिया जाता। तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि (यथा शब्द और तथा शब्द क्रियाविशेषण हैं और) क्रियाविशेषण प्रथमान्त के अर्थ का विशेषण होकर अन्वित नहीं हो सकता। अतः पूर्वोक्त शाब्द बोध करना पड़ता है।

यहां इतना समझ लीजिए कि प्रतिवस्तूपमा में तो वैसा संबन्ध-द्योतक पद ('यथा' 'तथा' आदि) रहता नहीं, अतः उपमा गम्य ही होती है। यही वाक्यार्थोपमा और प्रतिवस्तूपमा में भेद है।

—नागेश

इस सब ग्रन्थ को बिना समझे ही भट्ट जी ने नागेश पर जो आक्षेप किया है वह उपेक्षणीय है।

—अनुवादक

का वाक्यार्थ के उपमानोपमेय भाव से सम्बन्ध न होकर केवल एक पदार्थ 'सरसीरुह' से संबंध है, अतः यहां प्रतिवस्तूपमा नहीं है। रहे लक्षणके अन्य पद, सो उनका कृत्य तो ऊपर बताया ही जा चुका है।

उदाहरण

आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता-
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति।

उदाराशयों का शिरोमणि पुरुष आपत्ति पड़ने पर अपूर्व उदारता को विस्तृत करता है। चौतरफ से अग्नि के मध्य में आया हुआ काला अगर अलौकिक सुगंध प्रकट करता है।

यहां 'विस्तृत करना' और 'प्रकट करना' दोनों की वस्तुतः एक-रूपता अभिमत है।

अथवा जैसे—

विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानां
रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव।
लोकम्पृणैः परिमलैः परिपूरितस्य
कालागुरोः कठिनताऽपि नितान्तरम्या॥

जो विश्वविमोहक गुणों के गौरव से गुम्फित होते हैं उन निर्मलबुद्धि पुरुषों का रोष भी रमणीय ही होता है। संसार को परिपूर्ण करने वाली महक से भरे काले अगर की कठिनता भी अत्यन्त मनोहर होती है।

यह प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य से भी होती है; जैसे—

वंशभवो गुणवानपि संगविशेषेण पूज्यते पुरुषः ।
न हि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥

उत्तमकुल में उत्पन्न और गुणवान् पुरुष भी संगविशेष के कारण पूजा जाता है। तुम्बीफल से रहित वीणा का दण्ड महत्त्व को प्राप्त नहीं होता।

अथवा जैसे—

गोभिर्गुरूणां परुषाक्षराभि-
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां
न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥

गुरुओं के कठोर अक्षरों वाले वचनों से तिरस्कृत पुरुष (ही) महत्त्व को प्राप्त होते हैं। शान पर घिसे बिना मणियां राजमुकुटों पर कभी नहीं चढ़ पाती हैं।

उक्त दोनों उदाहरणों में शब्दतः प्रतिपादित दृष्टान्त द्वारा, पहले, सामान्य रूप में व्यतिरेकी* साहचर्य अक्षिप्त होता है। (इसका अभिप्राय

---

* यह स्मरण रखना चाहिए कि 'किसी वस्तु के होने पर अन्य वस्तु का होना' उन दोनों का अन्वय और 'किसी वस्तु के न होने पर अन्य वस्तु का न होना' उन दोनों का व्यतिरेक कहलाता है। प्रथम प्रकार से साहचर्य बताने पर 'अन्वयी साहचर्य' और दूसरे प्रकार से साहचर्य बताने पर 'व्यतिरेकी साहचर्य' होता है।

यह है कि—यद्यपि प्रतिवस्तूपमा के प्रकृत और अप्रकृत दोनों भागों में 'विशेष' ('पुरुष' 'वीणादण्ड' आदि) का उल्लेख रहता है, तथापि जहाँ सामान्य नियम भी उल्लिखित हो और उसको व्यतिरेकी दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया हो, जैसे उक्त उदाहरण में 'संगविशेष के कारण पूजा जाता है' इस सामान्य नियम को 'तुम्बीफल से रहित वीणादण्ड महत्त्व को प्राप्त नहीं होता' इस व्यतिरेकी दृष्टान्त द्वारा; वहाँ पहले सामान्य नियम को भी व्यतिरेकी बना लेना चाहिए, जैसे उक्त सामान्य नियम को 'संग विशेष के विना पूजा नहीं जाता' इस रूप में, क्योंकि तभी नियम और दृष्टान्त की संगति बैठती है। और तब इस व्यतिरेकी साहचर्य के द्वारा 'संग विशेष के कारण पूजा जाता है' यह सामान्य अन्वय नियमसिद्ध हो जाता है, क्योंकि जब उसके अभाव में उसका अभाव (व्यतिरेक) सिद्ध है तो उसके होने पर उसका होना (अन्वय) भी सिद्ध है।)

इस तरह जब सामान्य से अवच्छिन्न नियम की सिद्धि हो गई तो फिर विशेष से अवच्छिन्न नियम की भी सिद्धि हो जाती है—अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि 'संगविशेष से ही 'वीणादण्ड' पूजा जाता है और संगविशेष से ही 'पुरुष'। क्योंकि यह नियम है कि '**यत्सामान्ययो-र्व्याप्तिस्तद्विशेषयोः**—अर्थात् जिनके सामान्यों की व्याप्ति होती है उनके विशेषो की भी व्याप्ति होती है।' इस तरह प्रकृत की अप्रकृत से संगति बैठ जाती है। प्रायः सभी वैधर्म्यके (व्यतिरेकी) दृष्टान्तों में यही स्थिति समझनी चाहिए, चाहे वह प्रतिवस्तूपमा हो, दृष्टान्त हो अथवा अन्य कुछ। यह तो हुई व्यतिरेकी दृष्टान्त वाले उदाहरण की बात।

किन्तु जहाँ अन्वय से प्रतिवस्तूपमा हो जैसे "आपद्गतः···इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों में। वहाँ भी जब कोई विशेष नियम प्रकृत वाक्य के अर्थ में समाविष्ट हो तो पहले अन्वय के (विशेष) दृष्टान्त द्वारा

सामान्यरूप में अन्वय नियम सिद्ध हो जाता है और उसके द्वारा विशेष अन्वय के नियम की सिद्धि होती है।

किन्तु यह बखेड़ा वहीं उठाना चाहिए, जहाँ प्रकृतवाक्यार्थ में सामान्य अथवा विशेष किसी प्रकार का नियम उल्लिखित हो। और जहाँ किसी प्रकार का नियम न लिखा हो किन्तु केवल दो विशेष वस्तुओं का ही वर्णन हो; जैसे—

"भैरभ्वे भासते चन्द्रो भुवि भाति भवान् बुधैः।

आकाश में नक्षत्रों से चन्द्रमा शोभित होता है, पृथ्वी पर विद्वानों से आप भासित होते हैं।" इत्यादिक में। तो वहाँ अप्रकृतवाक्य से निरूपित उपमा ही प्रतीत होती है, न कि नियम। कारण, वहाँ उसका बखेड़ा उठाना निष्प्रयोजन है—जब वक्ता ने उस बात को उठाया ही नहीं तो वहाँ तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि इस अलङ्कार में सर्वत्र उपमा को व्यंग्य क्यों कहा जाता है, जब कि पूर्वोक्त 'वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा' में दो वाक्यार्थों की उपमा बाधित हो रही है, क्योंकि 'पकाता है' और 'नहीं पकाता' इन दो वाक्यार्थों में केवल पाक क्रिया की समानता होने मात्र से उनकी उपमा प्रतीत नहीं होती। कारण, दूसरे वाक्य के अर्थ में क्रिया का निषेध किया जा रहा है, अतः उपमा प्ररूढ नहीं हो पाती। सो यह ठीक नहीं। कारण, ऐसे स्थलों में प्रकृत वाक्यार्थ के साथ उपमा नहीं मानी जाती किन्तु प्रकृत वाक्यार्थ से आक्षिप्त उसकी विपरीतता को ही उपमा का आश्रय माना जाता है।

अब यदि आप कहें कि ऐसा मानने पर आपने जो इस अलङ्कार में वाक्यार्थ की उपमा लिखी है वह कैसे संगत होगी? क्योंकि उससे विपरीत वाक्यार्थ तो यहाँ वर्णित है नहीं।

. इसका उत्तर यह है कि वाक्य से जो अर्थ अन्तिम रूप में प्रतीत होता है उसीको प्रकृत में वाक्यार्थरूप से मानना अभीष्ट है, न कि पुरःस्फूर्त्तिक वाक्यार्थ को। देखिये—

'तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ॥'

पृथ्वी पर काव्यों के अनिर्वचनीय तत्त्व को बिरला ही जानता है। भौंरे के सिवाय मकरन्द का मार्मिक कौन है?

यहाँ 'बिरला जानता है' इस प्रकृत वाक्य का अर्थ विधिप्रधान होने पर भी वह 'कुछ व्यक्तियों के अतिरिक्त नहीं जानते।' इस विशेष अर्थ को लेकर ही समाप्त होता है। इस तरह पर्यवसित निषेधरूप वाक्यार्थ का उसी रूप में अवगत अप्रकृत वाक्यार्थ के साथ सादृश्य स्पष्ट ही है और जहाँ पूर्वोक्त 'वंशभवः' इत्यादि उदाहरण में प्रकृत वाक्य का विधिरूप अर्थ 'पूजनादिक' में, 'सङ्गविशेष' रूपी हेतु की विधेयता के कारण विधिरूप में समाप्त होता है। वहाँ भी हेतुत्व को सिद्ध करने वाले गौण रूप में प्रतीत हो रहे, व्यतिरेकी सादृश्य की प्रतीति में कोई बाधा नहीं है। अतः कोई दोष नहीं।

प्रतिवस्तूपमा और अर्थान्तरन्यास का विषयभेद

यह प्रतिवस्तूपमा सामान्य-विशेषरूप में न आने वाले (अर्थात् केवल विशेष) वाक्यार्थों की ही होती है; क्योंकि ऐसे ही स्थल पर सादृश्य गम्य रहता है। सामान्य और विशेष में तो सादृश्य की प्रतीति न होने के कारण समर्थकता रहती है। ऐसे स्थलों में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है, जो आगे बताया जायगा।

कुवलयानन्द का खण्डन

और जो कुवलयानन्दकारने वैधर्म्य का उदाहरण दिया है—

"विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥

विद्वान् ही विद्वज्जन का परिश्रम जानते हैं। वन्ध्या स्त्री प्रसूति की बड़ी भारी वेदना को नहीं जानती।" तथा

"यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ॥

पुरुषों में यदि गुण होते हैं तो विकसित होते ही हैं। कस्तूरी की सुगन्ध शपथ से नहीं रोकी जाती।"

इन दोनों में से 'विद्वानेव हि जानाति' यह पद्य किसी प्रकार वैधर्म्य का उदाहरण चाहे हो भी जाय, किन्तु 'यदि सन्ति' यह तो वैधर्म्य का उदाहरण उचित नहीं, क्योंकि वैधर्म्य का अर्थ है 'किसी प्रस्तुत में उपारूढ वस्तु की दृढता के लिए उस अर्थ के द्वारा आक्षिप्त अपने व्यतिरेक के सजातीय अन्य धर्मी में आरूढ अप्रस्तुत अर्थ का कहना, जिसका सार यह है कि—जहाँ अप्रकृत अर्थ प्रकृत अर्थ के व्यतिरेक का सजातीय हो वहीं वैधर्म्य का उदाहरण हो सकता है। अच्छा, अब प्रस्तुत उदाहरण पर विचार करिए। "यदि हों तो स्वयं ही प्रकाशित होते हैं" इस प्रस्तुत अर्थ का व्यतिरेक यह होता है कि "यदि न हों तो उपायान्तर से भी प्रकाशित नहीं होते"। अब भला आप ही बताइये कि इस पद्य के उत्तरार्द्ध में ऐसा व्यतिरेक का सजातीय अर्थ कहां है? यहाँ तो 'स्वयं ही प्रकाशित होते हैं, दूसरे से नहीं' इस प्रस्तुत का सजातीय अर्थ ही लिखा गया है। कारण, 'शपथ से नहीं बताया जाता, किन्तु स्वयं ही प्रकट होता है' यह अर्थ प्रकृत अर्थ की अनुरूपता में ही समाप्त होता है, और वैधर्म्य में कभी भी प्रकृत के अनुरूप होना

बन नहीं सकता, क्योंकि तब वैधर्म्य का व्याघात हो जायगा। इसलिए यह उदाहरण साधर्म्य में ही उचित है वैधर्म्य में नहीं।*

---

*यहाँ यह विचारणीय है—यद्यपि 'विद्वानेव०' इस श्लोक में 'विद्वान् ही जानता है' इस 'एव (ही)' के बल से इसका अर्थ यह भी होता है कि 'अविद्वान् नहीं जानता' और यह अर्थ उत्तर-वाक्यार्थ ('वन्ध्या प्रसववेदना को नहीं जानती') का समानधर्मा (निषेधगर्भ) ही है, 'अतः यह वैधर्म्य का उदाहरण नहीं होता;' तथापि ('भूतल में वन्ध्यापुत्र नहीं है' इत्यादि अभाव-निदर्शक वाक्य के वैधर्म्य में) 'भूतल में ही वन्ध्यापुत्र है' इत्यादि प्रयोग भी होने लगेंगे, (जो होने न चाहिए) अतः उनके निवारणार्थ मानना पड़ता है कि जिनके भाव का अन्वय हो सके उन्हीं के वैधर्म्य का प्रयोग होता है, सो ऐसे प्रयोग में 'भाव का अन्वय' भी विवक्षित है—अर्थात् वैधर्म्यवाले वाक्य ऐसे होने चाहिए, जिनका भावान्वय हो सके, अतः (वैधर्म्य-निदर्शक वाक्य के स्थान पर सधर्मा वाक्य के प्रयोग में भी) कोई दोष नहीं, सो 'वन्ध्या नहीं जानती' इस वाक्य से आक्षिप्त 'प्रसव करनेवाली ही जानती है' इस वाक्य का अर्थ यहाँ उपमानरूप में विवक्षित है, अतः वैधर्म्य समझना चाहिए (यही समझकर तो पण्डितराज ने 'भवतु नाम यथा कथञ्चिद् वैधर्म्यस्योदाहरणम्' यह कहा है—अनुवादक), क्योंकि आक्षिप्त व्यतिरेक ('अविद्वान् नहीं जानता') के सजातीय अर्थ (वन्ध्या नहीं जानती) के लिखने पर जैसे ('विद्वान् ही जानता है का') वैधर्म्य प्रतीत होता है उसी प्रकार पद्य में गृहीत दो धर्मों (जैसे 'विद्वान् का जानना' और 'वन्ध्या का न जानना') में से किसी एक के सजातीय अर्थ के ग्रहण कर लेने पर उससे आक्षिप्त उसके व्यतिरेक से गृहीत उपमा के गम्य होने पर भी वैधर्म्य रहता है—अर्थात् यही नियम नहीं है कि प्रथमार्ध में लिखे के आक्षिप्त का ही व्यतिरेक रहे

अब यदि आप कहें कि यहाँ धर्मियों का सादृश्य होने पर भी 'विशेषणयुक्त दोनों वाक्यार्थों का सादृश्य' व्यंग्य नहीं है। तो यह भी

(सो यहाँ भी वैधर्म्य है); क्योंकि ऐसी स्थिति में भी गृहीत भावरूप अर्थ (विद्वान् ही जानता है) की, 'वन्ध्या नहीं जानती' इससे आक्षिप्त (प्रसव करनेवाली जानती है) के साथ उपमा की प्रतीति होती है। (कहने का तात्पर्य यह है कि 'स्वाक्षिप्तस्वव्यतिरेकसमान जातीयधर्म्मन्तरारूढ अप्रकृतार्थ का कथन' यहाँ (विद्वानेव० में) भी हो जाता है, अतः यह भी वैधर्म्य का उदाहरण हो सकता है।)

इसी प्रकार 'यदि सन्ति०' इस पद्य में भी 'गुण स्वयं प्रकाशित होते हैं' इस भावान्वय का विधर्मरूप है 'कस्तूरी की सुगन्ध शपथ से नहीं जानी जाती' यह वाक्यार्थ; उससे अक्षिप्त होता है '(कस्तूरी की सुगन्ध स्वयमेय प्रकाशित होती है)' यह वाक्यार्थ; उसका भावान्वय वाक्यार्थ (गुण यदि हैं तो स्वयं प्रकाशित होते हैं) के साथ उपमा समझनी चाहिए। (यह तो है एक समाधान)।

(पर यह सब मरहम पट्टीमात्र है, क्योंकि इस तरह वाक्यों को उलटकर आक्षिप्त अर्थ की समानधर्मता लाने पर तो सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जायगी—वैधर्म्य के उदाहरण साधर्म्य के और साधर्म्य के उदाहरण वैधर्म्य के होने लगेंगे—अनुवादक)

(अब दूसरा लीजिए—) अथवा 'यदि सन्ति०' इस पद्य में 'बिकसन्त्येव' इस 'एव' का, क्रिया के समीपवर्ती होने के कारण अत्यन्तायोगव्यवच्छेद ही अर्थ है—अर्थात् 'विकसन्त्येव' का अर्थ 'विकसित ही होते हैं' है, और 'दूसरे से प्रकाशित नहीं होते' इतना अंश आक्षेपलभ्य ही है—अर्थात् ऊपर से आता है। उनमें से द्वितीयार्ध में 'स्वतः प्रकाशित होते ही हैं' इस (पद्योक्त अर्थ) के सजातीय

ठीक नहीं। कारण (अपने अवयवों के सादृश्य के द्वारा) उन दोनों वाक्यार्थों का सादृश्यभी व्यंग्य हो ही जाता है। दूसरे, (हितप्रत्यूह

अर्थ का वर्णन नहीं है, किन्तु (इससे आक्षिप्त) 'दूसरे से प्रकाशित नहीं होते' इसके सजातीय अर्थ का वर्णन है।

और जो (रसगंगाधरकार ने उत्तरार्ध का) 'शपथ से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु स्वयमेव प्रकाशित होता है' यह अर्थ वर्णन किया है उसमें से 'स्वयमेव प्रकाशित होता है' यह अंश वाच्य (श्लोक में लिखा) नहीं है, किन्तु आक्षेपलभ्य है। सो आक्षेप द्वारा तो आप के वैधर्म्योदाहरण 'मार्मिकः को मरन्दानाम्' इसमें 'मधुव्रत (भौंरे) के विना कौन जानता है'—इससे भी 'मधुव्रत ही जानता है' यह अर्थ प्रतीत हो सकता है, तब वह भी वैयधिकरण्य का उदाहरण नहीं हो सकेगा।

(अत्यन्तायोगव्यवच्छेद को मूलकार ने उत्तरवाक्य से अनुगृहीत बताया है, अतः यह सब उपर्युक्त प्रपञ्च व्यर्थ है, अतः नागेश झुँझलाकर कहते हैं कि) अथवा 'एव' को क्रिया के साथ से हटाकर (स्वयम् के साथ जोड़ दिया जाय, और 'स्वयमेव') 'दूसरे से नहीं' यही वाक्यार्थ होने दीजिए, (अर्थात् आपका कथन हम स्वीकार करते हैं) तथापि व्यतिरेक के सजातीय अर्थ का पद्य में कथन है और अन्वय के सजातीय अर्थ का कथन है नहीं, अतः इसका भी 'विद्वानेव०' इत्यादि पद्यों के समान वैधर्म्योदाहरण में तात्पर्य होने दीजिए, ऐसी कोई राजाज्ञा तो है नहीं कि आक्षिप्त के व्यतिरेक का सजातीय अर्थ लिखा जाय तभी वैधर्म्य का उदाहरण हो सकता है, अतः यह सब अयुक्त है।—नागेश

(इतना सब करने पर भी ऊपर जो गड़बड़ बताई गई है—अर्थात् साधर्म्य वैधर्म्य के उदाहरणों की अनियमितता—तो रहेगी ही, अतः यह सब व्यर्थ-सा ही है—अनुवादक)

और प्राणापहरण के 'स्वभावसिद्धत्ता' रूपी अनुपात समानधर्म द्वारा सादृश्य व्यंग्य है, अतः उपमा के व्यंग्य होने में कोई बाधा नही। तो इसका उत्तर यह है कि प्रतिवस्तूपमा से साधारणधर्म के वस्तुप्रतिवस्तु भाव की उक्ति द्वारा 'उससे भिन्न पदार्थों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' और 'घटना की अनुरूपता' का बताना अभीष्ट है, बिना उसके प्रतिवस्तूपमा नही बन पाती। अब इसका उक्त उदाहरण से मिलान करिए। यहाँ यद्यपि 'खल' और 'सर्प' एवं प्राण' और 'हित' इनका बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है, तथापि 'हरण करना' और विघ्न करना', जो कि क्रमशः 'नाश' (ध्वंस) और 'प्रागभाव' के रूप में पर्यवसित हैं, की अनुरूपता न होने से बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव नहीं हो पाता, इसलिए यहाॅ अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अब यदि यह कहा जाय कि नाश (ध्वंस) और प्रागभाव दोनों ही हैं तो अभावरूप ही, अतः उनकी अनुरूपता होने के कारण बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव हो सकता है तो भले ही यहाॅ प्रतिवस्तूपमा होने दीजिए, किन्तु असंष्ठुलता (ऊटपटॉगपन) रूपी (क्योंकि पहले वाक्य में तो सप्तमी है और दूसरे में 'तुमुन्' प्रत्यय, जो दोनो वाक्यो की समरसता को बिगाड़ देते हैं) वाक्यार्थ के सामान्य दोष की सत्ता से वह दोष-युक्त उपमा आदि की तरह चमत्कारी नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ तभी अनिर्वचनीय सुन्दरता को प्राप्त होता है, जब उसकी रचना अत्यन्त गहरी व्युत्पत्ति से जिनके अन्तः करण निपुण हो चुके हैं और जो अनेक पदार्थों के निर्माण और परिवर्तन में समर्थ होते हैं उन कवियो के द्वारा की गई है, अन्यथा नही।

देखिए—

'उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते,
दिने दिने साऽवसरेषु बन्दिनाम्।

पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्र-
रोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥'

वह (दमयन्ती) बन्दियों के अवसरों पर प्रतिदिन पिता की उपासना में आकर प्रसन्न होती और जब वे अन्य प्रतिद्वन्दी राजाओं का वर्णन करते तब नल के विषय में सुनती हुई अत्यंत रोमांचित हो जाती थी (नैषधीय चरित १—३४)।

इस नैषधीयचरित के पद्य (की संस्कृतरचना) में दोनों क्रियाओं में से उद्देश्यविधेयभाव के द्वारा एक को गौण और दूसरी को प्रधान न बनाते हुए एवं बन्दीजनों को एक जगह 'षष्ठ्यन्त' दूसरी जगह 'सप्तम्यन्त' इस तरह दो बार परामर्श करते हुए कवि ने वाक्यार्थ को ऊँट की तरह ऊदड़-खादड़ बना दिया है। यदि उसी वाक्यार्थ को दूसरे प्रकार से बनाया जाय

जैसा कि—

'उपासनार्थं पितुरागतापि सा निविष्ट-
चित्ता वचनेषु बन्दिनाम्।
प्रशंसतां द्वारि महीपतीनलं,
विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥'

तो कामिनी के अङ्गविन्यास की तरह कैसा सुंदर हो जाता है यह बात सहृदयों के सोचने योग्य है।

कुवलयानन्द पर विचार

"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे,
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।

स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे,
मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥"

(हे भगवन्) आपके अमृत झरनेवाले चरणकमल में जिसने मन लगा रखा है वह किसी अन्य की इच्छा कैसे कर सकता है, मकरन्द से परिपूर्ण अरविन्द के विद्यमान रहते भौंरा तालमखाने (अथवा* काश-पुष्प) की तरफ नहीं देखता।

इस कुवलयानन्द में उदाहृत आलुवन्दारुस्तोत्र के पद्य में यद्यपि 'देखने' और 'इच्छा करने' रूपी धर्मों की एकता न होने से केवल 'देखने' का वस्तुप्रतिवस्तुभाव नहीं बनता, तथापि निषेध के अयोग्य है, क्योंकि वह अवर्जनीय है, किसी ने किसी की तरफ सरसरी तौर से देख ही लिया तो उससे उसका कोई महत्त्व नहीं हो जाता। अतः 'वीक्षते' का अर्थ यहाँ 'इच्छा पूर्वक देखना' करना पड़ेगा। ऐसी दशा में उक्त 'देखने' के निषेध का 'सविशेषणे हि……' इस न्याय से 'वीक्षते' के निषेध का 'इच्छा के निषेध' रूपी धर्म में पर्यवसान हो जाने के कारण धर्म की एकता बन सकती है। अथवा यदि ऐसी एकता पसन्द न हो तो दृष्टान्तालङ्कार हो सकता है। तथापि 'पादपङ्कजे निवेशितात्मा' इस आधारसप्तमी के साथ 'स्थितेऽरविन्दे' यह 'सति सप्तमी' न तो वस्तुप्रतिवस्तुभाव के अनुसार ही और न बिम्बप्रति-बिम्बभाव के अनुसार ही अनुरूप होती है, इसलिए यह वर्णन ऊट-पटांग ही है। हाँ, यदि उत्तरार्ध में 'स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे' के

---

*—तथान्य इक्षुगन्धः स्यादिक्षुरः कोकिलाक्षकः। कासः काण्डेक्षु-रुद्दिष्टः काकेक्षुर्वाय सेक्षुकः।

(अमरकोष की टीका में क्षीरस्वामी)

स्थान पर 'स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे' यह बना दिया जाय तो सुन्दर हो सकता है।

इसलिए यह सिद्ध है कि इस प्रकार के अलङ्कारों के उत्तरवाक्यों में पूर्ववाक्यार्थ में आये हुए प्रातिपदिकार्थ के अनुकूल प्रातिपदिकार्थ, विभक्तियों के अनुकूल विभक्तियाँ और अन्वय के अनुकूल अन्वय होना चाहिए, इस बात को सहृदयों के हृदय से पूछ देखिए।

मालारूप प्रतिवस्तूपमा

वहति विषधरान्पटीरजन्मा शिरसि मषीपटलं दधाति दीपः।
विधुरपि भजतेतरां कलङ्कं पिशुनजनं खलु बिभ्रति क्षितीन्द्राः॥

चन्दन साँपों को वहन करता है, दीपक सिर पर कज्जल-समूह धारण करता है, चन्द्रमा भी कलंक को लिए हुए है और राजा लोग चुगलखोरों को आश्रय देते हैं।

यहाँ 'वहन' 'धारण' तथा 'लेना' और 'आश्रय देना' वस्तुतः एक-रूप ही हैं इसलिए यह प्रतिवस्तूपमा मालारूप है।

प्रतिवस्तूपमा समाप्त

———

दृष्टान्तालङ्कार

लक्षण

प्रस्तुत वाक्यार्थ की घटना करनेवाले उपमानादिक का और साधारणधर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर, जिसका सारांश यह है कि जिनका साधारणधर्मादितक बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हो ऐसे, दो वाक्यों की अर्थप्राप्त उपमा दृष्टान्त कहलाती है।

जैसा कि लिखा है—

"दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।"

अर्थात् उपमा के अन्दर आनेवाले सभी अवयवों का प्रतिबिम्बित होना दृष्टान्त कहलाता है।

उदाहरण

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्द
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि ॥

बिना कहे ही सत्पुरुष हिताचरणों से सारे संसार को अत्यन्त आनन्दित करता है। कहिए, चन्द्रमा अपनी महान् किरणों से कुमुदिनियों के समूहों को किससे आराधित होकर विकसित करता है—कुमुदिनियों के विकास के लिए चन्द्रमा की आराधना थोड़ी की जाती है, वह तो उसका स्वाभाविक कार्य है।

यहाँ अन्य सब वस्तुओं के साथ-साथ (उपमेय के साधारणधर्म) आनन्द और (उपमान के साधारणधर्म) विकास रूपी साधारणधर्मों का भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में भेद

इस अलङ्कार का प्रतिवस्तूपमा से यही भेद है कि उसमें धर्म प्रतिबिम्बित नहीं होता है, किन्तु शुद्ध सामान्यरूप में ही रहता है और यहाँ धर्म भी प्रतिबिम्बित होता है ।

विमर्शिनीकार ने तो लिखा है कि प्रतिवस्तूपमा में अप्रकृत अर्थ का ग्रहण प्रकृतार्थ के साथ उसका सादृश्य बताने के लिए होता है, किन्तु दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ का ग्रहण केवल इसलिए होता है कि ऐसा अर्थ अन्यत्र भी है, जिससे प्रकृत अर्थ की प्रतीति का विशदीकरण हो जाय, न कि सादृश्य की प्रतीति के लिए । अतः प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में यह भेद है कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य की प्रतीति होती है और दृष्टान्त में वह नहीं होती ।"

पर यह ठीक नहीं, क्योंकि दोनों अलङ्कारों में प्रकृत वाक्यार्थ और अप्रकृत वाक्यार्थ के ग्रहण में कोई भेद नहीं है, जैसा यह प्रतिवस्तूपमा में है वैसा ही दृष्टान्त में है, अतः यह कहना कि एक जगह सादृश्य का बोध होता है, अन्यत्र नहीं, केवल अज्ञानमात्र है । दूसरे, जैसे आप कहते हैं, कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य होता है, दृष्टान्त में नहीं, इसी तरह इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि दृष्टान्त में सादृश्य होता है और प्रतिवस्तूपमा में नहीं । तीसरे, आपने जो लिखा है कि "ऐसा अर्थ अन्यत्र भी विद्यमान है, जिससे प्रकृत अर्थ की प्रतीति का विशदीकरण हो जाय" यह भी दूसरे शब्दों में सादृश्य का ही निरूपण है । फिर सादृश्य का निषेध कैसा । इसीलिए तो सत्कवियों के बनाये

दृष्टान्त के उदाहरणों में प्रायः जैसे प्रकृत वाक्य के अर्थ को घटित करने वाले प्रकृति प्रत्यय आदि होते हैं उनके अर्थ के अनुकूल प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ से घटित ही अप्रकृत वाक्य का अर्थ भी देखा जाता है।

यदि आप कहें कि जो विलक्षणता तुमने बतलाई है वह भी इन दोनों अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न अलङ्कार सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उपमा (सादृश्य) नामक सामान्य लक्षण से आक्रान्त होने के कारण उपमा के भेदों के समान दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा भी एक ही अलङ्कार के भेद होने लगेंगे। इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा माना जाय तो आपके हिसाब से भी दीपक और तुल्ययोगिता एक ही अलङ्कार के भेद हो जायँगे। यदि आप इस बात को स्वीकार करें कि 'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' एक ही अलङ्कार के दो भेद हैं तो फिर वही बात यहाँ भी समझ ली जाय, क्योंकि प्राचीनों के विभाग को आप ही शिथिल कर रहे हैं। और इतना मानने पर भी काम न चलेगा, क्योंकि सादृश्य को यदि सामान्य लक्षण माना जाय तो अनेक अलङ्कार उपमा के अवान्तरभेद हो जायँगे। इस तरह सब आलङ्कारिकों के सिद्धान्त के भंग का प्रश्न उपस्थित हो जायगा। और फिर आपके मूल ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व में जो वह लिखा है कि—

"देवीं वाचमुपासतेऽत्र बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

इस जगत् में बहुत से लोग वाणी देवी की उपासना करते हैं, परन्तु सरस्वती के सार को तो गुरुकुल में क्लेश पाया हुआ मुरारि कवि

ही जानता है। वीर वानरों ने समुद्र का उल्लंघन ही किया था, किन्तु उसकी गम्भीरता को तो जिसका पुष्ट शरीर पाताल तक डूब चुका है वह मथने वाला पर्वत (मन्दराचल) ही जानता है।"

इस मुरारि के पद्य में यद्यपि जिसका 'जानना' अर्थ है ऐसा एक ही धर्म 'जानीते' और 'जानाति' इस रूप में निर्दिष्ट है तथापि एतन्मूलक सादृश्य कहना यहाँ अभीष्ट नहीं है और जिसको मूल मानकर कहना अभीष्ट है उन 'समुद्रलंघन' आदि में 'देवी वाणी की उपासना' आदि के साथ प्रतिबिम्ब है ही। सो उससे विरोध हो जायगा।

अब यदि आप कहें कि यहाँ 'जिसको मूल मानकर कहना अभीष्ट है' इस भाग में 'वह अर्थालङ्कारता' यह विशेष्य शेषपूर्ति के रूप में जोड़ दिया जाय, 'सादृश्य' नहीं। अर्थात् "सादृश्य कहना अभीष्ट है" के स्थान पर 'अर्थालङ्करता कहना अभीष्ट है' यह कर दिया जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'विवक्षित' पद में 'निष्ठा' (भूतकाल के वाचक 'क्त' प्रत्यय) द्वारा जो एक बार वस्तु ली गई है उस पद के द्वारा उसी का पुनः लिया जाना व्युत्पत्तिसिद्ध है, क्योंकि जैसे 'चैत्र के लिए ओदन नहीं पकाया गया है और जिसके लिए पकाया गया है वह मैत्र है' इत्यादि वाक्यों में दूसरे 'पकाया गया' आदि शब्दों को ओदन के लिए न लगाकर 'शाक आदि' किसी नवीन वस्तु के लिए लगाया जाय तो स्पष्ट ही असंगति प्रतीत होती है वही दशा यहाँ भी होगी। अतः प्राचीनों द्वारा विहित इन दोनों अलङ्कारों के विभाग की संगति हमारे बताये मार्ग से ही करनी चाहिए और यदि उनकी निपुणता में विश्वास न हो तो फिर सीधा यों कह दीजिए कि प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त ये दोनों एक ही अलङ्कार के दो भेद हैं और इनमें जो कुछ विलक्षणता है वह उनका (अवांतर भेदों) भेद मात्र होना ही सिद्ध करती है पृथक् अलङ्कार होना नहीं।

वैधर्म्य से दृष्टान्तालङ्कार

जैसे—

जनयन्ति परप्रीतिं नराः सत्कुलसंभवाः ।
नहि कारस्करः क्वापि तापनिर्वापणक्षमः ॥

अच्छे कुल में उत्पन्न मनुष्य ही दूसरों को प्रसन्न कर सकते हैं; कहीं भी कुचला ताप के शान्त करने में समर्थ नहीं होता ।

अथवा जैसे—

तापत्रयं खलु नृणां हृदि तावदेव
यावन्न ते वलति देव कृपाकटाक्षः ।
प्राचीललाटपरिचुम्बिनि भानुबिम्बे
पङ्केरुहोदरगतानि कुतस्तमांसि ॥

हे देव मनुष्यों के हृदय में तीनों ताप तभी तक हैं जब तक आपका कृपाकटाक्ष नहीं प्राप्त होता । सूर्य्यबिम्ब के पूर्व दिशा के ललाट को चुम्बित करते समय कमल के गर्भ में अन्धकार कैसे रह सकता है ।

इन दोनों श्लोकों में क्रमशः 'प्रीति उत्पन्न करने' (प्रसन्न करने) और 'ताप के शान्त न करने' तथा 'तापत्रय की स्थिति' और 'अन्धकार का दूर करना' इनका वैधर्म्य से बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।

———

निदर्शनालङ्कार

लक्षण

(व्यङ्ग्य अर्थों का नहीं किन्तु) गृहीत (वर्णित) दो अर्थों का उपमा में समाप्त होनेवाले अर्थप्राप्त अभेद निदर्शना कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

यहाँ अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों से और व्यङ्ग्यरूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिए 'गृहीत' शब्द दिया गया है और वाच्य रूपक के निवारण के लिए 'अर्थप्राप्त' शब्द दिया गया है। अर्थप्राप्त का अर्थ है प्राथमिक अन्वय के बोध का विषय न होना—अर्थात् पद्यगत शब्दों का अन्वय करते समय जो वस्तु न आवे वह अर्थप्राप्त कही जाती है। यदि यह माना जाय कि विशेषणसहित उपमा में विशेषणों का भी अभेद प्रतीत होता है तो 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव को प्राप्त न हो' यह भी प्रधान (विशेष्य रूप में गृहीत अर्थों) का विशेषण माना जाना चाहिए। प्रधान के विशेषणों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव तो निषिद्ध नहीं है।

यह लक्षण श्रौती निदर्शना का है। ऐसा लक्षण जो श्रौती आर्थी दोनों निदर्शनाओं में घटित हो सके वह तो ललित अलङ्कार के प्रकरण में लिखा जायगा।

उदाहरण—

त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक ! शोधयन्तः।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्तं
चिन्तामणिं क्षितिरजःसु गवेषयन्ति ॥

हे शिव ! अन्तरात्मा में सुशोभित होने वाले, अनन्तरूप आपको जो अपज्ञानी लोग तीर्थों में ढूढते हैं वे कण्ठ के मध्य में चमकती हुई चिन्तामणि को भूलकर पृथ्वी की रज में ढूंढ रहे हैं।

यहाँ 'आपका अन्यत्र ढूँढना' और 'कण्ठ में स्थित चिन्तामणि का पृथ्वी की रज में ढूँढना' अभिन्न हैं। यह बोध उन दोनों अर्थों की सदृशता को मूल मान कर होता है।

अथवा जैसे—

> अन्यैः समानममरैर्जगदन्तरात्मन् !
> ये चन्द्रशेखर ! वदन्ति भवन्तमज्ञाः ।
> ते किं न हन्त तुलयन्ति नभो निरन्तं
> वातायनोदरगतैर्विवरान्तरालैः ॥

हे चन्द्रशेखर, हे जगत् के अन्तरात्मा, आपको जो अज्ञानी अन्य देवताओं के समान कहते हैं, दुःख (के साथ कहना पड़ता) है कि क्या वे अनन्त आकाश की झरोखे के अन्तर्गत छिद्रों के मध्य भागों से तुलना नहीं करते।

पहिले उदाहरण में अभेद एकवाक्यगत है क्योंकि (वहाँ एक क्रिया है) और यहाँ दो भिन्न-भिन्न वाक्यों में है (क्योंकि यहाँ दो क्रियाएँ हैं)। पहिले श्लोक में दो वस्तुओं का सादृश्यमूलक अभेद है और यहाँ दो सादृश्यों का सादृश्यमूलक अभेद है यह विशेषता है।

यह निदर्शना वाक्यार्थनिदर्शना कहलाती है, क्योंकि प्रस्तुत एक धर्मी में रहनेवाले विशेषण सहित दो अर्थों का अर्थप्राप्त अभेद होनेपर वाक्यार्थ निदर्शना मानी जाती है। इस निदर्शना में निदर्शना के घटित करने वाले पदार्थों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव आवश्यक है।

पदार्थनिदर्शना; जैसे—

अगण्यैरिन्द्राद्यैरिह परमपुण्यैः परिचितो
जगज्जन्मस्थानप्रलयरचनाशिल्पनिपुणः।
प्रसर्पत्पीयूषाम्बुधिलहरिलीलाविलसितो
दृगन्तस्ते मन्दं मम कलुषवृन्दं दलयतु॥'

गङ्गा की स्तुति है। भक्त कहता है कि—अगण्य–अर्थात् किसी गिनती में न आनेवाले इन्द्रादि के द्वारा अत्यन्त पुण्यों से परिचित होनेवाला, जगत् के उत्पत्ति स्थिति और प्रलय की रचना रूपी शिल्प में निपुण और फैलती हुई अमृतसमुद्रकी लहरों की लीलासे सुशोभित आपका कटाक्ष मेरे मन्द (नीच) कलुष वृन्द को नष्ट करे।

यहाँ 'कटाक्ष की लीला' और 'समुद्र की लहरियों की लीला' का आश्रय भिन्न है एक की लीला दूसरे में नहीं रह सकती; इस तरह भिन्नों का भी सादृश्य के कारण तादूप्य मान लिया गया है अथवा कटाक्षों में लहरियों की लीला का आरोप है। (अतः अर्थप्राप्त अभेद है)

अथवा जैसे—

पाणौ कृतः पाणिरिलासुतायाः
सस्वेदकम्पो रघुनन्दनेन।
हिमाम्बुमन्दानिलविह्वलस्य
प्रभातपद्मस्य बभार शोभाम्॥

रघुनन्दन के द्वारा हाथ में लिया हुआ स्वेद और कम्प सहित सीता का हाथ ओस के जल और मन्द वायु से विह्वल प्रभात के कमल की शोभा को धारण करने लगा।

यहाँ 'ओस के जल से उत्पन्न विह्वलता' है 'ओस के कणों से व्याप्त होना' रूपी और 'वायु से उत्पन्न विह्वलता' है 'कम्पित होना' इन दोनों के साथ हाथ के 'स्वेद युक्त होने' और 'कम्प युक्त होने' का प्रतिबिम्बन है। यह इसमें पूर्व उदाहरण से भेद है। अर्थात् पूर्व पद्य में एक ही लीला पदार्थ को आश्रय भेद से भिन्न मानकर उसका अभेद बताया गया है, किन्तु यहाँ दो भिन्न भिन्न पदार्थों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव द्वारा अभेद माना गया है। प्रभात पद का सन्निधि से कमल के 'कुछ खिलने और कुछ मुंदने' की प्रतीति होने के कारण हाथ में भी 'फैलने और सिकुड़ने' की सिद्धि हो जाती है।

इसमें उपमान और उपमेय में रहनेवाले (दो) धर्मों का अर्थ-प्राप्त अभेद प्रतीत होता है, अतः इसे पदार्थ-निदर्शना कहते हैं। बिम्बप्रतिबिम्बभाव तो उपमान-उपमेय के विशेषण युक्त होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं होता (अतः वाक्यार्थ निदर्शना बिना बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के नहीं होती। और यह उसके बिना भी होती है) यह इनका भेद है।

दो शंकाएँ और उनका समाधान

१—आप कहेंगे कि वाक्यार्थ-निदर्शना में विशिष्ट-वाचक शब्दों से विशेषणों का भी ग्रहण होने के कारण 'दो गृहीत अर्थों का अभेद' भले ही हो, किन्तु पदार्थ-निदर्शना में तो उपमान की 'शोभा आदि' केवल एक धर्म का ही ग्रहण होता है, दोनों का नहीं। फिर आपके लक्षण में लिखा 'दो अर्थों का अर्थप्राप्त अभेद' यहाँ कहाँ है? तो इसका उत्तर यह है कि 'शोभा' शब्द से दोनों शोभाओं का ग्रहण हो जाता है, क्योंकि उस धर्मका उपमानतावच्छेदक अथवा उपमेयता-वच्छेदक के रूपसे गृहीत होना यहाँ अभीष्ट नहीं है, जिससे कि अव्याप्ति हो।

. अथवा पूर्वोक्त लक्षण वाक्यार्थ निदर्शना का ही है पदार्थ निदर्शना का नहीं, इसका तो—

'उपमान उपमेय में से एक के धर्म का अन्य में आरोप'

यह लक्षण होने दीजिए।

आप कहेंगे कि ऐसा करने पर भी वाक्यार्थनिदर्शना की रूपक की ध्वनि से और पदार्थ निदर्शना की रूपकातिशयोक्ति की ध्वनि से गतार्थता हो जायगी। तो यह उचित नहीं। कारण, वाक्यार्थ-निदर्शना में रूपक के गौण हो जाने के कारण उसकी ध्वनि नहीं हो सकती। ध्वनि वहीं होती है जहाँ व्यंग्य गौण न हो, अन्यथा गौण उपमा से रूपक की भी गतार्थता हो जायगी।

दूसरे, निदर्शना का शरीर है वैसे पदार्थों का केवल अभेदमात्र, जो कि दोनों जगह विश्रान्त हो जाता है—उससे आगे बढ़ने का वहाँ कोई प्रयोजन नहीं और रूपक का शरीर है उपमेय में रहने वाला उपमान का अभेद। यही बात रूपकातिशयोक्ति में भी है। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि अतिशयोक्ति में उपमेय का निगरण होता है और रूपक में नहीं।

इस तरह निदर्शना की रूपक और रूपकातिशयोक्ति से स्पष्ट ही विलक्षणता हो जाती है। इसीलिए 'त्वामन्तरात्मनि' इस पूर्वोक्त पद्य में 'गवेषयन्ति' के स्थानपर 'गवेषयन्तः' इस तरह अनूदित करके और 'शोधयन्तः' के स्थान पर 'शोधयन्ति' इस तरह बना देने पर एवं पूर्वार्धको उत्तरार्ध बना देने पर और उत्तरार्ध को पूर्वार्ध बना देने पर भी सुन्दरता में कोई हानि नहीं होती। किन्तु रूपकादिक में व्यङ्ग्य कक्षा के उद्देश्य-विधेयभाव के भी वाच्य कक्षा के उद्देश्यविधेयभाव के अनुसार होने के कारण उपमान में उपमेय के अभेद की सिद्धि हो जाय

तो असमंजसता होने लगेगी। अर्थात् 'मुख में चन्द्र का अभेद' ही वहाँ उचित है 'चन्द्र में मुख का अभेद नहीं, किन्तु विदर्शना में ऐसी कोई बाधा नहीं है। यह बात बुद्धिमानों को सोचना चाहिए।

अलङ्कारसर्वस्व पर विचार

अलङ्कारसर्वस्वकार ने तो—

"त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥

तुम्हारे चरणनखरूपी रत्नों का जो आलते (लाक्षारस) से साफ करना है वह चन्दन के लेप से चन्द्रमा को सफेद बनाना है।"

इस पद्य को वाक्यार्थनिदर्शनाका उदाहरण बनाया है और कहते भी हैं कि "जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ में अन्य वाक्य का सामानाधिकरण से आरोप किया जाय वहाँ सम्बन्ध के अनुपपन्न होने के कारण निदर्शना ही योग्य है" सो उचित नहीं। कारण, ऐसा मानने से वाक्यार्थरूपक को जलांजलि दे देनी पड़ेगी—वह समाप्त ही हो जायगा। यदि आप कहें कि यह हमें स्वीकार है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि तब हम कहेंगे कि वाक्यार्थनिदर्शना को ही क्यों न हटा दिया जाय और वाक्यार्थरूपक को ही स्वीकार कर लिया जाय, क्योंकि दोनों प्रश्न तुल्य हैं। और सच पूछो तो यही युक्तियुक्त है, क्योंकि 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिक पदार्थरूपक में 'जिस श्रौत अभेदारोप' की कल्पना की गयी है उसे रूपक का जीवनाधार माना जाय यह उचित है। दूसरे, 'इन्दुशोभां वहत्यास्यम्' = अर्थात् 'मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण करता है' इत्यादि पदार्थनिदर्शना में अभेदारोप का अभाव होने से वाक्यार्थनिदर्शना का भी जीवनाधार अभेदारोप नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता, अतः निदर्शना माननी पड़ती है, तो यह शपथ देना मात्र है—अर्थात् बलात् मनवाना है, क्योंकि इसमें कोई युक्ति तो है नहीं। कहा जायगा कि तब वाक्यार्थनिदर्शना का लोप ही हो जायगा। सो भी नहीं, क्योंकि वाक्यार्थनिदर्शना को हमारे बताये उदाहरण में अवकाश है।

और जो अलङ्कारसर्वस्व में ही यह लक्षण बनाया गया है कि **"संभवता असंभवता वा वस्तुसंबंधेन गम्यमानमौपम्यं निदर्शना** = संभवी अथवा असंभवी वस्तुसम्बन्ध से प्रतीत होने वाले सादृश्य को निदर्शना कहते हैं" सो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस लक्षण की रूपक, अतिशयोक्ति आदि में अतिव्याप्ति हो जाती है।

कुवलयानन्दकार का खण्डन

और जो अलङ्कारसर्वस्वकार का अनुसरण करनेवाले कुवलयानन्द-कार ने कहा है—

"वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।
यद्दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलङ्कता॥ इति

दो सदृश वाक्यार्थों की एकता का आरोप निदर्शना कहालाती है, जैसे—जो दानी की सौम्यता है वह पूर्णेन्दु की निष्कलङ्कता है।"

सो इसका रहस्य तो अलङ्कारसर्वस्वकार के मत में दोष दिखाने* से ही प्रगट हो गया अतः फिर बखेड़ा उठाना उचित नहीं।

किन्तु यदि पूर्वोक्त श्लोक को

---

* यहाँ यह विचारणीय है—(आपकी बताई रीति से) आपके उदाहरण 'त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्त ! मूढाः' इस पद्य में भी गम्य

"त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥

रूपक से ही निर्वाह हो जाने पर निदर्शना का उच्छेद ही हो जायगा। और यदि ऐसा न मानो तो 'वाक्यार्थरूपक' के उच्छेद के समान 'गम्य वाक्यार्थरूपक' के उच्छेद की आपत्ति होगी।

कहा जायगा कि यदि इस तरह पृथगलंकारता का निराकरण किया जाय तो 'चन्द्रमा के समान मुख' यह वाच्योपमा है, तदनुसार 'मुखचन्द्र' यह गम्योपमा होने लगेगी और ऐसी स्थिति में रूपक का उच्छेद हो जायगा, तो यह उचित नहीं, क्योंकि 'मुखचन्द्र' में अभेदप्रतीति के कारण ही चमत्कार है और सादृश्य के कारण चमत्कार का अभाव है (अतः रूपक का उच्छेद नहीं हो सकता)।—नागेश

(पर 'रूपक में सादृश्यकृत चमत्कार नहीं है' यह कहना केवल अड़गेबाजी है, क्योंकि द्वितीयानन के आरम्भ में रूपक के शास्त्रार्थ के अवसर पर स्पष्ट सिद्ध कर दिया गया है कि "चमत्कारिसाधारणधर्मानुपस्थितिदशायामुपमालंकारस्येव रूपकालंकारस्यापि नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारो वा", अतः रूपक का उच्छेद भी हो ही सकता है, सो यह उत्तर शिथिल ही है—अनुवादक)

दूसरे, आपके पूर्वोक्त उदाहरण में 'कर्त्ताओं का रूपक' ही होने दीजिए। क्रियाओं का अभेद प्रतीत होता है तथापि 'विशिष्ट रूपक में जैसे विशेषणों का अभेद भिन्न अलंकार नहीं है वैसे उक्त उदाहरण भी अलंकारान्तर नहीं है, अन्यथा 'अलकावृतकामिनीमुखं भ्रमद्भ्रमरसभारं पद्मम्'= अलकों से आवृत कामिनी का मुख जिस पर भौंरे मँडरा रहे हैं ऐसा पद्म है' यहाँ 'अलकों और भौंरों का अभेद' भी भिन्न अलंकार हो जायगा। अतः 'निदर्शना गम्यता के कारण अलंकारान्तर है' यह थोथी बात है।—नागेश

. अर्थात् जो आलते द्वारा तुम्हारे चरण नखों को रंगता है वह चन्दन के लेप से चन्द्रमा को सफेद करता है।"

यों बना दिया जाय तो वहाँ निदर्शना कहना योग्य है।

-यदि आप कहें कि तुमने जो उदाहरण दिया है वह वाच्य निदर्शना का है और यह उदाहरण व्यङ्ग्य निदर्शना का है, तो यह भी कहा जा सकता है कि 'मुखं चन्द्र इव--मुँह चन्द्रमा सा है' यह वाच्योपमा है और 'मुखं चन्द्रः—मुख चन्द्र' यह व्यङ्ग्य उपमा है, रूपक नहीं। जब उपमा से ही काम चल सकता है तो दूसरा अलङ्कार क्यों माना जाय। इसलिए आपका यह उत्तर शिथिल ही है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि आरोप (रूपक) और अध्यवसान (अतिशयोक्ति) के मार्ग से पृथक् केवल अर्थप्राप्त अभेद ही निदर्शना का जीवन है, और वह 'वाक्यार्थनिदर्शना' में कर्ता आदि के अभेद-प्रतिपादन द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। अतएव (काव्य प्रकाशकार) श्रीमम्मट भट्ट ने यह उदाहरण दिया है--

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

(पर वस्तुतः थोथी बात नागेश की ही है; 'प्रतीयमान क्रियाओं के अभेद' रूप प्रकृत उदाहरण की निदर्शना को, अनुवाद्यता और विधेयता का बिना विचार किए 'कर्त्ताओं के अभेदरूप' रूपक से गतार्थ करके 'अलकावृतकामिनीमुखं भ्रमद्भ्रमरसंभारं पद्मम्' के समान बताना आँखों में धूल झोंकना ही है। स्मरण रहे कि अलंकारान्तरता चमत्कारभेद पर आधारित है, ऐसी स्थिति में 'क्रियाओं के आर्थ अभेद' के चमत्कार को 'कर्त्ताओं का अभेद' मानकर कैसे गतार्थ किया जा सकता है—अतः यह सब व्यर्थ समर्थन है।—अनुवादक)

अर्थात् सूर्य से उत्पन्न वंश कहाँ और अल्पविषयवाली बुद्धि कहाँ, मोह (मूर्खता) के कारण दुस्तर सागर को डोंगी से तैरना चाहता हूँ ।"

आप कहेंगे कि यहाँ निदर्शना संगत नहीं, क्योंकि यहाँ विषयी (डोंगी से समुद्र तैरने की इच्छा) का ग्रहण होने पर भी विषय (अल्पमति से वंश वर्णन की इच्छा) का ग्रहण नहीं है और निदर्शना में दोनों का ग्रहण करना आवश्यक है, इसलिए यहाँ ललितालङ्कार ही उचित है। तो हम कहते हैं कि ललितालङ्कार मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इसे हम ललितालंकार के निराकरण के समय ही उपपत्ति-पूर्वक स्पष्टतया सिद्ध करेंगे।

कुछ विद्वान् 'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इस जगह दृष्टान्तालंकार कहते हैं। वह भी ठीक नहीं, क्योंकि बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न पदार्थों से घटित दो निरपेक्ष वाक्यार्थोंका नाम ही दृष्टान्त है, सो यहाँ है नहीं, क्योंकि 'यत्' और 'इदम्' पदों से दोनों वाक्यार्थ परस्परसापेक्ष हो गये हैं। इसलिए 'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इस पद्य में वाक्यार्थरूपक ही है, निदर्शना नहीं, यह सिद्ध हुआ।

इस तरह असम्भवद्वस्तुसम्बन्धमूलक पदार्थ-वाक्यार्थनिदर्शना दिखाई गयी है।

अब सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना निदर्शना पर विचार करिए—

"चूडामणिपदे धत्ते योऽम्बरे रविमागतम् ।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन्गृहमेधिनः ॥

जो उदयाचल 'गृहस्थियों को सत्पुरुषों का आतिथ्य करना चाहिए' यह समझाता हुआ आकाश में आए सूर्य को चूड़ामणि के स्थान पर धारण करता है।"

यहाँ 'बोधयन्' शब्द में 'णिच्' प्रत्यय का प्रयोग आनुकूल्य अर्थ में है। जैसा कि 'कारीषोऽग्निरध्यापयति--जंगली कण्डों की आग पढ़ाती है' अथवा 'भिक्षा वासयन्ति'=(हमें यहाँ) भिक्षाएँ निवास करवा रही हैं' इत्यादि वाक्यों में है।[1] सो इस तरह 'अनुकूलता' अर्थ में 'णिच्' के प्रयोग के कारण एवं पहाड़ का शिर सूर्योदय के एकदेश से व्याप्त होने के कारण पहाड़ का आचरण गृहस्थ द्वारा सत्पुरुषों का आतिथ्य करने के बोध के अनुकूल होना संभव है और 'मेरी तरह औरों को भी अतिथिसेवा करनी चाहिए' यह सादृश्य बन जाता है, अतः यहाँ सम्भवद्वस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना हो सकती है।

इसमें यदि कोई शंका करे कि यहाँ 'बोधयन्' का अर्थ 'बोधयन्निव–मानो समझा रहा है' (क्योंकि असली बोध तो पहाड़ करवा नहीं सकता) यह होने के कारण यहाँ "व्यालिम्पति तमोऽङ्गानि नभो वर्षति कज्जलम्,--अंधेरा अंगों पर लेप कर रहा है, आकाश कज्जल बरस रहा है।" इत्यादि के समान व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा ही कहनी चाहिए। तो यह उचित नहीं, क्योंकि (अनुकूलतासंपादन के द्वारा) यह वस्तु सम्भव है, अतः उत्प्रेक्षाका प्रसंग यहाँ नहीं है।"

१—इसका अभिप्राय यह है कि—'णिच्' प्रत्यय प्रेरणा अर्थ में होता है और प्रेरणा चेतन ही कर सकता है। ऐसी स्थिति में पहाड़ के लिए 'बोधयन्' (समझता हुआ) यह अर्थ कैसे बन सकता है। अचेतन पहाड़ किसी को क्या समझाएगा, अतः यहाँ 'णिच्' का अर्थ प्रेरणा नहीं, किन्तु आनुकूल्य है। अर्थात् बोधमें अनुकूलता कर देता है। समझते तो हम ही हैं, पर उदयाचल उस समझने में अपने उदाहरण द्वारा अनुकूलता कर देता है, जैसे शीतकाल में जंगली कंडों की आंच ने पढ़ने में अनुकूलता कर दो।

यह है कुछ लोगों का मत। परन्तु यह बात—

"धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते'

अर्थात् जिसका व्यापार धातु से उक्त है उस कारक में सदा कर्त्तृत्व (अर्थात् कर्त्तृत्व ही) माना जाता है।"

इस (वैय्याकरणों के मत में संगत हो सकती है, किन्तु यदि (नैयायिकों के हिसाब से) कृताकृत का विभाग अनुपपन्न होने के कारण कृञ् धातु का अर्थ यत्न माना जाय और उससे 'तृच्' प्रत्यय करके 'विषय सहित यत्न' धातु का अर्थ है और उसके अनन्तर लगे हुए कर्त्तृ प्रत्यय (तृच्) की आश्रयत्व में निरुढ लक्षणा मानी जाय और इस प्रकार 'यत्न के आश्रय' को 'कर्ता' पद का अर्थ समझ कर कर्त्तृवाचक प्रत्ययों का मुख्य अर्थ 'यत्न का आश्रय' सझा जाय तो जड़ पदार्थ गौण कर्ता ही हो सकता है। इस सिद्धान्त पर दृष्टि डाली जाय तो 'बोधयन्' इस जगह व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा हो ही सकती है। (अतः नैयायिकों की दृष्टि से आपका यह उत्तर शिथिल ही है।)

इसी आशय को मन में रखकर मम्मट भट्ट ने—

"स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सापरा

अर्थात् जहाँ क्रिया के ही द्वारा अपना और अपने हेतु का हेतुहेतुमद्भाव के रूप में सम्बन्ध दूसरों को समझाया जाता है वहाँ दूसरी निदर्शना होती है।"

यह अन्य निदर्शना का लक्षण बनाकर

"उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्लीलयैव स पतेदिति ध्रुवम्।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥

. जो मनुष्य उन्नत पद को पाकर भी ओछा है वह खेल ही खेल में (सहज ही) अवश्य गिर सकता है एतदर्थ पहाड़ के शिखरपर स्थित कंकर सुन्दर (मन्द) वायु से कम्पित होकर नीचे गिर रहा है।"

इस पद्यमें 'इति' पद के बाद में 'बोधयन्' अथवा 'बोधयितुम्' के अभाव से उत्प्रेक्षा का असम्भव होने के कारण बोधननिदर्शना बतलाई है। जो उचित है।

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन
कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम्।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा
यो दुर्जनं वशयितुं कुरुते मनीषाम्॥

जो मनुष्य दुर्जन को वश करने की इच्छा करता है वह कौतुकवश जहर पीना चाहता है; प्रलयानल को यथेष्ट चूमना चाहता है और सर्पराज के साक्षात् आलिङ्गन का प्रयत्न करता है।

अथवा, जैसे--

व्योमनि बीजाकुरुते चित्रं निर्माति सुन्दरं पवने।
रचयति रेखाः सलिले यस्तु खले चरति सत्कारम्॥

जो खल पुरुष का सत्कार करता है, वह आकाश में बीज बोता है, पवन में सुंदर चित्र बनाता है और पानी में रेखायें रचता है।

क्रियाओंकी निदर्शनाके विषय में इतना और समझ लेना चाहिये कि—

यान्ती गुरुजनैः साकं स्मयमानाननाम्बुजा।
तिर्यग्ग्रीवं यदद्राक्षीत्तन्निष्पत्राकरोज्जगत्॥

गुरुजनों के साथ जाते समय मुसकराते मुखकमल से उसने जो टेढ़ी गर्दन करके देखा उसने तीर को सब जगत् के कलेजे के आर-पार कर दिया।

ऐसे स्थलों में 'भावप्रधानमाख्यातम्' इस यास्कोक्त रीति से जो लोग बोध में व्यापार को विशेष्य मानते हैं उनके सिद्धान्तानुसार दो क्रियाओं से 'शाब्द' अभेदारोप होता है, इसलिए 'मुखचंद्रः' की तरह यहाँ भी रूपक उचित है और जो लोग क्रियाओं के बोध में प्रथमान्त को विशेष्य मानते हैं उनके हिसाब से अभेदारोप अर्थप्राप्त है, अतः निदर्शना है—यह भेद (अवधेय) है।

निदर्शना समाप्त

———

व्यतिरेक अलङ्कार

लक्षण

किसी विशेष गुण से युक्त होने के कारण उपमान से उपमेय का उत्कर्ष व्यतिरेक कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

इस लक्षण में 'किसी विशेष गुण से युक्त होने के कारण' यह भाग प्रतीप आदि के निवारण के लिए है। विशेष गुण से युक्त होने का तात्पर्य है उपमान से उपमेय में वैधर्म्य होना। प्रतीप में उपमेय को उपमान बना देने मात्र के कारण ही उत्कर्ष होता है, वैधर्म्य के कारण नहीं क्योंकि प्रतीप में उपमान उपमेय के साधर्म्य की ही प्रतीति होती है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि केवल 'अधिक गुणवान् होना' अथवा 'उपमान का केवल अपकर्ष' ही व्यतिरेकका स्वरूप नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही वस्तुएँ उपमेय के उत्कर्ष के आक्षेप के बिना सुन्दर नहीं होतीं, अतएव केवल सादृश्यके अभाव को भी व्यतिरेक नहीं कह सकते, क्योंकि व्यतिरेक में उपमान से उपमेय का अपकर्ष भी संभव है और सादृश्य के अभाव के वास्तविक होने से उसमें कोई सुन्दरता नहीं होती—दो वस्तुओं में सादृश्यका अभाव कोई नवीनता नहीं रखता। अब यदि सादृश्याभाव के साथ 'उपमेय के उत्कर्षसे विशिष्ट' यह विशेषण लगाया जाय तो फिर सादृश्याभाव को ही अलङ्कार कहना उचित होगा।

(अतः यथास्थित लक्षण ही ठीक है)

उदाहरण

अनिशं नयनाभिरामया रमया संमदिनी मुखस्य ते।
निशि निःसरदिन्दिरं कथं तुलयामः कलयापि पङ्कजम्॥

नायक नायिका से कहता है—नयनाभिराम शोभा के कारण निरन्तर आनन्ददायी तुम्हारे मुख की कला से भी ऐसे कमल की कैसे तुलना करें जिसकी शोभा रात्रि में (प्रतिरात्रि) निकलती रहती है।

व्यतिरेक के भेद

यह व्यतिरेक प्राचीनों के हिसाब से २४ प्रकार का है। पहिले इसके चार भेद होते हैं। १—जिसमें उपमेयके उत्कर्षक और उपमान के अपकर्षक दोनों वैधर्म्यों का ग्रहण हो। २—जिसमें उक्त दोनों वैधर्म्यों का ग्रहण न हो। ३—जिसमें केवल उपमेय के उत्कर्षक वैधर्म्य का ग्रहण हो। ४—जिसमें केवल उपमान के अपकर्षक वैधर्म्य का ग्रहण हो।,

ये चारों भेद उपमा के श्रौती, आर्थी और आक्षिप्ता इन तीन भेदों के द्वारा बारह प्रकार के होते हैं और उनमें से प्रत्येक के संश्लेष और निःश्लेष होने से २४ भेद हो जाते हैं। उदाहरण—

श्रौती उपमावाले व्यतिरेक के चार भेद;—जैसे

(१) कटु जल्पति कश्चिदल्पवेदी यदि
चेदीदृशमत्र किं विदध्मः।
कथमिन्दुरिवाननं त्वदीयं
सकलङ्कः स कलङ्कहीनमेतत् ॥

नायक का नायिका से कथन है—यदि कोई अल्पज्ञ कदाचित् ऐसा कटु वचन कहे (कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान है) तो इसका हम क्या करें। तुम्हारा आनन चन्द्रमाकी तरह कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह सकलंक है और यह कलंकहीन है।

इस उदाहरण में दोनों वैधर्म्यों का ग्रहण है और श्रौती उपमा है।

इसी पद्य में (२-३) **कथमिन्दुरिवाननं तवेदं द्युतिभेदं न दधाति यत्कदापि**—अर्थात् यह तुम्हारा आनन चन्द्रमा की तरह कैसे हो सकता है, क्योंकि यह कभी कान्ति को धारण नहीं करता—इसकी चमक कभी घटती-बढ़ती नहीं।' यह उत्तरार्ध बना देने पर अथवा इसका चौथा चरण—**द्युतिभेदं खलु यो दधाति नित्यम्**—अर्थात् जो हमेशा ही कान्तिभेद को धारण करता है—जिसकी चमक हमेशा घटती बढ़ती रहती हैं।' यों बना देनेपर पहिले में केवल उपमेय के उत्कर्षक वैधर्म्य का ग्रहण हो जाता है और दूसरे में केवल उपमान के अपकर्षक वैधर्म्य का ग्रहण हो जाता है और श्रौती उपमा है।

और यदि (४) **कथमिन्दुरिवाननं मृगाक्ष्या भवितुं युक्तमिदं विदन्तु सन्तः**—अर्थात् मृगाक्षी का मुख इन्दु के समान कैसे हो सकता है यह विद्वानों को जानना चाहिए।' यदि ऐसा बना दिया तो किसी भी हेतु का ग्रहण नहीं रहता और श्रौती उपमा है।

यहाँ इतना और समझ लीजिए कि उपमेय के उत्कर्षक और उपमान के अपकर्षक दोनों हेतुओं में से जहाँ जिसका ग्रहण नहीं होता वहाँ उसका बोध आक्षेप से हो जाता है, और दोनों का ग्रहण न करने पर भी वही बात है। यह कभी न समझना चाहिए कि शब्दतः ग्रहण न करने मात्र से हेतुओं का बोध नहीं होता। यदि हेतुओं का बोध न हो तो व्यतिरेक ही नहीं हो सकता हो सकता, क्योंकि व्यतिरेक का स्वरूप ही है उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष और बिना निमित्त के उनका बोध हो नहीं सकता।

यह तो हुए श्रौती के उदाहरण, अब आर्थी के चारों उदाहरण लीजिए।

(१) नयनानि वहन्तु खञ्जनानामिह
नानाविधमङ्गभङ्गभाग्यम् ।
सदृशं कथमाननं सुशोभं
सुदृशो भङ्गुरसंपदाम्बुजेन ॥'

इस जगत् में (अन्य नायिकाओं के) नयन खंजनों के नानाविध अंगचालन के भाग्य को धारण करते हैं, किन्तु इस सुनयनी का सुशोभित मुख विनाशशील शोभावाले कमल के सदृश कैसे हो सकता है।

यहाँ उपमेय के उत्कर्ष (मुख की सुशोभितता) और उपमान के अपकर्ष (कमल की शोभा की विनाशशीलता) दोनों का ग्रहण है और आर्थी उपमा है।

इनका उत्तरार्ध 'वदनं तु कथं समानशोभं सुदृशो भङ्गुरसंपदाम्बुजेन=सुनयनी का मुख विनाशशील शोभावाले कमल के समान शोभावाला कैसे हो सकता है।' यह बना देने पर केवल उपमान का अपकर्ष ही रह जाता है और 'भङ्गुरसम्पदाम्बुजेन' इसके स्थान पर 'शाश्वत संपदम्बुजेन'—निरन्तर शोभावाला मुख कमल के समान शोभावाला कैसे हो सकता है।' यह कर देने पर केवल उपमेय के उत्कर्ष का ही ग्रहण हो जाता है और आर्थी उपमा है। और 'सदृशं कथनाननं मृगाक्ष्या भविताहन्त निशाधिनायकेन—अर्थात् मृगनयनी का मुख चन्द्रमा के सदृश कैसे होगा।' यह कर देने पर उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष दोनों के ग्रहण का अभाव हो जाता है और आर्थी उपमा है। किन्तु यह स्मरण रहे कि इस पद्य के पूर्वार्ध में तो निदर्शना ही है।

अब आक्षिता उपमा वाले व्यतिरेक के चारों उदाहरण सुनिए—

कतिपयदिवसविलासं नित्यसुखासङ्गमङ्गलसवित्री ।
खर्वयति स्वर्वासं गीर्वाणधुनीतटस्थितिर्नितराम् ।।

गंगा जी के तट पर निवास, जो कि नित्य सुख (मोक्ष) की आसक्ति और मङ्गल को उत्पन्न करनेवाला है। कुछ दिन के विलास वाले स्वर्ग के निवास को (अपनी अपेक्षा) अत्यन्त हीन कर देता है।

यहाँ केवल सादृश्यवाचक 'इव' आदि शब्दों के और सादृश्य-विशिष्ट के वाचक 'सदृश' आदि शब्दों के अभाव से उपमा न तो श्रौती है और न आर्थी है, किन्तु 'हीन कर देने' के द्वारा आक्षिप्त ही है।

इसी पद्य का 'निःसंगैरभिलषिता—संगरहित पुरुषो से अभिलषित' यह प्रथम चरण बना देने पर केवल उपमेय के उत्कर्ष से युक्त व्यतिरेक रह जाता है और 'संपातदुरन्तचिन्तयाकुलितम्—गिरने की दुःखान्त चिन्ता से आकुल' इस तरह द्वितीय चरण बना देने पर उपमेय के उत्कर्ष से रहित व्यतिरेक हो जाता है और उपमा आक्षिप्त है ही। और यदि पूर्वार्ध 'सर्वानर्वाचीनान्निर्वास्य मनोरथाननन्यजुषाम्—अर्थात् अनन्य भक्तों के सभी अर्वाचीन (इस लोक के) मनोरथों को हटा कर' यों बना दिया जाय तो दोनों वैधर्म्यो का ग्रहण नहीं रहता।

सश्लेष व्यतिरेक का उदाहरण, जैसे—

क्रूरसत्त्वाकुलो दोषाकरभूस्तोयधिर्यथा ।
न तथा त्वं यतो भूप स्थिरधीरसि निर्मलः ।।

हे राजन्, जैसे समुद्र 'क्रूरसत्त्वाकुल (निर्दय जलजन्तुओं से व्याकुल + क्रूर अन्तःकरण से व्याकुल) और दोषाकरभू (चन्द्रमा का उत्पत्तिस्थान + दोषों की आकर भूमि) है वैसे तुम नहीं हो, क्योंकि

तुम स्थिरबुद्धि हो और निर्मल हो। यहाँ श्रौती उपमा है और श्लेष तो स्पष्ट ही है।

राजन्प्रचण्डमार्तण्डमण्डलोद्दण्डशासन।
कथमक्रूरसत्त्वस्त्वं पयोधिरिव गीयसे॥

प्रचण्ड मार्तण्डमण्डल के समान उद्दण्ड शासन करने वाले हे राजन्, आप 'अक्रूरसत्त्व' (क्रूर जल जन्तुओं से रहित + क्रूर स्वभाव से रहित) होने पर भी समुद्र के समान कैसे वर्णन किये जाते हैं।

इस उदाहरण में उपमान के अपकर्ष का ग्रहण नहीं है और पूर्वोक्त पद्य का उत्तरार्ध

कथंवार्धिरिवासि स्वं यतः स विषभागयम्*—

अर्थात् आप समुद्र की तरह कैसे हो, क्योंकि वह तो विषयुक्त अथवा क्रूरता से युक्त है।

यह कर देने पर केवल उपमान के अपकर्ष से युक्त व्यतिरेक हो जाता है। यह श्लिष्ट श्रौती का उदाहरण है।

अब श्लिष्ट आर्थी का उदाहरण; जैसे—

महेन्द्रतुल्यं कवयो भवन्तं वदन्तु किं तानिह वारयामः।
भवान्सहस्रैः समुपास्यमानः कथं समानस्त्रिदशाधिपेन॥

(हे राजन्) आपको कवि लोग महेन्द्र के समान कहें, हम मना नहीं करते, किन्तु सहस्रों से सेवन किये जाने वाले आप त्रिदशाधिप (तीस, अथवा तीन या दस व्यक्तियों के स्वामी) के समान कैसे हो सकते हैं।

---

*—'सोऽयं वार्धिः विषभाक्' अथवा 'अयं सविषं (क्रूरत्व) भजति' इत्यर्थः।

. यहाँ उपमा आर्थी है 'त्रिदशाधिप' शब्द का अर्थ 'तीस का स्वामी' यह 'संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' (२।२।२५) इस सूत्र से बहुव्रीहि कर लेने पर और 'बहुव्रीहौ संख्येये' (५ ४।७३) इस सूत्र से डच् प्रत्यय हो जाने पर तत्पुरुष समास के द्वारा 'तीन बार दश' यह अर्थ होकर तीस यह अर्थ हो ज़ाता है। समास होने पर 'सुच्' प्रत्यय की आवश्यकता न रहने से त्रिदश शब्द में उसका प्रयोग नहीं होता। अथवा 'तीन अथवा दस' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास कर दिया जाय।

इसी पद्य का उत्तरार्ध '**भवान्सदा रक्षितगोत्रपक्षः समानकक्षः कथमस्य युक्तः**—अर्थात् आपने तो सदा 'गोत्रपक्ष' (कुटुम्ब के पक्ष + पहाड़ों के पंखों) की रक्षा की है आप इसकी समानकक्षा में कैसे आ सकते हैं ? (क्योंकि इन्द्र ने तो पहाड़ों के पंख काटे हैं)' यह कर देने पर केवल उपमेय का उत्कर्ष रह जाता है और '**कथं निरस्ताखिलगोत्रपक्षः समानकक्षस्तव युज्यते सः**—अर्थात् जिसने समग्र गोत्रपक्ष(कुटुम्बका पक्ष + पहाड़ों के पंखों) को निरस्त कर दिया है वह तुम्हारी समान कक्षा में होने योग्य कैसे है।' यह कर देने पर केवल उपमान के अपकर्ष का ग्रहण हो जाता है।

संख्याभेद पर विचार

यहाँ यह समझना चाहिए कि श्लिष्ट वैधर्म्य वाले व्यतिरेक में 'जहाँ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष इन दोनों का ग्रहण न हो' ऐसे श्रौती, आर्थी और आक्षिप्ता उपमावाले तीनों भेदों का सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि वैधर्म्य का ग्रहण ही न होगा तब श्लेष किस आधार पर रहेगा। यदि आप कहें कि जहाँ उपमेय-उपमान का बोध द्विज, सुरालय, मातरिश्वा आदि श्लिष्ट शब्दों से हो वहाँ श्लेष का अपने शब्द से ही ग्रहण होने से श्लेष व्यतिरेक को उपस्थित कर सकता है सो ऐसी जगह वैसे उदाहरण सुखपूर्वक सिद्ध किए जा सकते हैं। तो यह उत्तर उचित नहीं; क्योंकि वहाँ भी उपमानवाचक अथवा उपमेय-

वाचक शब्द से प्रतीत ही वैधर्म्य के बोध का सम्भव है तब उभयानुपादान कहाँ रहा ? इस तरह प्राचीनों ने जो इसके चौबीस भेद लिखे हैं वे असिद्ध ही हैं। उनको अनेक उदाहरणों के अभिज्ञ विद्वानों को किसी तरह सिद्ध करना चाहिए। तात्पर्य यह कि हमें तो कोई उदाहरण मिला नहीं। दूसरी बात यह है कि उपमा के सभी भेदों का व्यतिरेक में भी संभव है, फिर केवल चौबीस भेदों का गिनना व्यर्थ ही है।

एक शङ्का और उसका उत्तर

कहा जा सकता है कि यह अलङ्कार वैधर्म्य के कारण बनता है, अतः इसका उपमा के प्रतिकूल होना उचित है, न कि उपमा से गर्भित होना, क्योंकि उपमा समानधर्म के कारण होती है और व्यतिरेक की तो प्रवृत्ति ही समानधर्म के निषेध रूप से होती है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि यह हमें स्वीकार है। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने से (उपमागर्भ मानने वाले प्राचीनों के) सिद्धान्त का भंग हो जायगा। इस शङ्का का समाधान यह है कि आपका कहना सच है, किन्तु जिस गुण को सामने रखकर उपमेय का उपमान से सादृश्य का निषेध उत्कर्ष में पर्यवसित होता है उसका उस गुण के द्वारा सादृश्य स्थिर न होने पर भी अन्य गुणों द्वारा सादृश्य का बोध निवारण नहीं किया जा सकता* क्योंकि यदि सर्वथा ही उसके साथ सादृश्य का निषेध कहना अभीष्ट होता तो विशेष प्रकार के गुण का वर्णन करना ही निरर्थक हो जाता।

---

*—यहाँ नागेशने लिखा है कि—'व्यतिरेक में निषेध्य गुण के कारण तदतिरिक्त गुणों के द्वारा सादृश्य का बोध होता है' यह कहना सारहीन है क्योंकि 'कथमिन्दुरिवाननं त्वदीयम् = तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान कैसे हो सकता है' इस पद्य में चन्द्रमा के साथ मुख का

हम देखते हैं कि 'यह मनुष्य उससे धन के कारण बड़ा है' यह कहने पर सार्वजनिक बोध यही होता है कि विद्या, रूप और कुल में

सादृश्य बतलाते हुए जिस कलङ्करहितता अथवा कलंकसहितता का वर्णन है, उस कलङ्करहितता अथवा कलङ्कसहितता से युक्त चन्द्र का मुख के साथ सादृश्य न तो प्रसिद्ध है, क्योंकि चन्द्र से मुखकी तुलना करने वाले कलङ्क को दृष्टि में रखकर नहीं करते—और न वह उपपत्ति का विषय ही है कि जिस (कलङ्करहितता अथवा कलङ्कसहितता) का निषेध कर देने से अन्यगुणकृत सादृश्य प्रतीतिगोचर हो सके, किन्तु इस जगह इस न्यूनता अथवा अधिकता के द्वारा अन्य-धर्मकृत जो मुख में चन्द्रसादृश्य है उसी का अभाव प्रतिपादन किया जा रहा है, अथवा चन्द्रमा का अपकर्ष दिखाया जा रहा है। वह चन्द्रमा में मुख के सादृश्य का अभाव अथवा 'मुख से अपकर्ष' सामान्यतया सर्वधर्मकृत सादृश्य का ही दिखाया जा रहा है, किसी विशेष धर्म का नहीं। और 'कथं तुलयामः कलयाऽपि पङ्कजम्=कमल से मुख की तुलना एक अंश में भी कैसे की जा सकती है' यहाँ तो मुख के साथ कमल की तुलना का सर्वथा ही निषेध प्रतीत होता है, अतः प्राचीनों का व्यतिरेक में सादृश्यगर्भता के विषय में उक्त आशय समझना ठीक नहीं। किन्तु यह समझना चाहिए कि 'उक्त न्यूनाधिकता का वर्णन न करने पर जिनका सादृश्य हो सकता है उन्हीं का व्यतिरेक होता है, अतः व्यतिरेक को सादृश्यगर्भ कहा जाता है।' और वह सादृश्यगर्भता का व्यवहार इसलिए है कि जिसका सादृश्य प्रसिद्ध नहीं है, जैसे कुमुद और मुख का, वहाँ भी 'कुमुदादतिरिच्यते मुखम्—मुख कुमुद से बढ़कर है' इत्यादि कह देने से व्यतिरेकालङ्कार न हो जाय। दूसरे, सादृश्यगर्भ मानने का यह भी एक प्रयोजन है, कि व्यतिरेक में गुणान्तर का निषेध ही चमत्कारी नहीं है, किन्तु गुणान्तर कहकर गुणान्तर का

यह उसके समान है। सो इससे यह सिद्ध हुआ कि व्यतिरेक में (अन्य-गुणकृत) साहश्य की प्रतीति होने पर भी किसी विशेष गुण के द्वारा किये जाने वाले साहश्य के निषेधसे उठाये गये उत्कर्ष के कारण वह साहश्य निष्प्रभसा हो जाता है, और इस तरह जकड़-सा जाने के कारण किसी विशेष चमत्कार को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहता यह है प्राचीनों का आशय।

व्यतिरेक के अन्य भेद

इस अलङ्कार में तीन विकल्प हो सकते हैं—

(१) किसी व्यतिरेक में साहश्य का निषेध शब्द से वर्णित होता है और उसके कारण उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष आक्षिप्त होते हैं।

(२) किसी व्यतिरेक में उपमेय का उत्कर्ष शब्द से वर्णित होता है और उसके द्वारा उपमान का अपकर्ष और साहश्य का अभाव आक्षिप्त होते हैं। और

(३) किसी व्यतिरेक में उपमान का अपकर्ष शब्द से वर्णित होता हैं और उपमेय का उत्कर्ष तथा साहश्य का अभाव आक्षिप्त होते हैं।

उनमें से पहिले प्रकार के प्राचीन रीति से भेद सहित उदाहरण दिये जा चुके हैं। दूसरे और तीसरे प्रकार के भी प्रायः उतने ही भेद हो सकते हैं। उनमें से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

साहश्य भी चमत्कारी होता है, जैसे कहा जाय कि 'यज्ञदत्त देवदत्त के समान है, पर धन उसके अधिक है' इत्यादि में विद्यादिकृत साहश्य भी व्यतिरेक में चमत्कारी ही रहता है, क्योंकि इस कथन से देवदत्त की उद्भट विद्यादि की प्रसिद्धि प्रतीति होती है। इस कारण भी व्यतिरेक को साहश्यगर्भ कहा जाता है।

निशाकरादालि कलङ्कपङ्किलाद्गुणाधिकं निर्मलमाननं ते।
अनल्पमाधुर्यकिरोऽधरादिमा गिरोऽधरा गुप्तरसाः कवीनाम् ॥

नायिका की सखी नायिका से कहती है,—हे सखि, कलङ्क के कीचड़ में सने हुए निशाकर से तुम्हारा आनन गुणों के कारण अधिक है और अनल्प माधुर्य्य बरसने वाले तुम्हारे अधर से गुप्तरसवाली कवियों की वाणियाँ नीची हैं।

यहाँ पूर्वार्ध में उपमेय का उत्कर्ष शब्द द्वारा वर्णित है और उपमान का अपकर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त हैं। उत्तरार्ध में उपमान का अपकर्ष शब्द द्वारा वर्णित और उपमेय का उत्कर्ष और सादृश्य का अभाव आक्षिप्त हैं।

इसी तरह कहीं दो या तीन का शब्द से वर्णित होना संभव होने पर भी अधिक सुन्दर नहीं होता इसलिये उसके उदाहरण नहीं दिये गये।

कहीं कहीं तीनों ही आक्षिप्त होते हैं; जैसेः—

अपारे किलसंसारे विधिनैकोऽर्जुनः कृतः।
कीर्त्या निर्मलया भूप त्वया सर्वेऽर्जुनाः कृताः ॥

अपार संसार में विधाता ने केवल एक अर्जुन बनाया, पर हे राजन्, तुमने निर्मल कीर्त्ति से सबको अर्जुन (श्वेत) कर दिया।

अशीतलोग्रश्चण्डांशुरनुग्रोशिशिरः शशी ।
उग्रशीतस्त्वमेकोऽसि राजन्कोपप्रसादयोः ॥

हे राजन्, सूर्य्यशीतल नहीं है और उग्र है, चन्द्रमा उग्र नहीं है और शीतल है, किन्तु आप अकेले ऐसे हैं जो कोप के समय उग्र और प्रसन्नता के समय शीतल इस तरह उग्र शीतल दोनों ही हैं।

अथवा जैसे—

स तु वर्षति वारि वारिदस्त्वमुदाराशय रत्नवर्षणः।
स कुहूरजनीमलीमसस्त्वमिहान्तर्बहिरेव निर्मलः॥

हे उदाराशय, वह (प्रसिद्ध मेघ) तो पानी बरसता है, किन्तु तुम रत्न बरसते हो और वह (प्रसिद्ध चन्द्रमा) तो अमावस्या की रात्रि में मलिन हो जाता है और आप इस संसार में अन्दर और बाहर दोनों ही जगह निर्मल हैं।

यहाँ उपमान और उसके विशेषणों के ग्रहण से व्यतिरेक आक्षिप्त ही है, अतः व्यङ्ग्य होने का भ्रम कभी न करना चाहिए। कारण, जब तक कोई अनुपपत्ति का लेश न हो तब तक व्यंजना उपस्थित ही नहीं हो सकती, किन्तु यहाँ राजा के विशेषण को किसी प्रकार प्रशंसार्थक मानने पर भी उपमान और उसके विशेषणों का ग्रहण राजाके उत्कर्ष के विना अनुपपन्न हैं, अतः उनकी अनुपपत्ति जग रही है। किन्तु जहाँ उपमान और उसके विशेषणों के ग्रहण के विना ही केवल उपमेय के विशेषणों से—जैसे कि 'देवदत्त सुन्दर है' इत्यादिक में वस्तुस्थिति के प्रकाशन के कारण, विशेषणों के कृतार्थ हो जाने पर भी किसी विशेष अभिप्राय के कारण अपने से विलक्षण विशेषणों से युक्त अन्य धर्मी की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष प्रतीत होता है वह व्यञ्जना का विषय है; जैसे

'न मनागपि राहुरोषशङ्का न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः।
उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम्॥'

हे भामिनि, तुम्हारे मुख को राहु के रोष की किंचिद् भी शङ्का नहीं है, न कलङ्क का अनुगम है और न सफेदी है। तुम्हारे मुख की अनिर्वचनीय शोभा तो चौतरफ से नित्य बढ़ती ही जाती है।

यह व्यतिरेक की अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है।

अलङ्कारसर्वस्व और उसकी टीका विमर्शिनी का खण्डन

और जो अलङ्कार सर्वस्वकार ने उपमान से उपमेय के न्यून होने पर भी व्यतिरेक कहा है, क्योंकि उनके मत से विलक्षणतामात्र व्यतिरेक है और उदाहरण दिया है—

"क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि! यौवनमनिवर्ति यातं तु॥

हे सुन्दरि, चन्द्रमा क्षीण होता है तो भी फिर-फिर बढ़ता रहता है, यह सत्य है, किन्तु गया हुआ यौवन लौटता नहीं, अतः कोप समाप्त कीजिए और प्रसन्न होइये।"

और इस पर अलङ्कारसर्वस्व की व्याख्या विमर्शिनी के कर्त्ता ने पूर्वपक्ष और सिद्धान्त सहित यों व्याख्या की है—"यदि यह शङ्का की जाय कि यहाँ व्यतिरेक कहना योग्य नहीं, क्योंकि यहां उपमान से उपमेय की न्यूनता बताई गई है और वह वस्तुतः होती ही है, क्योंकि उत्कृष्ट गुण वाले को ही तो उपमान बनाया जाता है, इसलिए ऐसा बताना सुन्दर नहीं है। यहाँ यौवन की अस्थिरता के प्रतिपादन में चंद्रमा की अपेक्षा यौवन को अधिक गुण वाला कहना अभीष्ट है, क्योंकि यह चले जाने पर चन्द्रमा की तरह फिर नहीं आता। दूसरे, यहाँ प्रिय सखी का प्रियतम के प्रति कोप शान्त होने के लिए नायिका को यह उपदेश है कि 'यौवन यदि चन्द्रमा की तरह जाने पर फिर आ जाय तो प्रियतम के प्रति अधिक समय तक ईर्ष्यादिक चलाते रहना उचित है, किन्तु यह हत यौवन जाने पर फिर नहीं लौटता इसलिए ईर्ष्यादिक विघ्नों का हटाकर प्रियतम के साथ निरन्तर रहकर अपने जीवन को सफल करना चाहिए। ईर्ष्या को धिक्कार है, प्यारे

के प्रति कोप को छोड़ दीजिए और प्रसन्नता प्रकट कीजिए।' यहाँ चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन के फिर न लौटने को न्यूनगुणता के रूप में कहना अभीष्ट है, इसलिए न्यूनता भी व्यतिरेक है और यह न्यूनता रसपोषक होने के कारण सुन्दर भी है।"

ये दोनों ही कथन ठीक नहीं। कारण, यह प्रियतम का हित करने वाली सखी का वचन है, अतः इसमें यौवन का चन्द्रमा से अधिक गुणवाला होना ही कहना अभीष्ट है, न्यूनगुणवाला होना नहीं, क्योंकि चन्द्रमा बार-बार आने से संसार में सुलभ है, अतएव उतना महत्त्वशाली नहीं, किन्तु यह यौवन फिर नहीं लौटता इसलिए दुर्लभ होने के कारण उत्कृष्ट है, अतः मान आदि के द्वारा, जो शठ लोगों से प्रशंसनीय है, आप जैसी चतुर नायिका का यौवन को व्यर्थ बिता देना उचित नहीं है, इस तरह जिस गुण का यहाँ ग्रहण किया गया है, उससे चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन का उत्कर्ष स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त पद्य में जिन गुणों का ग्रहण नहीं किया उन 'संपूर्ण सुखों का मूल कारण होना' आदि गुणों के कारण होने वाला यौवन का उत्कर्ष भी वाक्यार्थ को परिपुष्ट करने के लिए सहृदयों के हृदयपथ में आता ही है, अन्यथा 'क्यों इस दुष्ट यौवन के लिए मुझे मानविरत होना चाहिए, मरने दो इस यौवन को' इस प्रतिकूल अर्थ के उपस्थित हो जाने से प्रकृत अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकेगी। इतना ही नहीं, किन्तु अन्यत्र भी जहाँ कहीं उपमेय का अपकर्ष शब्द से वर्णित हो वहाँ भी वह वाक्यार्थ में पर्यसित होने पर उत्कर्षरूप में परिणत हो जाता है। जैसे—

द्रोहो निरागसां लोके हीनो हालाहलादपि।
अयं हन्ति कुलं साग्रं भोक्तारं केवलं तु सः॥

संसार में निरपराधियों का द्रोह, हालाहल (जहर) से भी हीन है,

क्योंकि यह आगामी पीढियों सहित वंश को नष्ट करता है और वह केवल खानेवाले को।

यहाँ 'हीन' शब्द से बताया हुआ अपकर्ष दारुणता की अधिकता रूपी उत्कर्ष के रूप में परिणत हो जाता है। इसी तरह

इन्दुस्तु परमोत्कृष्टो यः क्षीणो वर्धते मुहुः।
धिगिदं यौवनं तन्वि! क्षीणं न पुनरेति यत्॥

चन्द्रमा तो परम उत्कृष्ट है जो क्षीण होने पर फिर बराबर बढ़ता रहता है, हे तन्वि, इस यौवन को धिक्कार है जो क्षीण होने पर फिर नहीं लौटता।

इत्यादिक में ग्रहण किए हुए 'फिर न लौटने' रूपी यौवनधर्म के मान के प्रतिकूल होने के कारण धिक्कार आदि का कथन केवल द्वेष से ही है; वास्तविक अपकर्ष से नहीं, क्योंकि यहाँ 'दुर्लभता' और 'प्रियसमागम का उल्लासक होना' रूपी धर्मों से यौवन का उत्कर्ष स्पष्ट ही है।

कुवलयानन्द का खण्डन

अलङ्कारसर्वस्व द्वारा उक्त अर्थ को अनूदित करने वाले कुवलयानन्दकारने न्यूनता का यह उदाहरण दिया है—

"रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥"

विरही अशोक से कह रहा है—हे अशोक, तू नवीन पल्लवों से रक्त (लाल) है और मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुझ पर शिलीमुख (भौरें) आते हैं और हे सखे, मुझ पर भी कामदेव के धनुष से मुक्त शिलीमुख (बाण) आते हैं। कान्ता के चरणतल का प्रहार तुम्हारे लिए भी आनन्द जनक है और मेरे लिए भी। सो तुम्हारे और मेरे सब समान हैं, केवल (इतना ही भेद है कि) विधाता ने तुम्हें अशोक बनाया है और मुझे सशोक।'

यहाँ सशोक होने के कारण अशोक की अपेक्षा अपकर्ष पर्यवसित होता है।"

यह भी विचारणीय है। जैसे रसादिक के अनुकूल होने के कारण किसी अंग से भूषण हटा देना ही शोभा का बढ़ाने वाला होता है वैसे प्रकृत में उपमालङ्कार का हटा देना मात्र ही रस के अनुकूल होने के कारण रमणीय हो गया है। सो यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है ही नहीं। इसीलिए प्राचीन आचार्य असमालङ्कार नहीं मानते, क्योंकि वह उपमा का हटाना मात्र है, अन्यथा तुम्हें यहाँ एक अन्य अलङ्कार के रूप में असमालङ्कार के स्वीकार करने की आपत्ति आ जायगी। जैसे—

भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः।
न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप! यस्ते भजते तुलापदम् ॥

त्रिलोकी के देव मानव और दानवों से परिपूर्ण होने पर भी, हे नृप, ऐसा (पुरुष) न हुआ, न है और न होगा जो तुम्हारी समानता का स्थान ग्रहण करे। इत्यादि में। सो तुमने माना नहीं है।

इसी कारण सहृदयशिरोमणि ध्वनिकार ने "सुकविस्तु रसानुसारेण क्वचिदलंकारसंयोगं क्वचिदलंकारवियोगं च कुर्यात्—अर्थात् अच्छे कवि को रस के अनुसार कहीं अलङ्कार का संयोग और कहीं अलङ्कार

का वियोग करना चाहिए" यह कहकर उपर्युक्त 'रक्तस्त्वम्' इस पद्य को सादृश्य हटाने के उदाहरण रूप में उपस्थित किया* है और इसी

*यहाँ नागेश ने लिखा है—"गुणों की अधिकता के कारण उपमान से उपमेय में विलक्षणता ही व्यतिरेक है। वह विलक्षणता कहीं उपमेय के उत्कर्ष में पर्यवसित होती है, कहीं उसके अपकर्ष में और कहीं दोनों में ही नहीं। 'आधिक्य और न्यूनता' शब्दों का तात्पर्य यहाँ 'उत्कर्ष और अपकर्ष' अर्थों में ही है। उनमें से अपकर्षपर्यवसायी वैलक्षण्य का उदाहरण है 'रक्तस्त्वम्' यह पद्य। यहाँ यद्यपि 'सशोकता' आदि से उपमेय में चेतनता, सहृदयता आदि की तथा 'शोकरहित' और 'शोकसहित' पदों से शोक की—इस तरह उपमेय में गुणाधिक्यकी प्रतीति होती है तथापि 'शोक' स्वरूपतः अपकृष्ट है और यह विरही का वाक्य है, अतः इस वाक्य का 'अचेतनता ही अच्छी, न कि प्रियावियोगादि से जन्य शोक का स्थान चेतनता' इस प्रतीति में पर्यवसान होने के कारण कवि ने जो विरह के अनुकूल तात्पर्य बाँधा है तद्विषयक (उपमेय का) अपकर्ष ही पर्यवसित होता है। अतएव 'प्रिया वियोगादि' भी हममें तुल्य है इस अर्थवाला 'सब तुल्य है' यह कथन सार्थक होता है। अतः यहाँ "उपमालङ्कार का दूरीकरण ही रमणीय है और इसी तात्पर्य्य से ध्वनिकार ने यह उदाहरण दिया है" इत्यादि कथन परास्त है। 'सशो-कता' का वर्णन होने पर भी 'रक्तत्व' आदि धर्मों से सादृश्य, विरह का पोषक होने के कारण चमत्कारी है, अतः उसे छिपाया नहीं जा सकता, अन्यथा उन्नततादि से भी सादृश्य न हो सकेगा। अलङ्कार-वियोग का उदाहरण तो आपका 'भुवनत्रितयेऽपि०' यह पद्य समझना चाहिए।"

यहाँ पण्डितराज और नागेश दोनों ने गड़बड़ मचा कर ध्वनिकार को व्यर्थ ही घसीटा है। ध्वनिकार ने 'रक्तस्त्वम्' इस पद्य को श्लेषा-

लिए मम्मट भट्ट ने "आधिक्यमात्रं व्यतिरेकः—अर्थात् केवल आधिक्य ही व्यतिरेक है" यह कहा है और व्यतिरेक में न्यूनता को हटा दिया है।

इसलिए उपमान से उपमेय के उत्कर्ष का नाम ही व्यतिरेकालङ्कार है, अपकर्ष का नहीं। किन्तु यदि न्यूनत्व भी व्यतिरेक है यह आग्रह है तो यह उदाहरण दिया जाना चाहिए—

लङ्कार के त्याग का उदाहरण बताया है, उपमालङ्कार के त्याग का नहीं। यह है उनका ग्रन्थ—

"अवसरे त्यागो यथा—'रक्तस्त्वम्' इत्यत्र प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसं पुष्णाति—अर्थात् अवसर पर त्याग; जैसे 'रक्तस्त्वम्' इस पद्य में व्यतिरेक की विवक्षा से छोड़ा हुआ, संपूर्ण पद्य में चालू भी, श्लेष रस का पोषक है।"

"यहाँ 'सादृश्यदूरीकरण' का नाम ही नहीं है तथापि श्लेषत्याग अन्ततः उपमात्याग में परिणत हो जाता है, अतः पण्डितराज के ग्रन्थ की तो संगति हो जाती है, 'किन्तु अलंकारवियोग' की चर्चा का खण्डन करनेवाले नागेश तो लटकते ही रह जाते हैं।

नागेश ने यहाँ एक और भी विचित्र लीला की है। प्रदीपोद्द्योत में उनने स्वय लिखा है—"एतेन 'रक्तस्त्वम्०' इत्यत्रोपमेयन्यूनता-पर्यवसायी व्यतिरेक इत्यपास्तम्"। और यहाँ कहते हैं—"तच्च (वैल-क्षण्यंच अर्थात् व्यतिरेकः) कुचिदुपमेयोत्कर्षपर्यवसायि, क्वचित्तदपकर्ष-पर्यवसायि, क्वचित्तदनुभयपर्यवसायि। आधिक्यन्यूनत्वशब्दावप्युत्कर्षा-पकर्षपरावेव। तत्रापकर्षपर्यवसायि 'रक्तस्त्व' मित्यत्र"

इतने बड़े पण्डित ने अपनी ही लेखनी से अपने ही विरुद्ध कैसे लिख डाला सो ईश्वर ही जाने।

—अनुवादक

जगत्त्रयत्राणधृतव्रतस्य क्षमातलं केवलमेव रक्षन्।
कथं समारोहसि हन्त राजन्सहस्रनेत्रस्य तुलां द्विनेत्रः॥

हे राजन्, आप द्विनेत्र होते हुए और केवल पृथ्वीतल की ही रक्षा करते हुए त्रिलोकी की रक्षा का नियम धारण करने वाले सहस्र नेत्र (इन्द्र) की समानता को कैसे प्राप्त करते हैं।

यहाँ 'केवल दो धर्मों से आप (इन्द्र से) न्यून हैं, अन्य धर्मों से तो समान ही हैं' इस प्रतीति के कारण विशेष चमत्कार होने से अलङ्कारता आ जाती है। यदि ऐसा मानना हो तो लक्षण में इस तरह का अपकर्ष समाविष्ट कर दिया जाना चाहिए।

और जो कुवलयानन्दकारने अनुभयपर्यवसायी व्यतिरेक का उदाहरण दिया है—

"दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥

कृपण और कृपाण में केवल 'आकार' से (आकार की मात्रा से + आकृति से) ही भेद है अन्यथा वह भी 'दृढतरनिबद्धमुष्टि' (खूब मुट्ठी मींचनेवाला—अर्थात् पैसे को न छोड़ने वाला + जिसकी मूंठ बड़ी मजबूत बंधी हुई है ऐसा) है 'कोष (खजाना + मियान) में बैठा रहता है' और 'सहज मलिन' (स्वाभाविक मलिन + काले रंग का) होता है और यह भी वैसा ही होता है।"

सो इस विषय में आयुष्मान ने निपुणता* से निरीक्षण नहीं किया। देखिए, हम आप से पूछते हैं कि यहाँ 'उपमान से उत्कर्षरूपी व्यतिरेक'

---

* नागेश कहते हैं—यहाँ यह विचारणीय है।

को आपने अनुभयपर्यवसायी बताया है अथवा अलङ्कारसर्वस्वकार आदि के कथनानुसार 'उपमान के अपकर्ष' रूपी व्यतिरेक को ? उनमें से पहिला अर्थात् ''उपमान से उत्कर्ष' यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ

''(क) यद्यपि 'दृढतर०' इस पद्य में श्लेष है तथापि 'सर्वदोमाधव' के समान यहाँ अभेदाध्यवसाय नहीं है, किन्तु 'आकार' शब्द के दो अर्थ 'दीर्घ अकार' और 'अवयवसंस्थान' ये परस्पर संबद्ध होने के लिए 'भेद' के साथ अन्वित हो जाते हैं, उनमें अभेद का अध्यसाय आवश्यक नहीं और यदि अभेदाध्यवसाय हो भी तथापि उसकी उपमान-उपमेय में साधारणता नहीं है, क्योंकि 'भेद' शब्द से साधारणता का तिरस्कार हो जाने के कारण यह अभेदाध्यवसाय 'सकलकलम्' के समान उपमा-निष्पादक नहीं है।"

पर इसका जो निराकरण पण्डितराज ने किया है कि ''तब 'दीर्घाक्षरा-देव' ही कहते" उसका क्या उत्तर है?—अनुवादक

(ख) और जो यह लिखा है कि—''दीर्घाक्षर उपमान में है अतः उपमान का उत्कर्ष करता है उपमेय का नहीं" सो भी ठीक नहीं, क्योंकि उपमान का लक्षण है" सादृश्य का प्रतियोगी होना' सो वह 'यहाँ भी हो सकता है, जिस तरह प्रतीपालंकार में होता है। प्रतीपालङ्कार में मुख उपमान और चन्द्र उपमेय हो जाता है वैसे यहाँ भी 'कृपाण' उपमेय और 'कृपण' उपमान हो जायगा, तथा कृपाण में 'दीर्घाक्षर रूप' गुण का आधिक्य है ही, अतः उपमेय में गुणाधिक्य भी बन जायगा। 'अकलंकमुखसदृशो न सकलंकश्चन्द्रः—सकलंक चन्द्र अकलंक मुख के समान नहीं है' इत्यादि वाक्यों में इसी प्रकार का उपमानोपमेयभाव निभाना भी पड़ता ही है।'

नागेश की यह बात भी यहाँ ठीक बैठती नहीं, क्योंकि प्रतीप में वैसा (प्रकृत को उपमान और अप्रकृत को उपमेय) माने बिना अल-

उत्कर्ष के प्रयोजक धर्म की उपस्थिति नहीं है। यदि आप कहें कि श्लेष से दीर्घ अक्षर की उपस्थिति है ही—अर्थात् कृपण में 'अ' की मात्रा

ङ्कार ही नहीं बनता। सो अनुपपत्ति तो है नहीं। रहा यह कि 'अकलंकामुखसदृशो न सकलङ्कश्चन्द्रः' इस व्यतिरेक की तरह यहाँ भी प्रकृत को उपमान माना जाय, सो भी ठीक नहीं क्योंकि आगे ग्रन्थकार ने ऐसे प्रतीप को भी उपमा के अन्तर्गत ही माना है। उनकी उपपत्ति यह है कि 'वाक्यभेद से कोई अलङ्कारान्तर नहीं होता' अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य में व्यतिरेक प्रतीपोपमामूलक है, पर 'कृपण' और 'कृपाण' में जब वैसा वाक्य नहीं है तब भी प्रकृत को उपमान माना जाय इसमें कोई युक्ति नहीं है। —अनुवादक

(ग) और जो आपने (पण्डितराज ने) इस पद्य के विषय में "कुवलयानन्दकार ने अनुभयपर्यवसायी व्यतिरेक का उदाहरण दिया है" यह लिखा है, सो भी नहीं है। क्योंकि उनके 'अनुभयपर्यवसायी का अर्थ है 'उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों में जिसका पर्यवसान न हो' और इस 'अनुभयपर्यवसायित्व' से उनको यह कहना है कि 'प्रकृत के अनुकूल उत्कर्ष और अपकर्ष में पर्यवसान न होने के कारण यहाँ व्यतिरेक के विद्यमान होने पर भी वह अलंकार नहीं है, केवल वस्तुमात्र है। अलंकार तो यहाँ गम्योपमा ही है, क्योंकि 'कृपाण' और कृपाण में 'आकार' (दीर्घाक्षर और आकृति) का भेद होने पर भी अन्य सब तुल्य ही है—इस अर्थ में ही वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है और चमत्कार भी उसी के कारण है।

यहाँ भी नागेश ने दीक्षित जी के पक्ष के बलात् समर्थन का आग्रहमात्र किया है। जब यहाँ आपके कथनानुसार व्यतिरेकालंकार ही नहीं है तो फिर इसे दीक्षित जी ने उसके उदाहरण में दिया क्यों? कहा जायगा कि वस्तुमात्ररूप व्यतिरेक का उदाहरण देने के लिए?

है और कृपाण में 'आ' की मात्रा, तो यह उत्तर उचित नहीं, क्योंकि वह दीर्घ अक्षर की उपस्थिति उपमान (कृपाण) के अन्दर है, इसलिए वह उपमेय का उत्कर्ष नहीं कर सकती। दूसरे, 'आकार' शब्द का दूसरा अर्थ आकृति है उसके साथ श्लेषमूलक अभेद मान लिए जाने से साधारण भी हो गया है। यदि इसे समानधर्मरूप न माना जाय तो श्लेषमूलक उपमा का उच्छेद ही हो जायगा, क्योंकि "चन्द्रबिम्बमिव नगरं सकलकलम्—अर्थात् चन्द्रमा के बिम्ब की तरह नगर 'सकलकल' (सब कलाओं से युक्त + कोलाहल सहित) है"। इत्यादिक में भी 'कोलाहल सहित होना' और 'सब कलाओं से युक्त होना' वस्तुतः वैधर्म्यरूप ही है—फिर वहाँ समानधर्म कहाँ से आवेगा। यदि आप कहें कि 'सकलकल' इस स्थान पर कवि उपमा पर ही निर्भर है, किन्तु प्रकृत में 'भेद' शब्द के कथन से वह विलक्षणता (वैधर्म्य) पर जोर देता है तो यह आपका भ्रम है, क्योंकि यदि यहाँ उपमा के विघटन रूपी व्यतिरेक पर कवि निर्भर हो तो 'आकार' शब्द का श्लेष निरर्थक हो जाय और वह यही कहे कि कृपण और कृपाण में 'केवल दीर्घ अक्षर के कारण' ही भेद है; क्योंकि व्यतिरेक में श्लेष अनुकूल नहीं है, प्रत्युत प्रतिकूल ही है और उपमा में तो अनुकूल है, क्योंकि दीर्घाक्षरतारूपी जो वैधर्म्य प्रतिकूल है वह उसके साधारण कर लिये जाने के कारण 'आकृतिभेद' रूप में उपमान और उपमेय दोनों में बन सकता है। यहाँ कवि का आशय यह है कि कृपण और कृपाण दोनों में समानता

सो अलंकारों में वस्तुमात्र का उदाहरण अन्यत्र भी दिया गया है या केवल यहीं ? यदि अनुभयपर्यवसायी व्यतिरेक अलंकाररूप होता ही नहीं, तब तो पण्डितराज के मत का ही समर्थन हुआ फिर यह व्यर्थ आडम्बर क्यों ? और ऐसा उदाहरण यहाँ देना भी भ्रम में डालने के अतिरिक्त कुछ नहीं। —अनुवादक

है, क्योंकि 'दृढतरनिबद्धमुष्टि' आदि विशेषण दोनों में समान है। रहा, अक्षर का भेद, सो वह आकारभेद से विरुद्ध नहीं है, इस बात को सहृदय पुरुषों को समझना चाहिए, अतः यह सिद्ध हुआ कि यहाँ उपमान से उत्कर्ष दिखानेवाला धर्म नहीं है।

दूसरा भेद—अर्थात् 'उपमान का अपकर्षरूप व्यतिरेक' भी यहाँ नहीं है; क्योंकि उसका तो यहाँ कहना ही असंगत है और वह भेद सुन्दर भी नहीं है। (ह्रस्व मात्रा वाले का उत्कर्ष और दीर्घमात्रावाले का अपकर्ष कौन कहेगा)' इसलिए यहाँ गम्योपमा ही सुस्थिर है, अतः झूठे सिक्कों की पोल खोलने से कोई फल नहीं।

अलंकारान्तरोत्थापित व्यतिरेक

अच्छा अब प्रस्तुत बात को लीजिए। यह व्यतिरेक अलंकारान्तर से उठाया हुआ भा हो सकता है, जैसे—

ईश्वरेण समो ब्रह्मा पिता साक्षान्महेश्वरः।
पार्वत्या सदृशी लक्ष्मीर्माता मातुः समा भुवि ॥
पितास्य काष्ठसदृशः स्वयं पावकसंनिभः ॥

(१) ब्रह्मा ईश्वर के समान हैं, किन्तु पिता साक्षात् पिता हैं।

(२) पार्वती के समान लक्ष्मी हैं। पर पृथ्वी पर (जगत् में) माता के समान माता ही है।

(३) इसके पिता काष्ठ के समान हैं और (यह) स्वयम् अग्नि के समान है।

यहाँ प्रथम उदाहरण में रूपक, द्वितीय उदाहरण में अनन्वय और तृतीय उदाहरण में उपमा, उपमेय के उत्कर्ष का कारण है (श्लेष नहीं)

और तीनों उदाहरणों में उपमान के अपकर्ष का कारण हैं, केवल उपमाएं। (यहाँ भी श्लेष नहीं है)।

व्यतिरेक के उत्थापक धर्म

इस अलङ्कार के गर्भ में सादृश्य रहता है और सादृश्य के उत्थापक धर्म तीन प्रकार के हैं, (यह उपमा प्रकरण में बताया जा चुका है) इसलिए यहाँ भी उन प्रकारों का अनुगम जानना चाहिए। उनमें से

(१) अनुगामी धर्म के होने पर व्यतिरेक, जैसे

अरुणमपि विद्रुमद्रुं मृदुलतरं चापि किसलयं बाले!
अधरी करोति नितरां तवाधरो मधुरिमातिशयात् ॥

हे बाले, तुम्हारा अधर मधुरता के आधिक्य के कारण अरुण (अरुणता में इसके समान) भा विद्रुम के वृक्ष को और अत्यन्त मृदुल (मृदुलता में इसके समान) भी पल्लव को अत्यन्त नीचा बना देता है।

यहाँ अरुणता और मृदुलता अनुगामी धर्म (मधुरता के अतिशयरूप व्यतिरेक के उत्थापक) हैं।

(२) बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म के होने पर व्यतिरेक; जैसे—

जलजं ललितविकासं सुन्दरहासं तवाननं हसति ।

अर्थात् ललित विकास वाले जलज (कमल) की सुन्दर हास वाला तुम्हारा मुख हँसी करता है।

यहाँ हास और विकास में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, (ललितता और सुन्दरता में शुद्ध समानधर्मता (वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नता) है और

'जलज' शब्द में श्लेष से ग्रहण किया हुआ है जडज (मूर्ख से उत्पन्न) होना, कमल के अपकर्ष का कारण है।

इस तरह सादृश्य के निषेध से आलिङ्गित व्यतिरेक का निरूपण किया गया।

अभेदनिषेधालिङ्गित व्यतिरेक

अभेद के निषेध से आलिङ्गित भी यह हो सकता है; जैसे—

निष्कलङ्क !, निरातङ्क ! चतुःषष्टिकलाधर ।
सदापूर्ण महीप ! त्वं चन्द्रोऽसीति मृषा वचः ॥

निष्कलङ्क, निरातङ्क, चौसठ कलाओं को धारण करनेवाले और सदा पूर्ण रहने वाले हे महीप, तुम चन्द्रमा हो यह कथन मिथ्या है।

(यहाँ सकलङ्क, सातङ्क और षोडश कलाओं से भी सदा पूर्ण न रहने वाले चन्द्रमा से अभेद का निषेध स्पष्ट ही है।)

व्यतिरेक समाप्त

सहोक्ति

लक्षण

जिनमें से एक गौण हो और एक प्रधान ऐसे दो अर्थों का 'सह' (साथ) शब्द के अर्थ के साथ सम्बंध सहोक्ति है।

लक्षण का विवेचन

यह बार बार कहा जा चुका है कि अलङ्कार के सामान्य लक्षण से प्राप्त सुन्दरत्व सब अलङ्कारों में साधारण है ही—बिना सुन्दरता के कोई शब्द अथवा अर्थ अलङ्कार नहीं होता। सो वह सुन्दरता सहोक्ति अलङ्कार में 'कार्यकारण की पूर्वापरता की विपरीतता' रूपी, अथवा 'श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान' रूपी, किंवा 'केवल अभेदाध्यवसान' रूपी अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होने पर होती है—यह कहा जाता है। अर्थात् प्राचीन मत है।

अनुकूलभावमथवा पराङ्मुखत्वं सदैव नरलोके।
अन्योन्यविहितमन्त्रौ बिधिदिल्लीवल्लभौ वहतः।

मनुष्यलोक में विधाता और दिल्लीपति दोनों ने आपस में सलाह कर रखी है कि दोनो साथ ही अनुकूलता या प्रतिकूलता धारण करते हैं। तात्पर्य यह कि जिससे दिल्लीपति संतुष्ट हैं उसपर विधाता भी संतुष्ट हैं और जिस पर वह रुष्ट है उस पर विधाता भी रुष्ट है।

इसमें अतिव्याप्ति न होने के लिए जिनमें से एक गौण और एक

प्रधान यह लिखा गया है। (यहाँ दोनों (विधाता और दिल्लीपति) की प्रधानता समान होने से 'सहोक्ति' अलङ्कार नहीं है।)

उदाहरण

१—(कार्यकारणपूर्वापरताविपर्यय रूप रूपकातिशयोक्ति मूलक सहोक्ति जैसे—)

केशैर्वधूनामथ सर्वकोषैः प्राणैश्च साकं प्रतिभूपतीनाम्।
त्वया रणे निष्करुणेन राजंश्चापस्य जीवा चकृषे जवेन॥

हे राजन्, रण में निष्करुण आपने शत्रुराजाओं की वधुओं के केश, सब खजाने और प्राणों के साथ धनुष की प्रत्यञ्चा वेग से खींच ली।

यहाँ 'केश खींचना' आदि धनुष खींचने के कार्य हैं, अतः पहले धनुष खिंचेगा तब केश आदि खिंचेंगे, किन्तु यहाँ उनकी 'पूर्वापरता की विपरातता' से अनुप्राणित उनका 'साथ होना' बताया गया है और यह 'पूर्वापरता की विपरीतता' हुई है 'निर्दयता' के कारण।

अथवा जैसे—

भाग्येन सह रिपूणामुत्तिष्ठसि विष्टरात्क्रुधाविष्टः।
सहसैव पतसितेषु क्षितिशासन! मृत्युना साकम्॥

हे भूमिपति, आप क्रोध के आवेश में सिंहासन से शत्रुओं के भाग्य के साथ उठते हैं और उन पर मृत्यु के साथ सहसा ही गिरते हैं।

पहले उदाहरण में कर्मों की सहोक्ति थी इसमें कर्त्ताओं की सहोक्ति है—यह भेद है।

२—(श्लेषमूलाभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिमूलक सहोक्तिः ; जैसे—)

त्वयि कुपिते रिपुमण्डलखण्डनपाण्डित्यसंपदुद्दण्डे ।
गिरिगहनेऽरिवधूनां दिवसैः सह लोचनानि वर्षन्ति ॥

रिपुमण्डल के खण्डन की चतुरता के सम्पादन में उद्दण्ड आपके कुपित होने पर पर्वत की गुफा में शत्रु-नारियों के दिनों के साथ ही लोचन 'वर्षन्ति' (बरसने लगते हैं + वर्ष जैसे हो जाते हैं) ।

यहाँ 'वर्षन्ति' पद में 'बरसना' और 'वर्ष की तरह आचरण करना' इन दोनों अर्थों का श्लेष द्वारा अभेद मान लिया गया है ।

अथवा, जैसे—

बहु मन्यामहे राजन्न वयं भवतः कृतिम् ।
विपद्भिः सह दीयन्ते संपदो भवता यतः ॥

हे राजन् , आपके कार्य को हम अधिक सम्मान नहीं देते, क्योंकि आपके द्वारा सम्पत्तियाँ विपत्तियों के साथ भी 'दान' (दान + खण्डन) की जाती हैं ।

पूर्व उदाहरण में कर्त्ता की सहोक्ति है और यह व्याजस्तुति से मिश्रित कर्म की सहोक्ति है ।

३–(केवलाभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिमूलक सहोक्ति; जैसे —)

पद्मपत्रैर्नृणां नेत्रैः सह लोकत्रयश्रिया ।
उन्मीलन्तो निमीलन्तो जयन्ति सवितुः कराः ॥

सूर्य की किरणों का विजय है, जो कमल की पँखुड़ियाँ, मनुष्यों के नेत्र और त्रिलोकी की शोभा के साथ ही उन्मीलित होती हैं और निमीलित होती हैं ।

यहाँ 'उन्मीलन' और 'निमीलन' क्रियाएं 'कमल की पँखुड़ियाँ' आदि आश्रयों के भेद से भिन्न हो जाती हैं तथापि 'प्रकटता' और 'अप्रकटता' आदि एक उपाधि से अवच्छिन्न होने के कारण अभिन्नीकृत क्रियाओं का ग्रहण है इसलिए एक क्रिया का सम्बध है। अतएव इस उदाहरण में श्लेष नहीं है, क्योंकि वह तभी माना जाता है जब प्रतिपाद्यतावच्छेदक (प्रतिपाद्य अर्थों के अवच्छेदक धर्म) भिन्न-भिन्न हों।

'सह' शब्द के होने पर भी सहोक्ति नहीं होती

इन उदाहरणों में 'सह शब्द के योग में तृतीया विभक्ति' के कारण एक अर्थ की गौणता और दूसरे अर्थ की प्रधानता है। किन्तु यदि 'सह' शब्द होने पर भी दोनों अर्थों का प्रधान रूप से क्रिया में अन्वय हो तो लक्षणानुसार तुल्ययोगिता अथवा दीपक (अर्थात् दोनों प्रस्तुत हों अथवा दोनों अप्रस्तुत हों तो तुल्ययोगिता और दोनों में से एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत हो तो दीपक) होता है।

व्यङ्ग्य सहोक्ति

यह सहोक्ति 'सह' आदि शब्द का प्रयोग नहीं होने पर भी होती है, क्योंकि 'वृद्धो यूना' (१।२।६५) इस पाणिनिसूत्र के निर्देश से केवल तृतीया का भी 'सह' का अर्थ प्रतिपादन करने में साम्राज्य है। किन्तु ऐसी सहोक्ति 'इव' आदि शब्द से रहित उत्प्रेक्षा आदि की तरह गम्य होती हैं, पर वहाँ भी अप्रधानता तो शाब्द (शब्द से प्रतिपादित) ही होती है।

अप्रधानता के शाब्दत्व पर विचार

आप कहेंगे—'सह' शब्द का प्रयोग न होने पर भी आप अप्रधानता को शब्द से प्रतिपादित कैसे कह रहे हैं, क्योंकि अप्रधानता दो ही प्रकार से हो सकती है—या तो क्रियादिक में आन्वित होने के रूप में अथवा

पदार्थान्तर के रूप में। दोनों ही प्रकार से अप्रधानतावाचक शब्द न होने के कारण यह अप्रधानता शब्द से प्रतिपादित नहीं हो सकती, फिर उसे शाब्द क्यों कहा जाता है?

इसका उत्तर यह है कि प्रधानता—चाहे आप उसे (क्रियादिक से अन्वित होने के कारण) सखण्ड मानो चाहे पदार्थान्तर रूप में अखण्ड—है सही, जिसके अधीन छोटे से लेकर बड़े तक 'इस नगर में यह प्रधान अथवा मुख्य है' इत्यादिक व्यवहार प्रचलित है। उस प्रधानता का अभावरूप हुई अप्रधानता। उस अप्रधानता के अर्थ में **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** (पा० सू० २।३।१६) इस शास्त्र से तृतीया की शक्ति (अभिधा) का बोध करवाया जाता है—अर्थात् तृतीया विभक्ति का अर्थ ही अप्रधानता है। ऐसी स्थिति में जब कि अप्रधानता के वाचक के रूप में तृतीया विभक्ति विद्यमान है तब फिर अप्रधानता को 'शब्द से प्रतिपादित नहीं है' यह कैसे कहा जा सकता है। यदि आप कहें कि 'सह के अर्थ से युक्त वस्तुतः अप्रधान वस्तु में तृतीया विभक्ति होती है' यह इस सूत्र का अर्थ है, न कि 'अप्रधान अर्थ के वाच्य होने पर' यह। ऐसी दशा में आपकी बताई बात—अर्थात् अप्रधानता का शब्द से प्रतिपादित होना—सिद्ध नहीं होती, तो यह उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने से सूत्र में 'अप्रधाने' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। कारण, **'पुत्रेण सहागतः पिता** (पुत्र के साथ पिता आया है)' इत्यादिक में अन्तरङ्ग होने के कारण 'पितृ' आदि शब्दों से प्रथमा की उत्पत्ति ही उचित है, अतः वहाँ बहिरङ्ग तृतीया प्राप्त ही नहीं हो सकती। फिर 'अप्रधान' के ग्रहण का क्या फल? कहा जायगा कि अंतरङ्ग होने से प्रथमा यदि हो भी जायगी तथापि **'पुत्रेणसह पितुरागमनम्** (पुत्र के साथ पिता का आना)' इत्यादिक में षष्ठी तो हो नहीं सकेगी, क्योंकि वह तो तृतीया की अपेक्षा बहिरङ्ग है तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'उपपदविभक्तेः कारक-

विभक्तिर्बलीयसी' इस न्याय के अनुसार 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) से प्राप्त षष्ठी प्रबल है—अतः यहाँ भी तृतीया नहीं हो सकती।

अब यदि आप यह शङ्का करें कि 'आप के बताए अर्थ में सूत्र का तात्पर्य है' इस बात को कोई समझाने वाला प्रमाण नहीं है, इसलिए हमारा कथन मानना आवश्यक है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ भी विशेष्य (क्रियान्वयी) में षष्ठी नहीं लगाई जाती, अतः उसके निवारणार्थ वहाँ भी 'अप्रधाने' अथवा 'विशेषणे' इत्यादि कहना आवश्यक हो जायगा। इसलिए जैसे 'हेतौ तृतीया' (२।३।२३) इत्यादिक शास्त्र तृतीया की हेतु अर्थ में शक्ति का बोध करवाता है इसी तरह 'सहयुक्तेऽधाने (२।३।१९) यह सूत्र भी तृतीया की अप्रधान में शक्ति को समझाता हैं और जैसे हेतुतृतीया में प्रकृति के अर्थ का अभेद के द्वारा विभक्ति के अर्थ 'हेतु' में अन्वय होता है वैसे ही यहाँ भी (प्रकृति के अर्थ का तृतीया के अर्थ में अन्वय) कहना उचित है। यद्यपि 'अप्रधाने' यह पद धर्मिवाचक है, 'अप्रधानत्व' धर्म का वाचक नहीं, तथापि जैसे **'कर्मणि द्वितीया'** यहाँ द्वितीया का वाच्य कर्मत्व होता है वैसे ही यहाँ 'अप्रधानता' का भी शब्द से प्रतिपादित होना अव्याहत ही है ऐसा मानने में कोई रुकावट नहीं है। रही 'षष्ठी शेषे' की बात, सो इस जगह तो 'विशेषण' शब्द दिया हुआ नहीं है, अतः विशेषणत्व की शब्दवाच्यता नहीं होती, इसलिए 'सहयुक्तेऽप्रधाने' और 'षष्ठी शेषे' इन दोनों में विलक्षणता स्पष्ट ही है। अतः **"अप्रधानग्रहणं शक्यमकर्तुम्**—अर्थात् 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र में 'अप्रधान' का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए" यह कहने वाले 'मनोरमाकार' (भट्टोजिदीक्षित) परास्त हो जाते हैं, क्योंकि उक्त प्रकार से 'अप्रधाने' के ग्रहण की सार्थकता सिद्ध हो जाने पर मुनिवचन (पाणिनि के वचन) को व्यर्थ बनाना न्यायानुकूल नहीं है।

अब यदि आप कहें कि 'अप्रधान' को विभक्ति का वाच्य मानने पर 'पुत्रेण सहागतः पिता' इत्यादिक वाक्यों का बोध आपके हिसाब से 'पुत्राभिन्नाप्रधानसहितः—पुत्र से अभिन्न अप्रधान सहित (पिता)' यह होगा, जो कि अप्रामाणिक है, क्योंकि ऐसा बोध किसी को होता नहीं, अतः कथित अर्थ की सिद्धि नहीं होती। तो इसका उत्तर यह है कि 'दण्डेन घटः' इत्यादिक में सब लोगों को 'दण्डजन्यतावान् घटः—दण्ड से उत्पन्न घट' इत्यादिक बोध होता है तथापि 'हेतौ तृतीया' इस मुनिवचन का सहारा लेकर तुमने 'दण्डाभिन्नहेतुको घटः—जिसका हेतु दण्ड से अभिन्न है वह घट' ऐसा बोध बताया है, अतः यह मार्ग आप ही का दिखाया हुआ है—अर्थात् सार्वजनीन बोध को त्यागकर मुनिवचन के अधार पर बोध बनाना आपने ही सिखाया है। इतना ही नहीं, किन्तु 'भावप्रधानमाख्यातम्' (यास्क) इत्यादिक अनेक मुनिवचनों से स्थान-स्थान पर तुम्हारे बताए हुए बोध का विपरीतता की अनुपपत्ति भी होगी (अतः हमारा मार्ग ही उत्तम है) पर इस अप्रासङ्गिक विचार को यहीं छोड़ते हैं।[1]

---

१ नागेश का कहना है कि—यहाँ यह सब (अप्रधान का वाच्यत्व) विचारणीय है, इसके अनेक कारण हैं। एक तो महाभाष्यकार ने 'अप्रधाने' इस अंश का प्रत्याख्यान कर दिया है, अतः आपके बताए मार्ग पर चलने से भाष्य का विरोध होगा; दूसरे, 'अप्रधानभृत्यैः सह गतो राजा—राजा अप्रधान सेवकों के साथ गया है' इस स्थान पर तृतीया न हो सकेगी, क्योंकि तृतीया के अर्थ में 'अप्रधान' की पुनरुक्ति हो जायगी; तीसरे, 'राज्ञा सह सेना गच्छति—राजा के साथ सेना जा रही है' यहाँ भी राजा में तृतीया न हो सकेगी, क्योंकि लोकदृष्टि से राजा प्रधान है; चौथे, 'पुत्रेण सहागतः पिता' यहाँ पिता की अन्तरङ्गता

सहोक्ति में उपमानोपमेयता तथा सुन्दरता का निर्णय

कहा गया है कि 'प्रकृत होना उपमेयता का और अप्रकृत होना उपमानता का प्रायः निर्णायक है' (सर्वथा नहीं। इस कारण सहोक्ति में उपमेयता और उपमानता का निर्णय प्रकृतता अथवा अप्रकृतता से नहीं होता, क्योंकि दोनों के प्रकृत होने पर भी साहित्य संभव है, किन्तु प्रधानता अप्रधानता के द्वारा ही उपमानता और उपमेयता का निर्णय होना चाहिए—अर्थात् जो प्रधान (क्रियान्वयी) है वह उपमेय और जो अप्रधान (क्रियान्वयी नहीं) है वह उपमान होता है। और, यह तो कहा ही जा चुका है कि सहोक्ति की सुन्दरता अतिशयोक्ति के कारण है, अतः जहाँ अतिशयोक्ति नहीं है वहाँ 'पुत्रेण सहागतः पिता' इत्यादिक में सहोक्ति अलङ्कार नहीं होता।

सहोक्ति अथवा अतिशयोक्ति

यहाँ विचार किया जाता है कि—'केशैर्वधूनाम्' इत्यादिक पूर्वोक्त उदाहरण में 'पूर्वापरता की विपरीतता से अनुप्राणित सहोक्ति अलङ्कार है' यह कथन उचित नहीं, क्योंकि ऐसे स्थलों में अतिशयोक्ति के ही चमत्कारजनक होने के कारण सहोक्ति केवल नाम मात्र के लिए है।

कहना कठिन है, अतः वैसा कथन असगत है; पाँचवें, जैसा बोध (पुत्राभिन्नाप्रधानसहितः) आपने माना है उससे भिन्न प्रकार का बोध (पुत्रकर्तृकागमनसमानकालिकागमवान्) यहाँ इष्ट है।

कहा जायगा कि तब फिर सहोक्ति का लक्षण क्या होगा तो इसका उत्तर यह है कि 'जहाँ एक का क्रिया में अन्वय शाब्द हो और दूसरे का 'सह' शब्द के अर्थ के बल से अर्थप्राप्त हो वह 'सहोक्ति' है (प्रधान अप्रधान का यहाँ कोई झगड़ा नहीं।)। काव्यप्रकाशकार का ऐसा ही कथन है। यह सब 'मञ्जूषा' में स्पष्ट है।

कारण, 'तव कोपोऽरिनाशश्च जायते युगपन्नृप—हे राजन् तुम्हारा कोप और शत्रुओं का नाश एक साथ ही उत्पन्न होता है' इस अतिशयोक्ति अलङ्कार से 'तव कोपोऽरिनाशेन सहैव नृप जायते—हे राजन् तुम्हारा कोप शत्रुनाश के साथ ही उत्पन्न होता है' इस सहोक्ति के उदाहरण में केवल (शत्रुनाश की) अप्रधानता के कारण (वाक्य में) विलक्षणता होने पर भी चमत्कार में कोई विशेषता नहीं है और चमत्कार की विशेषता ही अलङ्कारों का विभाग करने वाली है।

यदि आप कहें कि ऐसा मानने से साहश्य से अनुप्राणित रूपकादिक भी उपमा से पृथक् न हो सकेंगे, तो यह उचित नहीं। कारण, 'निशाकरसमानोऽयमयं साक्षान्निशाकरः—यह चन्द्रमा के समान है और यह साक्षात् चन्द्रमा है' इत्यादिक में चमत्कार की विलक्षणता स्पष्ट प्रतीत होती है, अन्यथा 'निशाकर के समान' वर्णन करने की अपेक्षा 'साक्षात् निशाकर' रूप से वर्णन करने के कारण प्रतीत होने वाला व्यतिरेक उठ ही नहीं सकता। दूसरे, एक बात यह भी है कि साहश्यमूलक रूपकादिक अलङ्कारों में जैसे साहश्य के गौण होने के कारण चमत्कार के विश्रान्ति-स्थान रूपक आदि से साहश्य को पृथक् नहीं कहा जाता, वैसे ही यहाँ 'सहभाव' की उक्ति से 'कार्यकारण की पूर्वापरता की विपरीतता' रूपी अतिशयोक्ति आविर्भूत होती है, अतः प्रधान विश्राम अतिशयोक्ति पर जाकर ही होता है, न कि सहोक्ति पर। ऐसी दशा में अतिशयोक्ति से इस सहोक्ति का अभिन्न होना ही उचित है। अर्थात् यहाँ अतिशयोक्ति ही मानी जानी चाहिए, सहोक्ति नहीं।

अब यदि आप यह कहें कि ऐसा होने पर सहोक्ति का कोई विषय ही नहीं रहेगा, क्योंकि अन्य सहोक्ति भी अभेदाध्यवसान रूपी अतिशय के द्वारा कवलित कर ली जायगी। तो हम कहेंगे—नहीं। कारण यह है कि अभेदाध्यवसानमूला सहोक्ति में अभेद के अध्यवसान से सहोक्ति का

उपस्कार किया जाता है, इसलिए वहाँ अतिशयोक्ति गौण है और सहोक्ति-प्रधान। अतः 'गौण से प्रधान का तिरस्कार नहीं होता, किन्तु प्रधान के द्वारा गौण का तिरस्कार होता है' इस निर्दिष्ट रीति के अनुसार सहोक्ति सावकाश ही है। रही, गौणता और प्रधानता की बात, सो आग्रहरहित विद्वानों को सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए। अर्थात् सूक्ष्म दर्शी विद्वान् तो इसमें विवाद करेगा नहीं, मूर्खों से सिर पचाना व्यर्थ है।

दूसरे, 'केवल परस्पर का अभेदाध्यवसान' अतिशय मात्र है, अतिशयोक्ति नहीं, क्योंकि ऐसा अभेदाध्यवसान तो श्लेषादिक में भी होता है। अतिशयोक्ति तो वहीं होती है, जहाँ उपमान से उपमेय का निगरण हो, इस स्थिति में 'वर्षन्ति' 'उन्मीलन्ति' 'निमीलन्ति' इत्यादि में एक के द्वारा दूसरे का निगरण न होने के कारण अतिशयोक्ति का लेश भी नहीं है। रहा केवल अतिशय, सो वह तो प्रायः साधारणधर्म के अंश में बहुत से अलङ्कारों का उपस्कारक है, क्योंकि 'शोभते चन्द्रवन्मुखम्—मुख चन्द्रमा की तरह शोभित हो रहा है' इत्यादिक में चन्द्रमा और मुख की शोभा वस्तुतः भिन्न है उनका अभेदाध्यवसान किए बिना उपमा उल्लसित ही नहीं हो सकती। इसलिए जो अलङ्कारसर्वस्वकारादि को ने लिखा है कि "कार्य कारण की पूर्वापरता की विपरीतता के कारण सहोक्ति का एक प्रकार होता है" यह कथन आग्रहमूलक ही है। हाँ, अभेदाध्यवसानमूलक प्रकार तो सहोक्ति का विषय हो सकता है।

'सहोक्ति' दीपक और तुल्ययोगिता का ही एक भेद क्यों नहीं ?

किन्तु यदि पूर्वपक्षी कहे कि—दीपक और तुल्ययोगिता में उपमान और उपमेय की प्रधानता होने से उनका क्रियादिरूप धर्म में प्रधानरूप से अन्वय होता है और सहोक्ति में एक का गौण रूप से और दूसरे का प्रधान रूप से अन्वय होता है। सहोक्ति का दीपक और तुल्ययोगिता से

इतना सा भेद होने पर भी यह भेद विशेष चमत्कारजनक न होने से सहोक्ति को भिन्न अलङ्कार सिद्ध नहीं कर सकता, किन्तु दीपक और तुल्ययोगिता का अवान्तर भेद होना ही सिद्ध करता है यह विचार किया जाय और प्राचीनों का लिहाज नहीं किया जाय तो सहोक्ति को उक्त अलङ्कारों में ही निविष्ट कर देना उचित है, क्योंकि किञ्चिन्मात्र विलक्षणता से ही यदि अलंकारभेद माना जावे तो वचनभङ्गियों के अनन्त होने के कारण अलंकार भी अनन्त हो जायँगे।

यद्यपि पूर्वपक्षी का यह कथन सच है, तथापि सहोक्ति में 'गौणता और प्रधानता से युक्त सहभाव' के चमत्कार की अन्य अलंकारों के चमत्कार से विशेषता का अनुभव करने वाले प्राचीन आचार्य ही सहोक्ति को पृथक् अलंकार मानने में प्रमाण हैं। अन्यथा (यदि प्रचीनों को प्रमाण न माना जाय तो) ऐसे उपद्रव करने से बड़ी गड़बड़ हो जायगी। यदि कहा जाय कि मिथ्या आँख मींच कर सोचनेवाले प्राचीनों का हम प्रमाण नहीं मानते, अतः इस बेचारी सहोक्ति को अन्य अलंकार के अन्दर घुसेड़ ही देना चाहिए, तो यह तो केवल प्रभुता है, सहृदयता नहीं।

'सहोक्ति' में गुण भी साधारण धर्म होता है

इस तरह क्रिया के साधारण धर्म होने पर सहोक्ति के उदाहरण दिये गये। **गुण के साधारण धर्म होने पर सहोक्ति, जैसे—**

'मान्थर्यमाप गमनं सह शैशवेन
रक्तं सहैव मनसाधरबिम्बमासीत्।
किं चाभवन्मृगकिशोरदृशो नितम्बः
सर्वाधिको गुरुरयं सह मन्मथेन ॥'

· मृगशावकनयनी की गति बालकपन के साथ मन्दता को प्राप्त हो गई; मन के साथ ही अधरबिम्ब भी रक्त (अनुरक्त + लाल) हो गया और मन्मथ के साथ ही साथ यह नितम्ब भी सबसे अधिक गुरु (उपदेशक + भारी) हो गया।

यहाँ यद्यपि गुण के साथ क्रिया भी समानधर्मता का अनुभव करती —वह भी समानधर्म बन जाता है, तथापि वह अविनाभूत है—बिना क्रिया के वाक्य समाप्त नहीं होता अतः अनिवार्य होने के कारण साथ में आ जाती है, पर सुन्दर न होने के कारण पर्यवसान में गुण ही चमत्कार के समग्र भार का सहन करने वाला है। सो यह गुण की समानधर्मता का ही उदाहरण है।

यहाँ 'रक्त' शब्द का अर्थ अधरबिम्ब के साथ 'लाल' होता है और मन के साथ 'आसक्त (अनुरक्त)'; इसी तरह 'गुरु' शब्द का अर्थ भी मन्मथ के साथ 'उपदेशक' होता है और नितम्ब के साथ 'भारी'। इस तरह उपमेय और उपमान में रहनेवाले उक्त गुणों के भिन्न होने पर भी श्लेष के द्वारा पिण्डित (एक शब्द से गृहीत) कर लिए जाने के कारण सहभाव सिद्ध हो जाता है। इसी तरह श्लेष के अभाव में भी केवल अध्यवसान के कारण उपमान और उपमेय के गुण एक समझ लिए जा सकते हैं—यह समझ लेना चाहिए।

माला सहोक्ति

जहाँ एक ही उपमेय भिन्न-भिन्न सहोक्तियों का आलम्बन हो वहाँ माला से समानता के कारण 'माला—सहोक्ति' कहलाती है। सहोक्ति की परस्पर भिन्नता अपने साथवाली अन्य सहोक्ति की अपेक्षा से समझना चाहिए। आप कहेंगे तब तो 'केशैर्वधूनाम्०' इस आपके बताए हुए उदाहरण में भी 'मालासहोक्ति' होगी तो यह उचित नहीं। कारण उस

उदाहरण में 'केशों के साथ' 'कोषों के साथ' 'प्राणों के साथ' इत्यादिक में उपमान के भेद से सहभाव के अनेक होने पर भी 'खींचना' क्रिया की एकता होने के कारण 'सहोक्ति' एक ही है और यदि उपमानों के भिन्न-भिन्न कथन के कारण किसी तरह भेद मान भी लिया जावे तब भी कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि 'धर्म' (खींचना) एक ही है और मालारूप होने के लिए धर्म और उपमान उभयमूलक विलक्षणता विवक्षित है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में 'उन्मीलन्ति' 'निमीलन्ति' यहाँ 'उन्मीलन' और 'निमीलन' रूप धर्मों की विलक्षणता होने पर भी 'उन्मीलन' रूप धर्म से उत्थापित 'सहोक्ति' के बनानेवाले उपमान पद्मनेत्रादिक ही 'निमीलन' धर्म से उत्थापित 'सहोक्ति' के भी बनाने वाले हैं, अतः मालारूपता नहीं है। हां 'भाग्येन सहरिपूणाम्०' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य तो इसका उदाहरण हो सकता है। अथवा जैसे—

> **उन्मूलितः सह मदेन बलाद्बलारे-**
> **रुत्थापितो बलभृतां सह विस्मयेन ।**
> **नीलातपत्रमणिदण्डरुचा सहैव**
> **पाणौ धृतो गिरिधरेण गिरिः पुनातु ॥**

गिरिधर (श्रीकृष्ण) के हाथ में धारण किया हुआ गिरि (गोवर्धन पर्वत) आपको पवित्र करे, जो इन्द्र के मद के साथ बलात् उखाड़ा गया, बलवानों के आश्चर्य के साथ उठाया गया तथा नीलछत्र के मणिजटित डण्डे की कान्ति के साथ धारण किया गया।

यहाँ उत्तरार्ध में जो सहोक्ति है वह पूर्वापरता की विपरीतता से अनुप्राणित ही है, क्योंकि नीलच्छत्र के मणिदण्ड की कान्ति पहाड़ के

उठा लेने के उत्तरकाल में ही हो सकती है और निदर्शना* से भी अनुप्राणित है। यहाँ पूर्वार्ध की दोनो सहोक्तियाँ, सो वे पूर्वापरविपर्ययरूप और अभेदाध्यवसानरूप इस तरह दोनो प्रकार के अतिशयो से हो सकती हैं, क्योंकि यहाँ पहाड़ उखाड़ने के बाद ही इन्द्र का मद खण्डित हो सकता है और पहाड़ के उठाने के बाद ही बलवानों को आश्चर्य हो सकता है, जिनको साथ कह देने से 'पूर्वापरविपर्ययरूप अतिशय' है और उपमानोपमेयगत भिन्न धर्मों को अभिन्न मान लेने से अभेदाध्यवसानमूलक अतिशय है।

सहोक्ति समाप्त

---

* यहाँ निदर्शना के विषय में "सदृशवाक्यार्थयोरैक्यारोपादिति भावः" इस नागेश के लेख को खिल्ली उड़ाते हुए भट्ट मथुरानाथ जी ने अपनी सरला नामक टिप्पणी में पदार्थनिदर्शना बताई है, पर ऐसा लिखना उचित नहीं, क्योंकि यहाँ 'गिरिधरकर्तृकपाण्याधारकगिरिधरण' में 'गिरिधरकर्तृकनीलातपत्रसंबन्धिमणिदण्डकान्तिधरण' का औपम्यपर्यवसायी अभेद है; अतः सदृश वाक्यार्थों का ऐक्यारोप तो है ही। किसी धर्म का गिरि अथवा गिरिधर में आरोप थोड़ा ही है जो पदार्थनिदर्शना हो। प्रतीत होता है कि वाक्यार्थविचार न कर सकने के कारण भ्रम हो गया है। शाब्दबोध के मर्मज्ञ इसे समझ सकते हैं। ऐसी स्थिति में "नागेशटीका तु आलंकारिकैरुपहसनीयत्वात् फल्गुफुंकाररूपा" कहना अत्यन्त अशोभनीय है।

इसी प्रकार द्वितीय टिप्पणी में 'उन्मूलितः' का इन्द्रमद के विषय में 'उन्मूलनं मूलतः प्रध्वसः' अर्थ करनेवाले भट्ट जी द्वारा उसी अभिप्राय से लिखे हुए नागेश के 'समूलं खण्डितः' अर्थ की खिल्ली उड़ाना और फिर 'अहो महाशयत्वमेतस्य' कहना कहाँ तक उचित है। यह बात दूसरी है कि नागेश ने गिरिपक्ष में अर्थ को सरल समझकर न लिखा, एतावता उक्त अर्थ उपहसनीय कैसे हो गया।—अनुवादक

विनोक्ति अलंकार

लक्षण

'विना' शब्द के अर्थ के सम्बंध को ही विनोक्ति कहते हैं

लक्षण का विवेचन

सुन्दरता तो साधारण अलङ्कार के लक्षण से प्राप्त है ही। वह सुन्दरता यहाँ जिस वस्तु के साथ विना शब्द का अर्थ अन्वित हो उसकी रमणीयता तथा अरमणीयता से होती है। कहने का तात्पर्य यह कि या तो किसी के विना कोई रमणीय हो जाय अथवा किसी के विना कोई अरमणीय हो जाय वहा विनोक्ति अलंकार होता है।

(१) अरमणीयता होने पर विनोक्तिः जैसे—

संपदा संपरिष्वक्तो विद्यया चानवद्यया।
नरो न शोभते लोके हरिभक्तिरसं विना॥

निर्दोष विद्या से और सम्पत्ति से युक्त मनुष्य संसार में हरिभक्तिरस के विना शोभित नहीं होता।

अथवा जैसे—

वदनं विना सुकवितां सदनं साध्वीं विना वनिताम्।
राज्यं च विना धनितां न नितान्तं भवति कमनीयम्॥

अच्छी कविता के बिना मुख, पतिव्रता स्त्री के बिना घर और धनिकता के बिना राज्य नितान्त सुन्दर नहीं होता।

(२) रमणीयता होने पर विनोक्ति; जैसे—

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना ।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना ॥

बिना कीचड़ के सरोवर, बिना खल जनों के सभा, बिना कर्णकटु-अक्षरों के काव्य और बिना विषयों के मन शोभित होता है ।

पहली विनोक्ति केवल है और यह दीपक के अनुकूल है ।

(३) रमणीयता और अरमणीयता से मिश्रित विनोक्ति; जैसे—

रागं विना विराजन्ते मुनयो मणयस्तु न ।
कौटिल्येन विना भाति नरो न कबरीभरः ॥

मुनि लोग राग (आसक्ति) के बिना शोभित होते हैं और मणियाँ बिना राग (रंग) के शोभित नहीं होतीं । मनुष्य कुटिलता (दुष्टता) के विना शोभित होता है और केशपाश 'कुटिलता' (घुँघरालेपन) के बिना शोभित नहीं होता ।

यहाँ विनोक्ति प्रतिवस्तूपमा के अनुकूल है ।

*त्रासैर्विना विराजन्ते शूराः सन्मणयो यथा ।
न दानेन विना भान्ति नृपा लोके द्विपा इव ॥

---

* यहाँ 'त्रास' शब्द का नागेश ने 'त्रासो भयं दोषश्च' यह लिखकर मणिपक्ष में 'दोष' अर्थ किया है, पर हमें चुरादिगणीय 'त्रस' धातु के 'वारणे इत्यपरे' अर्थ के अनुसार 'दोषनिवारण' ही अर्थ ठीक जान पड़ा । दोषनिवारणार्थ मणियाँ तरासी जाती हैं । अतः हमने 'तरासना' अर्थ लिखा है । अग्रे विद्वांसः प्रमाणम् ।—अनुवादक

जैसे अच्छी मणियाँ 'त्रासों' (तरासने) के बिना सुशोभित होती हैं वैसे ही शूरपुरुष त्रासों (भयों) के बिना शोभित होते हैं। जैसे हाथी 'दान' (मद) के बिना शोभित नहीं होते वैसे राजा लोग दान के बिना शोभित नहीं होते।

यहाँ बिनोक्ति श्लेषमूलक उपमा के अनुकूल है।

यथा तालं विना रागो यथा मानं बिना नृपः।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः॥

जैसे ताल के बिना राग, जैसे मान के बिना राजा, जैसे दान (मद) के विना हाथी, वैसे ही ज्ञान के बिना सन्यासी है।

पहले उदाहरण में क्रिया-गुण आदि का सम्बन्ध आवश्यक है, किन्तु यहाँ उपमा के प्रभाव से साधारणधर्म (न शोभित होने) का ज्ञान हो जाता है इसलिए वह सम्बन्ध आवश्यक नहीं है।

'विना' शब्द के बिना भी अतिशयोक्ति होती है

यह केवल 'बिना' शब्द के होने पर ही होती हो सो बात नहीं है, किन्तु विना शब्द के अर्थ के वाचक सभी शब्दों के योग में यह अलंकार हो सकता है। इसलिए नञ्, निर् वि, अन्तरेण, ऋते, रहित, विकल इत्यादि शब्दों के प्रयोग में यही अलंकार समझना चाहिए।

निर्गुणः शोभते नैव विपुलाडम्बरोऽपि ना।
आपातरम्यपुष्पश्रीशोभितः शाल्मलिर्यथा॥

बड़े आडम्बर वाला भी मनुष्य निर्गुण शोभित नहीं होता, जैसे आपातरम्य (दिखावटी) पुष्पों का शोभा से शोभित सेमल का पेड़।

अलंकारभाष्यकार ने तो इस अलकार का "नित्य सम्बन्ध वालों के असम्बन्धकथन को विनोक्ति कहते हैं" यह लक्षण बनाया है, अतः

उनके मत में तो पूर्वोक्त उदाहरण नहीं हो सकते। यह उदाहरण हो सकता है—

मृणालमन्दानिलचन्दनानामुशीरशैवालकुशेशयानाम् ।
वियोगदूरीकृतचेतानाया विनैव शैत्यं भवति प्रतीतिः॥

दूती नायक से कह रही है कि वियोग के कारण नायिका की चेतना दूर हो गई है अतः उसे मृणाल, मन्द वायु, चन्दन, खस, सिवाल और कमलों की प्रतीति शैत्य के बिना ही होती है—अर्थात् उसे ये सब शैत्य-रहित प्रतीत होते हैं।

यहाँ इन वस्तुओं के साथ शैत्य का नित्य सम्बन्ध होने पर भी न होने का वर्णन किया है। अथवा जैसे—

शैत्यं विना न चन्द्रश्रीर्न दीपः प्रभया विना ।
न सौगन्ध्यं विना भाति मालतीकुसुमोत्करः ॥

बिना शीतलता के चन्द्रमा की, बिना प्रभा के दीपक का और बिना सुगन्ध के मालता के पुष्पसमूह की शोभा नहीं होती।

विनोक्ति को भिन्न अलंकार न माना जाय

इस अलंकार की सुन्दरता किसी अन्य अलंकार से मिलने पर ही आविर्भूत होती है, स्वतः नहीं, अतः इसको भिन्न अलकार मानना शिथिल ही है यह भी कुछ विद्वानों का मत है।

विनोक्तिध्वनि

अब इसकी ध्वनि; जैसे—

विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां फलमसौ
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः ।

अयं तु न्यक्कारः श्रवणयुगलस्य त्रिपथगे !
यदन्तर्नायातस्तव लहरिलीलाकलकलः ॥

हे गङ्गे, इन बड़े-बड़े नेत्रों से क्या फल है, जिनने परम सुन्दर तुम्हारे स्वरूप के दर्शन नहीं किये और यह तो दोनों कानों का तिरस्कार ही है कि जिनके अन्दर आपकी लहरियों की लीला का कलकल नाद प्रविष्ट नहीं हुआ।

यहाँ 'आपके दर्शन के बिना नेत्रों की' और 'आप की लहरियों के कोलाहल के श्रवण के बिना कानों की' असुन्दरता 'फल के प्रश्न' और 'धिक्कार' के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

यह ध्वनि यद्यपि भावध्वनि (गङ्गाविषयक प्रेमरूप व्यंङ्ग्य) की अनुग्राहक है, तथापि इसको ध्वनि कहना अव्याहत है, अन्यथा ध्वनियों का अनुग्राहकताकृत संकर उच्छिन्न हो जायगा।

सो इस तरह—

"निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव कृता विनिद्रा नलिनी न येन ॥

कमलिनी का जन्म निरर्थक ही गया जिसने चन्द्रबिम्ब को नहीं देखा और चन्द्रमा की उत्पत्ति निष्फल ही है जिसने कभी कमलिनी को विनिद्र नहीं किया—खिलाया नहीं।"

यह किसी कवि का पद्य विनोक्ति की ध्वनि ही है, किन्तु परस्पर की विनोक्ति के कारण अन्य विनोक्तियों की अपेक्षा विलक्षणताशाली है।

विनोक्ति समाप्त

द्वितीय भाग समाप्त

'हिन्दी-रस गंगाधर' में आए हुए पद्यों की वर्णक्रमसूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१८	परिमाण	परिणाम
४	८	आह्लाद	आह्लाद
९	२३	नैयायाकों	नैयायिकों
१२	५	निषेधापर्यवसायिर्ण-साद्दश्यवनं	निषेधापर्यवसायि साद्दश्यवर्णनं
१९	६	प्रसिद्धि	प्रसिद्ध
२३	११	परिमलोदूगारैः	परिमलोद्गारैः
२८	२८	निर्जरासम्	निर्जरावासम्
२९	१०	२३	२२
३७	११	समानधर्म आवश्यकता	समानधर्म की आवश्यकता
४४	११	पृ० १९६	पृ० १०
७१	९	सरसी है	सरसी-सी है
७३	१४	सपमा दी जाय	उपमा न दी जाय
८८	१५	हिसाब में	हिसाब से
९६	४	यत्न न करनेवाला	यत्न करनेवाला
१०३	१६	अरविद तुल्यम्	अरविन्दतुल्यम्
११८	३	परिणाम	परिमाण
१३९	७	अलंकार सर्वकार	अलंकारसर्वस्वकार
१५३	४	प्रतिबिंबित	प्रतिबिंबितता
१६२	१८	अनन्वयालंकार-प्रधानतया	अनन्वयालंकार में असमालंकार प्रधानतया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	८	व्याप्त, प्रिया के	व्याप्त केशपाश में चला गया उसे मयूर के देखते ही प्रिया के
१९६	६	अग्य	अन्य
१६६	१४	उपयमतावक्छेक	उपमेयतावच्छेदक
२००	७	कुमु दति	कुमुद्लति
२०४	१९	अन्वव	अन्वय
२०७	१६	संभवाना	संभावना
२१२	१०	डोड़ियो सुशोभित	डोडियों से सुशोभित
२१७	११	क्षञ्चवीराः	क्षत्रवीराः
२१८	६	क्रांति	कांति
२२७	१	रूप के	रूपक के
२३०	३	इय	इव
२३४	४	वाक्त	वाक्य
२३५	११	जो	तो
२३६	११	तादात्म्यम्भोरुहां	तादात्म्यमम्भोरुहां
२४०	८	ञक्तियों	शक्तियों
२४४	२१	पत्त्वशाखः	पंचशाखः
२४६	१०	वहन्नि	बहन्न
२४६	६	बूसरा	दूसरा
२५६	२२	क्षितीन्दुः	क्षितीन्द्रः
२६२	१२	हरिरूपी नवतमाल	नवतमालरूपी हरि
२६२	१५	वचनरूपी अमृत	अमृतरूपी वचन
२७८	४	आधार पर	आधार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०५	३	संघैरपि	संवैरपि
३०६	११	उपनेथतावच्छेदक	उपमेयतावच्छेदक
११३	८	भ्रांतिमाद्	भ्रान्तिमान्
११३	२१	भ्रांति का संभव	भ्रान्ति का भी संभव
३१४	१४	ज्ञात-समूह	ज्ञान-समूह
३३०	१५	अपह्नुनिरपह्नुत्य	अपह्नुतिरपह्नुत्य
३३०	१६	बताकर	बनाकर
३६३	१५	करण;	कारण,
३६५	११	विषयता	विषयिता
४०१	११	पीयूषयूव	पीयूषयूष
४०६	१०	स्पृशन्तीन्दुमवेण्डलम्	स्पृशन्तीवेन्दुमण्डलम्
४०९	४	सुख से भोग के	सुख के भोग से
४११	४	विवाद	विषाद
४१४	११	प्रव्य	द्रव्य
४४१	१८	अन्यत्र	अन्वय
४१६	६	धन में	धर्म में
४१६	१३	पिलोचनाभ्या	विलोचनाभ्या
४१६	२२	चमस्कार	चमत्कार
४१७	५	गन्धमाल्याद्येः	गन्धमाल्याद्यैः
४१७	१३	इतमा	इतना
४२५	५	दृष्टयूर्वा	दृष्टपूर्वा
४२६	६	करे जानेवाले	कहे जानेवाले
४२७	२	उद्वतों	उद्धतों
४२८	१	चुम्बितुमिच्छति	चुम्बितुमिच्छति
४३७	८	लप्धुम्	लब्धुम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३८	८	याणों	बाणों
४४१	३	वस्कु	वस्तु
४४१	१६	भाति	भासि
४४३	५	आपड्गतः	आपद्गतः
४४४	२	गुणवागर्पि	गुणवानपि
४४५	२	वोणदण्ढ	वीणादण्ड
४४६	७	मैरभ्ये	मैरभ्रे
४४७	१२	अल्लङ्कार	अलङ्कार
४४८	३	जानते हैं।	जानता है।
४५०	७	धर्म्मन्तरारूढ	धर्म्यन्तरारूढ
४५०	११	अक्षित	आक्षिप्त
४५२	१	अनुपात	अनुपात्त
४५२	३	प्रतिवस्तूपमा से	प्रतिवस्तूपमा में
४५२	१	स्थिति	स्थिते
४५८	१८	वह	यह
४६१,४६६	१५	विदशर्नाओं	निदर्शनाओं
४७४	५	क्रियाओं से	क्रियाओं में
४७७,४७८	३-१२,४	अर्थातू	अर्थात्
४७७	४	कान्ति को	कान्तिभेद को
४७७	१७	और	अतः
४७८,४७६	१,१	(१)	(१-२-३-४)
४८१	३	डचू	डच्
४८५	५	वरसने	बरसाने
४८६	१८	श्लाग्यैः	श्लाघ्यैः
४८६	१६	शिलोमुखाः	शिलीमुखाः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६२	२१	कुचिदुपमेवो	क्वचिदुपमेयो
४६५	३	सो अनुपपत्तितो है नहीं ।	सो वह अनुपपत्ति तो यहाँ है नहीं ।
४६७	१६	पिता	महेश्वर
५००	४	'यह'	'सह'
५०४	१६	पुत्रेस	पुत्रेण
५११	५	अनुभव करती	अनुभव करती है